○ ग्रन्थ : **आराधनासार:**

○ ग्रन्थकार : श्रीमद् देवसेनाचार्य

○ संस्कृत टीकाकार : पडिताचार्य रत्नकीर्तिदेव

○ हिन्दी भाषानुवादिका . गणिनी आर्यिका १०५ श्री सुपार्श्वमती माताजी

○ प्रबन्ध सम्पादक बा ब्र (डॉ ) प्रमिला जैन, सघस्था

○ सम्पादक · डॉ चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर

○ प्रकाशक एव प्राप्तिस्थान
(१) श्री दि जैन मध्यलोक शोध सस्थान, सम्मेदशिखर शिखरजी (गिरीडीह-झारखण्ड)
(२) श्री १००८ शान्तिनाथ दिगम्बर जैन चैत्यालय
द्वारा - हीरालाल भागचन्द,
नजदीक पुराना पोस्ट ऑफिस
हनुमानगढ टाउन, (राज )
पिन ३३५५१३

○ प्रकाशन-सहयोगी श्री हीरालाल जिनेन्द्रकुमार भागचन्द बडजात्या
नागौर निवासी, प्रवासी-हनुमानगढ टाउन (राज )
फोन ०१५५२-२२२४१७, २२२९२७

○ संस्करण प्रथम, १००० प्रतियॉ

○ प्रकाशन तिथि · दिसम्बर, २००२

○ संकल्पना निधि कम्प्यूटर्स, जोधपुर, फोन २४४०५७८

○ मुद्रक हिन्दुस्तान प्रिन्टिंग हाउस, जोधपुर, फोन २४३३३४५

अनुवादकर्त्री आर्यिकाश्री के दीक्षागुरु



परम पूज्य (स्व ) आचार्यश्री वीरसागर जी महाराज

स्वात्मैकनिष्ठ नृसुरादिपूज्य, षड्जीवकायेषु दयार्द्रचित्त।
श्रीवीरसिन्धु भववार्धिपोत, त सूरिवर्यं प्रणमामि भक्त्या॥

जिनशासनप्रभाविका, सिद्धान्तसरक्षिका, तपोनिधि अध्यात्ममूर्ति

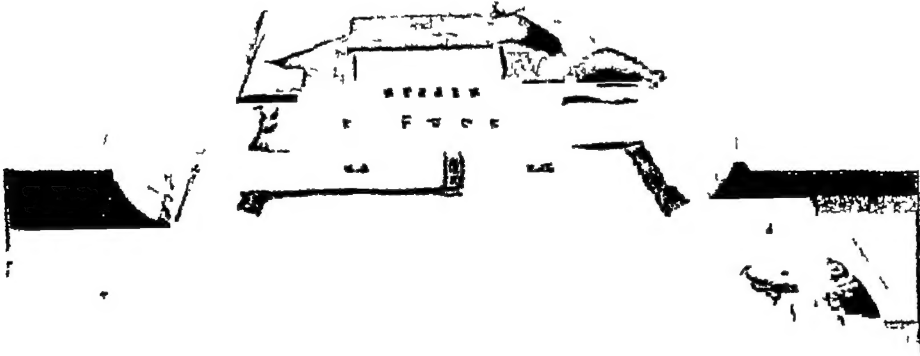


## (स्व ) पूज्य आर्यिकाश्री इन्दुमती माताजी

| जन्म | आर्यिका दीक्षा | समाधि |
|---|---|---|
| वि स १९६२ | वि स २००६ | वि स २०४२ |
| डेह (नागौर) राज | नागौर (राज ) | सम्मेदशिखर (बिहार) |

प्रस्तुत ग्रन्थ की अनुवादिका





## आर्यिकाश्री सुपार्श्वमती माताजी

| जन्म | आर्यिका दीक्षा | गणिनी पद |
| --- | --- | --- |
| वि स १९८५ | वि स २०१४ | वि स २०४३ |
| मैनसर-नागोर (राज ) | खानिया-जयपुर | कानकी (बिहार) |

## प्रकाशन सहयोगी



श्री हीरालाल जी बडजात्या

# पूज्य १०५ गणिनी आर्यिकाश्री सुपार्श्वमती माताजी
## (संक्षिप्त परिचय)

वीणावादिनी की वीणा के तारो का मधुरिम गुजन,
कण्ठ विराजा जिनके ऐसी **मॉ सुपार्श्व** को शत वदन।
सरिता सम प्रवाहित शब्दो का मन को छूता स्पन्दन,
बरबस थामे रहता हर सुनने वाले का चचल मन ।।

परम्पराओ की कडियो का जुडना इतिहास और सस्कृति को जन्म देता है। सस्कृति समाज की आधारशिला बनती है और समाज बनता है मानव-व्यक्तित्व के विकास का स्तभ। इतिहास, सस्कृति और समाज की यह त्रिवेणी कालचक्र द्वारा भी अवरुद्ध नहीं हो पाती है। हॉ! क्षेत्र-काल-परिस्थिति के अनुसार उसकी दिशा-उत्थान-पतन आदि मे परिवर्तन का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है क्योकि परिवर्तन तो सृष्टि का नियम है।

राजस्थान की शूरतापूर्ण माटी से अनेक इतिहास जुड़े है, सस्कृतियॉ जन्मी हैं। उसमे अनेक गौरव-गाथाओ का जन्म हुआ है। मानव मात्र की भलाई के लिए, उनके उत्थान के लिए, उन्हे धर्ममार्ग पर प्रेरित करने के लिए समय-समय पर आदर्श विभूतियो का अवतरण हुआ है।

राजस्थान के ही बीकानेर जिले के ग्राम मेनसर मे श्रेष्ठिवर श्री हरकचदजी चूडीवाल के ऑगन मे उनकी पत्नी श्रीमती अणची देवी की गोद मे एक बालिका का अवतरण हुआ। वह शुभ दिन था- फागुन शुक्ला नवमी, विक्रम सवत् १९८५, शुक्रवार, मृगशिरा नक्षत्र। हर्षोल्लासपूर्ण वातावरण मे बालिका को 'भॅवरी' नाम से अलकृत किया गया। समाज व सस्कृति के बीच सॅवरित वह बालिका बचपन की देहलीज पार करने को अग्रसर हुई। काश! बाल्यावस्था ठहर जाती। परन्तु कर्म-रेख कुछ और दर्शा रही थी। अग्निताप की पराकाष्ठा पार करके ही स्वर्ण कसौटी पर खरा उतरता है। उत्कृष्ट व्यक्तित्व का निर्माण भी कर्म-रेख द्वारा निर्मित इष्टानिष्ट पडावो को पार करके ही सभव है। विपदाओ के बीच ही रचनाकार-साहित्यकार का निर्माण होता है। भॅवरी को भी भवरूपी भॅवर से मुक्ति हेतु अग्निपरीक्षा से गुजरना पडा। **बचपन की देहरी पर वैधव्य का सामना!** उस अबोध बालिका की नियति के साथ यह एक क्रूर अन्याय नहीं तो और क्या था? ऑसुओ की गभीरता से भी अनभिज्ञ को ऑसुओ के सागर मे उतार दिया। भॅवरी तो इसे बडी सहजता से देख रही थी। कभी-कभी आश्चर्यमिश्रित भावो की स्पष्टता परिलक्षित होती थी। समाज के रीति-रिवाजो और सस्कृति ने उसे परिस्थिति का आभास कराया। सुदीर्घ भविष्य के प्रति गभीरतापूर्वक मनन के लिए प्रेरित किया।

**भाग्य ने करवट ली,** पूज्य १०५ आर्यिका इन्दुमतीजी का सान्निध्य मिला। पत्थर को आकार पाने का अवसर मिला। बालिका भॅवरी वैधव्य की कालीघटा को लॉघ कर चल पडी ससार की असारता से साक्षात्कार करने। मुक्तिमार्ग की प्रथम सीढी पर पग रखा। २० वर्ष की वय मे ब्रह्मचारिणी परिधान की परिधि मे सयमित हुई। अनेक तीर्थो की वदना-भ्रमण करते हुए आर्यिका इन्दुमतीजी के अनुशासन-सरक्षण मे पूज्य १०८ आचार्यश्री वीरसागरजी का सान्निध्य मिला। अष्ट मूलगुण धारण कर माघ शुक्ला नवमी कृतिका नक्षत्र मे सातवीं

प्रतिमा के व्रत से सस्कारित हुई भँवरी बाई ने अपने आपको सयम की सीमा मे बाँधने का क्रम जारी रखा। इसी बीच सस्कृत की प्रारभिक शिक्षा, धार्मिक शिक्षा एव शास्त्राभ्यास की कडियाँ भी जुडीं। ब्र राजमलजी (अनन्तर आचार्य अजितसागरजी) से सस्कृत की शिक्षा ग्रहण की और बढ चली अध्ययन की साधना का एक आधारस्तम्भ बनने।

भारतीय सस्कृति, श्रमण सस्कृति, देश के अनेक नगरो, ग्रामो, जन-जीवन, भाषा, क्षेत्र, पर्यावरण आदि का प्रत्यक्ष-परोक्ष अनुभव-परीक्षण करते हुए भँवरी बाई को अपने आपको कसौटी पर कसने का अवसर मिला। मन मे अपूर्व उल्लास था, सयम-साधना के प्रति दृढ विश्वास था और जिनधर्म के प्रति अटूट श्रद्धा थी। इन सबका समागम धारण किये भँवरी बाई ने पूज्य आचार्य वीरसागरजी से सवत् २०१४ भाद्रपद शुक्ला ६, रविवार, स्वातिनक्षत्र, आचार्य वीरसागरजी, आचार्य महावीरकीर्तिजी दो आचार्य, शिव, श्रुत, धर्म, जय, पद्म, सन्मति, विष्णु ७ मुनिराज, वीरमती, सुमतिमती, पार्श्वमती, इन्दुमती, सिद्धमती, शातिमती, वासुमती, ज्ञानमती, धर्ममती – ९ आर्यिकाएँ एव ९ क्षुल्लक-क्षुल्लिकाएँ– ऐसे २७ साधुओ के समक्ष नारीजीवन का सर्वोच्च पद, आर्यिका पद ग्रहण किया और आर्यिका सुपार्श्वमती के नाम से अपने नये जीवन की बागडोर सँभाली।

स्व-पर कल्याण की भावना लिये आर्यिका सुपार्श्वमतीजी को मनवाछित फल की प्राप्ति हुई। वर्षो की साधना, शास्त्रो का अध्ययन, मुनि-आर्यिकाओ की चर्या आदि अनेक विधाओ का ज्वार उनकी प्रवचनधारा के रूप मे प्रस्फुटित होने लगा। उनके उपदेशो से क्या बालक, क्या वृद्ध, क्या अमीर, क्या गरीब सभी के मन मे धर्म के प्रति एक नई आस्था का उद्भव हुआ। जैन समाज में मानो व्रतधारण, सयमित जीवन, जैन सिद्धातो के प्रति अटूट श्रद्धा-विश्वास, गृहस्थो के कर्त्तव्य, श्रावको के कर्त्तव्य, मुनि-आर्यिकाओ के प्रति उनके कर्त्तव्य आदि को समझने, पालने एव अनुकरण करने की मानो होड सी लग गई। जैनधर्म की महती प्रभावना करती हुई, अपनी सम्मोहक शैली मे मानव की अतरग भावना को झकृत करती हुई, वात्सल्य से परिपूर्ण इस प्रसन्नमूर्ति ने पूरे भारत के तीर्थक्षेत्रो की वदना की। चारो ओर अमिट धर्मप्रभावना की छटा बिखेरते हुए आर्यिकाजी के सघ का सस्कारधानी जबलपुर (म प्र ) मे आगमन हुआ। आपके प्रवचनो एव आपकी भावना का सबसे अधिक प्रभाव मुझ पर पडा और मैने आर्यिका जी का सान्निध्य पाने, धर्ममार्ग पर बढने और जीवन के नूतन अनुभव को प्राप्त करने का सकल्प किया। परिवार से विमुख होकर माताजी का दामन पकड लिया और उनकी छत्रछाया मे रहने हेतु निवेदन किया। पूज्य माताजी नें अपनी अनुभवी दृष्टि से मुझे परखा और पूर्ण वात्सल्य भाव से मुझे सघ में स्थान दिया। आर्यिका इन्दुमतीजी एव आर्यिका सुपार्श्वमतीजी के साथ सघस्थ सभी आर्यिकाओ का मुझे आशीर्वाद मिला। सघ का प्रस्थान पावन भूमि सम्मेदशिखर की ओर हुआ और वहाँ पहुँचकर सघ ने मानो एक छोटा विराम लिया।

तीर्थराज पर श्रावको की भावनाओ को समझते हुए आर्यिकासघ द्वारा भारत के पूर्वांचल के भ्रमण का एक अभूतपूर्व साहसिक निर्णय लिया गया और आर्यिका सुपार्श्वमतीजी ने अपनी सम्मोहक शैली से सारे पूर्वांचल मे मानो एक नई ऊर्जा का सचार किया। साधु-साध्वियो के विहार से अछूते रह गए इस अचल मे इस आर्यिकासघ को प्रथम प्रवेश का श्रेय प्राप्त हुआ। आसाम, नागालैण्ड, वगाल आदि राज्यो के दुर्गम स्थलो तक आर्यिका इन्दुमतीजी के नेतृत्व मे आर्यिका सुपार्श्वमतीजी ने धर्मध्वजा फहराई। 'रमता जोगी वहता पानी' सूक्ति को चरितार्थ करते हुए यह सघ पुन तीर्थराज पर आ विराजा।

**कर्म-रेख मे परिवर्तन** ! गुरुमाता आर्यिका इन्दुमतीजी के महाप्रयाण का समय आ गया। उनकी यम सल्लेखना, उनकी वैय्यावृत्ति आर्यिका सुपार्श्वमतीजी द्वारा जिस लगन और श्रद्धा-भक्तिपूर्वक की गई उसकी मिसाल शायद आज के युग मे सभव नहीं है। गुरु का वियोग क्षण भर के लिए तो असह्य हुआ परन्तु 'ससार का यही नियम है,' इस सत्य ने उन्हे ढाढस बँधाया और आर्यिका सुपार्श्वमतीजी ने आर्यिकाप्रमुख का भार ग्रहण करते हुए धर्मप्रचार अभियान जारी रखा। एक बार पुन पूर्वाचल की यात्रा। अनेक स्थानो पर वर्षायोग सम्पन्न करते हुए आर्यिका सुपार्श्वमतीजी ने बुदेलखड की ओर कदम बढाए। दुर्गम रास्तो को पार करते हुए, आर्यिकाश्री ने मेरे गृहनगर-जबलपुर मे प्रवेश किया। मेरी मॉ मानो उनकी प्रतीक्षा मे ही थी। आर्यिका सुपार्श्वमतीजी के सान्निध्य मे मॉ ने आर्यिका दीक्षा लेकर आर्यिका निश्चलमती नाम से अलकृत हो समाधिपूर्वक देहविसर्जन किया। 'भक्त के यहाँ भगवान' की उक्ति चरितार्थ हुई।

बुदेलखड के तीर्थो की वदना के बाद आर्यिका सुपार्श्वमतीजी ने अतिशयक्षेत्र श्रीमहावीरजी मे सवत् २०५५ मे वर्षायोग किया जहाँ अनेक धार्मिक आयोजनो के बीच महती धर्मप्रभावना हुई। आचार्य वर्धमानसागरजी का ससघ सान्निध्य प्राप्त हुआ। वर्षायोग समाप्त होते ही आर्यिकाश्री ने विहार किया और सघ ने अतिशयक्षेत्र श्री चादखेडी जी मे प्रवेश किया। विधि की विडबना ! इसी क्षेत्र मे सघस्थ आर्यिका भक्तिमतीजी का स्वास्थ्य डगमगाया और रास्ते मे विहार करते हुए उनका समाधिपूर्वक महाप्रयाण हुआ। आर्यिकाश्री सुपार्श्वमती माताजी ने समता भाव रखते हुए राजस्थान की माटी को पवित्र करते हुए आगे गमन किया।

शताधिक मदिरो की नगरी, गुलाबीनगरी, ऐतिहासिक धरोहरो की नगरी जयपुर मे पूज्य आर्यिकाश्री का मगल प्रवेश हुआ। यह प्रवेश भी इतिहास मे एक कडी बन गया क्योकि यहीं आर्यिकासघ को परम पूज्य आचार्य वर्धमानसागर जी के सघ का सान्निध्य मिला। ४२ वर्षों का अतराल, आचार्यश्री एव आर्यिकाश्री के दीक्षाकाल का स्वर्णिम काल, ज्ञानपिपासा की उत्कृष्ट अभिलाषा को सँवारने मानो प्रतीक्षारत था।

ज्ञानसुधा प्रवाहित होने लगी। शकाओ का समाधान, गूढ विषयो के उलझे रहस्यो का सुलझा अर्थ सामने आया। ज्ञानपिपासु मुनियो, आर्यिकाओ को आचार्यश्री एव आर्यिकाश्री के ज्ञानकोष का अनमोल खजाना प्राप्त हुआ-

**सरस्वती के भडार की, बडी अपूरब बात।**
**ज्यो खरचे त्यो-त्यो बढे, बिन खरचे घट जात॥**

गुरुओ के लिए तो यह जाँची-परखी बात थी। उन्होने अपना ज्ञान रूपी खजाना रुचिपूर्वक लुटाया और सान्निध्य मे रहे साधुओ, आर्यिकाओ, श्रावको ने भी यह खजाना जी-भरकर लूटा। जयपुर नगरी का चातुर्मास ज्ञानवर्षा से परिपूर्ण रहा।

ऐतिहासिक नगरी के ऐतिहासिक वर्षायोग मे आर्यिकाश्री के सघस्थ बालब्रह्मचारी कैलाशचन्दजी द्वारा ऐलक दीक्षा लेकर मानव-जीवन की सार्थकता प्रकट की गई। आर्यिका सुपार्श्वमतीजी के चरणसान्निध्य मे चारित्ररूपी रथ पर आरूढ होकर ब्र कैलाशचन्द जी आचार्य वर्धमानसागर जी के मार्गदर्शन मे उनके कर-कमलो द्वारा मोक्षमार्ग की ओर बढे। नाम पाया ऐलक नमितसागर।

इस तरह गुलाबीनगरी मे, वास्तव मे, गुलाब की गन्ध बिखेरी आर्यिका सुपार्श्वमतीजी ने अपने

करुणामयी स्वभाव से, अपने वात्सल्य से, अपनी कठोर साधना से, अपने दृढ चारित्र से और अपनी मोहक शैली के प्रवचनो से।

काल की गति रुकती नहीं। आर्यिकाश्री ने वर्षायोग पूर्ण कर कूच किया मारवाड की धरती की ओर। दुर्गम रास्तो, दुरूह मौसमी तेवरो का सामना करते हुए मारवाड प्रात के अनेक ग्रामो-नगरो मे धर्मसुधा प्रवाहित करते हुए आर्यिकासघ का अविस्मरणीय मगल प्रवेश नागौर नगरी मे हुआ। यह वही नागौर है जहाँ ६० वर्ष पूर्व आर्यिकाश्री ने सेठ छोगमलजी बडजात्या की बहू के रूप मे प्रवेश किया था। आज नारीजीवन के सर्वोच्च पद गणिनी आर्यिकाश्री के रूप मे माताजी का आगमन नागौर-वासियो के लिए महान् पुण्य का उदय है। साठ वर्षो के अतराल ने पत्थर को आकार दिया, कोयले को हीरा बनाया और अनपढ अबोध बालिका को जनमानस मे पूज्य परम विदुषी गणिनी आर्यिकाश्रेष्ठ पद पर आसीन किया। एक समय था जब ससार को बढाने की खुशी मे समाज का योगदान था और एक समय आज का है जब जनमानस ससार से मुक्त होने की दिशा मे अग्रसर आर्यिकाश्री के धर्मानुबध मे सहयोगी बनने को आतुर है। यही तो सच्चे सुख को पाने की राह है।

वधू के रूप मे अपनाने वाली नागौर नगरी का उपकार करने हेतु ही मानो आर्यिकाश्री का पावन वर्षायोग यहॉ हुआ। अनन्तर आपने विशेष प्रभावना पूर्वक विहार करते हुए सीकर मे वर्षायोग किया। धरियावद (उदयपुर) मे पूज्य आर्यिका विशुद्धमती माताजी की सल्लेखना-समाधि मे सहयोगी बनने हेतु आपने वर्षायोग के तुरन्त बाद विहार किया और एक माह से भी कम समय मे आप धरियावद पहुँची। २२ जनवरी २००२ की सुबह अतिशान्त परिणामो सहित आर्यिका विशुद्धमतीजी की पवित्र आत्मा ने आचार्य वर्धमानसागर महाराज के सघ व पूज्य सुपार्श्वमती माताजी के सान्निध्य मे स्वर्ग की ओर प्रयाण किया।

यहॉ से विहार कर पूज्य आर्यिका सुपार्श्वमती माताजी ने सिद्धक्षेत्र गिरनार की यात्रा की। वहॉ से लौट कर यह वर्षायोग उदयपुर मे स्थापित किया जहॉ पूज्य आर्यिका मनोज्ञमती माताजी की समाधि शान्त परिणामो सहित ७ नवम्बर २००२ को विशेष प्रभावना सहित सम्पन्न हुई।

आग मे तपने पर ही कचन का खरापन निखरता है, त्याग-तपस्या की अग्नि से निकलकर ही आर्यिकाश्री के ज्ञान का भडार समृद्ध हुआ। आपने लेखनी का अवलम्बन लेकर ज्ञान के अनेक सोपानो को पुस्तकाकार दिया है। मानवजीवन के लिए इससे बढकर उपकार क्या होगा! आज भी आर्यिकाश्री की लेखनी और वक्तव्य शैली अपनी अलग छाप रखती है। आर्यिकाश्री की पवित्र लेखनी के कुछ प्रसून है–

तत्त्वार्थ राजवार्तिक–भाग १ एव २, तत्त्वार्थवृत्ति, अष्टपाहुड, आचारसार, नीतिसारसमुच्चय, स्तुतिविद्या, मेरा चिन्तवन, पाण्डवपुराण, नेमिनाथपुराण, वरागचरित्र, नारी का चातुर्य, दशलक्षण धर्म, प्रतिक्रमण पजिका, नैतिक शिक्षाप्रद कहानियॉ – भाग १ से भाग ७, इत्यादि एव जैनदर्शन के सबसे क्लिष्ट एव न्यायपूरित ग्रथराज **तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिकालकार** का प्रथम खण्ड अभी प्रकाशित हुआ है। शेष खण्ड भी क्रमश प्रकाशित होगे। अन्य प्रकाश्यमान टीका-कृतियॉ है– आराधनासमुच्चय (रविचन्द्र मुनीन्द्र), रत्नकरण्डश्रावकाचार।

ऐसी विलक्षण प्रतिभा को कोटि-कोटि वदन, कोटि-कोटि नमन।

– ब्र (डॉ ) प्रमिला जैन, सघस्थ

# 卐 प्रकाशन-सहयोगी श्रीमान् हीरालालजी बड़जात्या 卐

नागौर निवासी हनुमानगढ (राजस्थान) प्रवासी श्रीमान् हीरालाल जी बडजात्या पिताश्री धनसुखजी बडजात्या और माता सोनीदेवी के इकलौते पुत्र है। आपमे अपने माता-पिता के ही सस्कार प्रकट हुए है। आपके माता-पिता शान्त-स्वभावी, सरल परिणामी और धर्मनिष्ठा से सम्पन्न थे। युवावस्था से ही आपके शुद्ध खानपान का नियम था।

श्री हीरालालजी का जन्म मगसिर बदी चतुर्थी वि स १९९९ को हुआ। धर्मनिष्ठा आपको घूटी मे ही प्राप्त हुई। अत· आप भी शुद्ध सात्विक आचार-विचार के सरलमना व्यक्तित्व के धनी है। श्रावक के षट् आवश्यको का यथाशक्ति पालन करते हुए देवशास्त्रगुरु मे अमित भक्ति रखते है। पूज्य आर्यिका १०५ सुपार्श्वमती माताजी के प्रति आपकी अगाध निष्ठा और दृढ श्रद्धा है। परमपूज्य आर्यिका १०५ श्री इन्दुमती माताजी और सुपार्श्वमती माताजी के आशीर्वाद एव अनुग्रह का ही यह सुपरिणाम है कि विगत २४ वर्षो से आपके यहाँ गृह चैत्यालय की सुव्यवस्था बनी हुई है। आप दोनो के ही सान्निध्य मे १९८४ मे आपने सम्मेदशिखर जी सिद्धक्षेत्र मे इन्द्रध्वज विधान आयोजित करने का सौभाग्य भी प्राप्त किया है।

आपकी धर्मपत्नी श्रीमती किरणदेवी भी पूर्णत आपके विचारो का ही अनुसरण करने वाली है और सद्सस्कार सम्पन्न है। परिवार मे अन्य सदस्य है - जिनेन्द्र-शान्तिदेवी, भागचन्द-काजलदेवी (पुत्र-पुत्रवधू), दीपक, ऋषभ और प्रशान्त (पौत्र), हिमाशु (पौत्री), श्रीमती सरोज-अशोक पाटनी, कलकत्ता और श्रीमती शशि-सुशील गगवाल, दिल्ली (पुत्री-दामाद)। सभी देव, शास्त्र, गुरु मे श्रद्धा रखते है और अपने कर्त्तव्यो का पालन करते है।

व्यापार के निमित्त विगत कई वर्षो से आप सपरिवार हनुमानगढ टाउन मे प्रवास कर रहे है और वहाँ की सामाजिक सस्थाओ से भी जुडे हुए है। 'विद्यार्थी शिक्षा सहयोग समिति' हनुमानगढ के आप सक्रिय सदस्य है।

बहुत दिनो से आपकी अभिलाषा एक आर्षग्रन्थ प्रकाशित करने की थी। प्रस्तुत ग्रन्थ **'आराधनासार'** के प्रकाशन का प्रस्ताव जब मैने आपके सामने रखा तो पूज्य माताजी के प्रति आपकी अनन्य भक्ति दुगुने उत्साह से प्रकट हुई और आपने इसे प्रकाशित करना सहर्ष स्वीकार किया।

ऐसे धर्मनिष्ठ व्यक्तित्व के धनी श्रीमान् हीरालालजी बडजात्या एव परिवार को इस उदार सहयोग के लिए हार्दिक धन्यवाद अर्पित करता हूँ और कामना करता हूँ कि सदाचार और सद्विचार के प्रति आपकी ऐसी निष्ठा सदैव बनी रहे।

- चेतनप्रकाश पाटनी

# 卐 सम्पादकीय 卐

आचार्य देवसेन द्वारा विरचित **आराधनासार** प्राकृत गाथाबद्ध एक आध्यात्मिक ग्रन्थ है। इसमे कुल ११५ गाथाएँ है जिनमे चतुर्विध आराधना – दर्शनाराधना, ज्ञानाराधना, चारित्राराधना और तपाराधना का सार वर्णित हे। यह आराधनासार व्यवहार और परमार्थ रूप से दो प्रकार का है -

**आराहणाइसारो तव दसणणाणचरणसमवाओ।**
**सो दुब्भेओ उत्तो ववहारो चेव परमट्ठो ॥२॥**

आचार्य देवसेन ने नयापेक्षा चतुर्विध आराधनाओ का वर्णन करने के बाद विस्तार से आराधक-समाधि (सल्लेखना) साधक का वर्णन किया है।

**जैनेन्द्र सिद्धान्त कोशकार** ने कोश के प्रथम भाग मे 'आराधनासार' के परिचय मे आचार्य देवसेन का समय ईस्वी सन् ८९३-९४३ दर्शाया है। (पृष्ठ २८५)

**तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा - भाग द्वितीय मे डॉ नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य** ने विस्तृत ऊहापोह के बाद आचार्य देवसेन की सरस्वती-आराधना का काल वि स ९९० (ई सन् ९३३) से वि स १०१२ (ई सन् ९५५) स्थिर किया है। (पृष्ठ ३६९)

आचार्य देवसेन के कालनिर्णय हेतु अभी विशेष खोज अपेक्षित है।

**आराधनासार** पर पण्डिताचार्य रत्नकीर्तिदेव द्वारा विरचित सरल सस्कृत टीका और पण्डित आशाधरजी विरचित सस्कृत टिप्पण उपलब्ध है। ये टिप्पण बहुत ही सक्षिप्त हैं और श्री विनयचन्द्र के लिए लिखे गये हैं। इसका अन्तिम पुष्पिका वाक्य है-

**श्रीविनयचन्द्रार्थमित्याशाधर-विरचिताराधनासारविवृत्ति. समाप्ता।**

टिप्पण के प्रारम्भ मे पण्डितप्रवर का मगलाचरण इस प्रकार है-

**प्रणम्य परमात्मानं स्वशक्त्याशाधर स्फुटम्।**
**आराधनासारगूढ - पदार्थान्कथयाम्यहम्॥**

प्रस्तुतग्रन्थ सर्वप्रथम प रत्नकीर्तिदेव की सस्कृत टीका सहित **माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई** से प्रकाशित हुआ था। उसके बाद **प गजाधरलालजी** के हिन्दी अनुवाद के साथ **जैन**

**सिद्धान्त प्रकाशिनी सस्था कलकत्ता** और **श्रीमहावीरजी** से इसके सस्करण छपे थे। अनन्तर सन् १९७१ मे आचार्य शिवसागरजी म और आचार्यकल्प श्रुतसागरजी महाराज की प्रेरणा से **पं पन्नालालजी जैन साहित्याचार्य, सागर** ने पूर्व प्रकाशित प्रतियो व भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना से प्राप्त प्रतियो के आधार पर इसे सम्पादित कर सस्कृत टीका के हिन्दी अनुवाद सहित व परिशिष्ट मे प आशाधरजी कृत सस्कृत टिप्पण सहित **श्री शान्तिवीर दि जैन संस्थान, श्री शान्तिवीरनगर, श्रीमहावीरजी** से प्रकाशित कराया था।

अब ये सभी प्रकाशित ग्रन्थ अनुपलब्ध है। ग्रन्थ नवीन प्रकाशित होकर उपलब्ध हो सके अत पूज्य **गणिनी आर्यिका १०५ श्री सुपार्श्वमती माताजी** ने इसकी नवीन हिन्दी टीका की है। प्रकृत सस्करण मे प्रत्येक पृष्ठ के अर्ध भाग मे मूल प्राकृत गाथा, उसकी सस्कृत छाया व सस्कृत टीका मुद्रित है फिर उसी पृष्ठ के शेष अर्धभाग मे ऊर्ध्व प्रकाशित प्राकृत-सस्कृत अश का हिन्दी अनुवाद है। सस्कृत टीका खण्डान्वय पद्धति से लिखी गई है। उसका शब्दश अनुवाद हिन्दी भाषा की प्रकृति के अनुकूल नहीं होता अत उसके आश्रय से हिन्दी टीका लिखी गई है।

सस्कृत टीकाकार **पं रत्नकीर्तिदेव** बहुज्ञ है, उन्होने प्राकृत-सस्कृत ग्रन्थो के अनेक उद्धरण दिये है, उन सबका अर्थ हिन्दी टीका मे दिया गया है। यथासम्भव उद्धरणो के स्रोतो का उल्लेख भी किया गया है। आचार्य पूज्यपाद के सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ से टीकाकार ने कितना ही विषय लिया है। पूज्य माताजी ने आवश्यकतानुसार सम्पूर्ण विषय को स्पष्ट किया है और कथाओ को भी विस्तृत रूप दिया है। प्रारम्भ मे पूज्य माताजी ने चतुर्विध आराधना के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए भक्तप्रत्याख्यान सल्लेखना-समाधिमरण का विस्तृत वर्णन 'भगवती आराधना' के अधिकारो के अनुसार किया है। ब्र डॉ प्रमिला बहिन ने ग्रन्थकार देवसेन, सस्कृत टीकाकार प रत्नकीर्तिदेव और प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रतिपाद्य पर विस्तृत प्रकाश डाला है। पूज्य माताजी का सक्षिप्त परिचय भी उन्ही की कलम से है। ग्रन्थ के अन्त मे मूल गाथा सूची व सस्कृत टीका मे उद्धृत गाथा व श्लोक सूची दी गई है।

पूज्य माताजी के वैदुष्य एव परिश्रम की जितनी सराहना की जाए वह कम है।आयु के ७० से भी अधिक वसन्त पार कर लेने पर भी आप मे कार्यनिष्पादन की अद्भुत क्षमता है। आपकी लेखनी सतत गतिशील रहती है। अभी-अभी आपने सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ का हिन्दी भाषान्तर पूर्ण किया है, इससे पूर्व मुनीन्द्र रविचन्द्र विरचित सस्कृत ग्रन्थ 'आराधनासमुच्चय' की विस्तृत हिन्दी टीका लिखी है। दोनो कृतियाँ सम्पादन-प्रकाशन की प्रक्रिया मे हैं। अब आप रत्नकरण्डक श्रावकाचार की हिन्दी व्याख्या लिखने मे सलग्न है।

**आराधनासार** के प्रस्तुत सस्करण के सयोजन-सम्पादन का भार मुझ अल्पज्ञ पर डालकर पूज्य आर्यिकाश्री ने मुझ पर जो अनुग्रह किया है एतदर्थ मै आपका कृतज्ञ हूँ। मै पूज्य माताजी के श्रीचरणो मे सविनय वन्दामि निवेदन करता हूँ।

सघस्था **डॉ प्रमिला बहिन** के प्रति भी उनके अनन्य सहयोग के लिए आभार व्यक्त करता हूँ। ग्रन्थ के प्रकाशन मे अर्थ सहयोग प्रदान करने वाले **श्री हीरालालजी, जिनेन्द्रकुमारजी, भागचन्दजी बडजात्या नागौर निवासी, प्रवासी हनुमानगढ टाउन** (राज ) को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

कम्प्यूटर कार्य के लिए निधि कम्प्यूटर्स के **श्री क्षेमंकर पाटनी** व उनके सहयोगियो को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। त्वरित मुद्रण के लिए हिन्दुस्तान प्रिटिग हाउस, जोधपुर को साधुवाद देता हूँ।

मेरे प्रमाद व अज्ञान से भूले रह जाना स्वाभाविक है। पाठको से सविनय अनुरोध है कि वे क्षमा प्रदान करते हुए सौहार्दभाव से मुझे उन भूलो से अवगत कराने की अनुकम्पा करे।

दीपमालिका
४ नवम्बर, २००२

विनीत
चेतनप्रकाश पाटनी

卐 卐 卐

# 卐 चतुर्विध आराधना 卐

अनादि काल से यह ससारी प्राणी मिथ्यादर्शन और कषाय के वशीभूत हो विषय-वासनाओ मे फॅसकर शारीरिक, मानसिक आदि अनेक दु ख भोग रहा है। अनन्त काल तो इस जीव ने एकेन्द्रिय पर्याय धारण कर निगोद मे व्यतीत किया, जहॉ पर एक श्वास मे अठारह बार जन्म-मरण किया। ४८ मिनट मे से कुछ कम काल मे छ्यासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार जन्मा और इतनी ही बार मरण किया। यदि किसी कारणवश कर्मो का कुछ लघु विपाक हुआ तो निगोद से निकल कर दो, तीन, चार इन्द्रिय, असैनी पचेन्द्रिय पद प्राप्त किया तो भी ज्ञान के बिना (मन के बिना) हित और अहित, हेय और उपादेय के विचार से शून्य होने से आत्महित के विचारविमर्श की सभावना से रहित रहा। किसी पुण्य के उदय से सैनी पचेन्द्रिय भी हुआ तो भी मिथ्यादर्शन और विषय वासना के वश मे होकर आत्मतत्त्व के जानने की जिज्ञासा ही उत्पन्न नहीं हुई।

सासारिक भोगो की वाञ्छा से मुनिव्रत धारण कर, घोर उपसर्गो को सहन कर ग्रैवेयको मे गया। स्वर्गीय सुखो का अनुभव भी किया, परन्तु आत्मतत्त्व को नहीं पहचाना, शुद्धात्मा का भान, ज्ञान नहीं हुआ अत पुन वहॉ से च्युत होकर अनेक मानव-तिर्यञ्च योनियो मे भ्रमण कर त्रस पर्यायका काल पूर्ण हो जाने से पुन निगोद मे चला गया। इस प्रकार इस जीव ने इस ससार मे भ्रमण कर अनन्त दु खो को सहन किया है।

इस ससार मे परिभ्रमण करने वाले अनन्त जीव तो रत्नत्रय रूपी महा-औषधि सेवनकर अजर अमर रूप परम पद को प्राप्त कर सुखी हो गये। परन्तु द्रव्यार्थिक नय से ज्ञायक स्वभावी होते हुए भी अनन्तानन्त जीव अपने स्वभाव की श्रद्धा के अभाव मे ससार रूपी चक्की के जन्म-मरण रूपी दो पाटो के बीच अनादि काल से पिसते चले आ रहे है। शारीरिक, मानसिक दु खो के पात्र बने हुए है। उन दु खो के नाश करने का एक ही उपाय है कि जिन्होने मोक्षमार्ग को स्वीकार कर स्वय परम पद प्राप्त किया है और अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा हमे जो मोक्षमार्ग बताया है हम उस पर चलने का प्रयत्न करे। उस मार्ग को स्वीकार करे। अन्यथा हम स्वात्मोपलब्धि रूप स्वकीय शुद्ध अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकेगे। क्योकि केवल शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त कर लेने मात्र से वा "मै ज्ञायक स्वभावी सिद्ध समान त्रिकाल शुद्ध आत्मा हूँ, मेरा स्वरूप सिद्ध के समान है, अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य का धनी हूँ" इस प्रकार के उद्‌गारो से हम सिद्ध वा शुद्ध अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकते। उस शुद्ध अवस्था को प्राप्त करने के लिए हमे करना पडेगा- पुरुषार्थ, प्रयत्न। वह पुरुषार्थ है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की आराधना कर के ससारी भव्यात्मा कर्म-कालिमा

से रहित होकर शुद्ध बनता है। यद्यपि आराधना चार है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक्तप, परन्तु तप आराधना सम्यक्चारित्र मे गर्भित है। अथवा तप के द्वारा चारित्र मे निर्मलता आती है, चारित्र वृद्धिगत होता है अत तप आराधना का पृथक् कथन किया है।

इन चार प्रकार की आराधना का सार है- शुद्धात्म तत्त्व की प्राप्ति। उसको प्राप्त करने के उपाय रूप आराधनाओ का कथन **देवसेन आचार्य** ने **आराधनासार** मे किया है।

यह ससारी प्राणी तीव्र विषयवासना की तृष्णा से सतप्त होकर दु खी हो रहा है। उन तृष्णाओं के सताप को दूर करने के लिए ये चार आराधना ही समर्थ है।

शुद्धात्मतत्त्व की रुचि के प्रतिबन्धक दर्शनमोहनीय कर्म का विनाश सम्यग्दर्शन की आराधना से होता है और शुद्धात्मानुभूति लक्षण वीतराग चारित्र के प्रतिबन्धक राग-द्वेष रूप चारित्रमोह की नाशक चारित्र आराधना है। ये दो [१]आराधनाएँ ही आत्मविशुद्धि की कारण है। परन्तु ज्ञान एव तत्त्व, अतत्त्व की पहिचान के बिना भी सम्यग्दर्शन और चारित्र की आराधना नही हो सकती। अत ज्ञान आराधना भी आवश्यक है। तप से कर्मो की निर्जरा होती है, चारित्र मे वृद्धि होती है इसलिए तप आराधना का कथन किया गया है।

व्यवहार और परमार्थ के भेद से आराधना दो प्रकार की है। अभेद रूप कथन निश्चय नय कहलाता है और भेदरूप कथन को व्यवहार कहते है।

व्यवहार नय से दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपरूप चार प्रकार की आराधना कही है, परन्तु निश्चय नय से ससार, शरीर और भोगो से विरक्त होकर शुद्धात्म स्वरूप मे लीन होना ही आराधना है।

आराधना, आराध्य, आराधक और आराधना का फल इनको जानकर ही मानव आराधना के सारभूत निश्चय शुद्धात्मा को जान सकता है। अत इनको जानना बहुत आवश्यक है। **देवसेन आचार्य** ने **आराधनासार** नामक इस ग्रन्थ मे इन चारो का विस्तारपूर्वक कथन किया है।

**आराधना** - मन वचन काय से साध्य की सिद्धि का प्रयत्न करना आराधना है। राध्, साध्, धातु सिद्धि अर्थ मे है अत जिसमे व जिसके द्वारा आत्मा की सिद्धि की जाती है, आराधना की जाती है उसे आराधना कहते है और आत्मा की सिद्धि अर्थात् स्वात्मोपलब्धि की प्राप्ति सम्यग्दर्शनादि चार आराधना से होती है, अत इनको आराधना कहते है।

**आराध्य** - निश्चय नय से इन आराधनाओ के द्वारा हमारी आत्मा ही आराध्य है, इसकी शुद्ध पर्याय साध्य है। निज आत्मा का अवलोकन (श्रद्धान), निज शुद्धात्मा का ज्ञान, स्वरूप मे आचरण

---

१ दमणणाणचरित्त तवाणमागहणा भणिया ॥२॥ दुविहा पुण जिणवयणे भणिया आराहणा समासेण। सम्मत्तम्मि य पढमा विदिया य हवे चरित्तम्मि॥३॥ भ आ मू

(चारित्र), स्वमे तपन (तप) रूप निश्चय आराधना द्वारा स्व आत्मा आराध्य है। व्यवहार नय से व्यवहार आराधना के द्वारा परमात्मा पद आराध्य है, आराधना करने योग्य है।

आत्मा के उद्योतन वा उसे विशुद्ध करने का उपाय वा कारण होने से सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपरूप निर्मल परिणाम ही आराध्य (आराधना करने योग्य) हैं। अथवा - **उद्योतन** -सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप का उद्योतन करना, निर्मल करना, उनमे अतिचार-अनाचार नहीं होने देना। **उद्वहन** - सम्यग्दर्शनादि चारो आराधना रूप परिणति करना, उनमे तन्मय होना, लीन होना। **निर्वहन** - इनको दृढतापूर्वक धारण करना। **साधन** - किसी कारणवश इन आराधनाओ के विचारो मे मन्दता आ जाने पर वस्तु स्वभाव का विचार कर पुन पुन उनको जागृत करना, परिणामो की निर्मलता की वृद्धि करना। **निस्तरणं** - सम्यग्दर्शनादि को आमरण पालन करना, निर्दोष रूप व्रतो का पालन करते हुए प्राणो का विसर्जन करना ये सब व्यवहार नय से आराध्य हैं।

**आराधना का फल** - निज शुद्धात्मा की प्राप्ति वा व्यवहार नय से अरिहत सिद्ध पद की प्राप्ति ही आराधना का वास्तविक फल है।

**आराधक** - आराधना करने वाला मानव आराधक कहलाता है। आराधना, आराध्य, आराधना का फल ये सब आराधक पर निर्भर है। आराधक ही सर्वोपरि है जैसा आराधक होता है, वैसे ही फल आदि प्राप्त होते हैं। यद्यपि निश्चय नय से आत्मा ही आराधक है, वही आराध्य है, वही आराधना है, वही शुद्धात्मापर्याय रूप परिणत होता है अत वही आराधना का फल है। परन्तु फिर भी व्यवहार नय से ये चार भेद हैं।

आराधक पुरुष को क्षपक कहते है, जो कर्मो का क्षय करने का इच्छुक है, जिसे कर्मक्षय करके शुद्धात्मतत्त्व को प्राप्त करने की इच्छा जागृत हुई है तथा जो कर्मो के क्षय की कारणभूत सम्यग्दर्शनादि चार आराधनाओ की आराधना करने मे तत्पर होता है, वह क्षपक आराधक कहलाता है।

## ❋ सल्लेखना ❋

कर्मो का क्षपण करने के इच्छुक प्राणी क्षपक चार प्रकार की आराधना की आराधना करने के लिए सल्लेखना (समाधि) स्वीकार करते है। वह क्षपक कैसा होना चाहिए वा उसके कौन से गुण वा कौन सी बाह्य सामग्री उपयुक्त है, उसे क्या करना चाहिए आदि, विस्तार से **भगवती आराधना** मे कथन किया है। परन्तु इस छोटी सी **'आराधना सार'** नामक कृति मे **आचार्य देवसेन** ने गागर मे सागर भर दिया है।

प्रायोपगमन मरण, इगिनीमरण और भक्त प्रत्याख्यान के भेद से सल्लेखना-मरण के तीन भेद किये है।

जिस सल्लेखना मे स्व और पर के द्वारा वैयावृत्ति की अपेक्षा नहीं है, वह **प्रायोपगमन मरण**

है। यह इसकाल मे नहीं है। इस मरण वाला जिस स्थान पर खडा होता है या बैठता है वहॉ से उठता नहीं है इसलिये अचल है। परन्तु उपसर्ग आने पर हिलडुल जाता है, अत  चल भी है।

जिसमे अपने शरीर की वैयावृत्ति स्वय करता है, दूसरे से नहीं कराता है, उसे **इंगिनीमरण** कहते है, यह भी इस काल मे नहीं है।

जिसमे अन्न-पानी का त्याग कर समतापूर्वक मरण किया जाता है उसे भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते है। इसके दो भेद हैं सविचार और अविचार।

सहसा मृत्यु के कारण उपस्थित हो जाने पर अथवा जघा बल क्षीण हो जाने पर अपने सघ में ही आहार-पानी का त्याग कर मरण किया जाता है, वह **अविचार भक्त प्रत्याख्यान** है। इसके भी दो भेद है, प्रकाश और अप्रकाश।

क्षपक का मनोबल एव धैर्य देखकर अनुकूल कारण मिलने पर जो सर्व जनता के समक्ष प्रगट कर दिया जाता है वह **प्रकाश सल्लेखना वा समाधिमरण** है। क्षपक का मनोबल उत्कृष्ट नहीं है, बाह्य कारण अनुकूल नहीं है तब समाधि बाह्य मे प्रकट नहीं की जाती है वा अकस्मात् मरण आ जाता है तब त्याग की विधि प्रकट नहीं की जाती है तब **अप्रकाश समाधि** होती है। अन्य जगह अविचार भक्त प्रत्याख्यान का विस्तार से कथन किया है।

सविचार भक्त प्रत्याख्यान मे ४० अधिकार लिखे है। ४० अधिकारो के नाम इस प्रकार है-

**(१) अर्ह** - समाधिमरण वा सल्लेखना ग्रहण करने योग्य क्षपक कैसा होना चाहिए ?

उपसर्ग, दुर्भिक्ष, जरा, निष्प्रतिकार रोग आदि के आने पर सल्लेखना ग्रहण की जाती है। अत इस प्रकार का मानव सल्लेखना ग्रहण करने योग्य है। परन्तु इस मानव में धैर्य कैसा है, श्रद्धा कैसी है, आदि गुण भी 'अर्ह' मे गर्भित होते हैं।

**(२) लिग** - शिक्षा, विनय, आदि रूप साधन सामग्री के चिह्न। अर्थात् शिक्षा आदि ग्रहण करते समय किस प्रकार बाह्य मे उत्साह प्रकट होता है।

**(३) शिक्षा** - ज्ञानोपार्जन (श्रुतज्ञान) करने की भावना निरन्तर रहे।

**(४) विनय** - गुरुजनो व ज्ञानादिक के प्रति आदर भाव, मानसिक प्रसन्नता।

**(५) समाधि** - मन की एकाग्रता ।

**(६) अनियत विहार** - मानसिक ममत्व हटाने के लिए अनियत स्थान मे रहना।

**(७) परिणाम** - सल्लेखना धारण करके अपने कर्त्तव्य (करने योग्य कार्यों मे) परायणता (तत्परता उत्साह) होना।

(८) **उपधित्याग** - बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करना।

(९) **श्रिति** - शुभ परिणामो की उत्तरोत्तर वृद्धि करना। कही पर श्रिति के स्थान पर 'धृति' शब्द का प्रयोग है जिसका अर्थ है- धैर्यशाली होना।

(१०) **भावना** - उत्तरोत्तर उत्तम भावनाओ का अभ्यास। अर्थात् निरन्तर यह भावना करना कि मै अन्त मे समाधिमरण करूँ वा मेरा समाधिमरण हो, णमोकार मत्र का जप करते-करते मेरे प्राणो का विसर्जन हो। यह सल्लेखना ही धर्म को परभव मे साथ ले जाने मे समर्थ है। अन्त मे समाधिमरण होना ही व्रतधारण का फल है। यदि अन्त मे समाधि की विराधना होगी तो मुझे अनन्त काल तक ससार मे भ्रमण करना पडेगा। हे प्रभो ! अन्त मे मेरा समाधिमरण हो, यही भावना करता हूँ। निरन्तर ऐसे विचार करना भावना है।

(११) **संलेखना** - तत्त्वो का चिन्तन करके कषायो को कृश करना, कषायो पर विजय प्राप्त करना और उपवास आदि के द्वारा शरीर को कृश करना सल्लेखना है।

बाह्य, अभ्यन्तर के भेद से सल्लेखना दो प्रकार की है। आत्मा की घातक कषायो को कृश करना अभ्यन्तर सल्लेखना है और बाह्य मे उपवास आदि के द्वारा शरीर को कृश करना बाह्य सल्लेखना है।

यद्यपि वास्तव मे अभ्यन्तर सल्लेखना ही कार्यकारी है तथापि कषायो के कृश करने का सर्वप्रथम कारण है शरीर के ममत्व का त्याग और निर्ममत्व की पहिचान है, उपवास, नीरस आहार आदि के द्वारा शरीर का शोषण करना।

भाव और द्रव्य की अपेक्षा भी सल्लेखना दो प्रकार की है। आत्मीय गुणो का विकास करने के लिए अपने भावो की विशुद्धि करना, वीतराग चारित्र की अविनाभावी निर्विकल्प समाधि मे लीन होकर स्वसवेदनरूप सुखामृत का पान कर सतुष्ट होना **भाव सल्लेखना** है और बाह्य भोजन आदि पदार्थो का त्यागकर शरीर को कृश करना **द्रव्य सल्लेखना** है।

**शंका** - भोजन आदि का त्यागकर शरीर को कृश करना आत्मघात नहीं है क्या ?

**उत्तर** - प्रमाद वा कषाय के वशीभूत होकर अन्नपानादि का त्याग करना आत्मघात है, परन्तु आत्महित वा सयम की रक्षा के लिए अनशनादि कर शरीर को कृश करना आत्मघात नही है।

(१२) **दिशा** - यदि सल्लेखना का इच्छुक आचार्य है तो अपने सघ की रक्षार्थ वा धर्म की मर्यादा का पालन करने के लिए योग्य शिष्य को सर्वसघ की अनुमति से शुभ नक्षत्र, तिथि, करण, लग्न मे शास्त्रोक्त विधि से आचार्य की स्थापना करना दिशा है।

(१३) **क्षमणा** - नवीन स्थापित आचार्य को तथा सारे सघ को बुलाकर सल्लेखना-इच्छुक

आचार्य दोनो हाथो को सिर पर रखकर सघस्थ मुनिराजो को नमस्कार के विनम्र भावो से कहता है कि ''हे साधो! मैंने आपपर अनुशासन करते समय राग, द्वेष, ममत्व और स्नेहके वशीभूत होकर आपको कटु वचन कहे हो, आपका निरादर किया हो तो मन-वचन-काय से आपसे क्षमायाचना करता हूँ। आप सब लोग मुझे क्षमा करे। इस प्रकार क्षमायाचना की विधि को क्षमणा कहते हैं।

**(१४) अनुशिष्टि** - जिन्होने आचार्यपद का त्याग कर दिया है, सबसे क्षमायाचना करली है ऐसा समाधिमरण का इच्छुक साधु अपने शिष्यो को आगमानुसार उपदेश देता है, जिसको आचार्य पद दिया है उसे व्यवहार की विधि का ज्ञान कराना अनुशिष्टि है।

**(१५) परगणचर्या** - परिणामो की निर्मलता, कलह-विषाद-आज्ञाभग से होने वाले सक्लेश परिणाम और सघ के शिष्यो के प्रति होने वाले ममत्व को दूर करने के लिए समाधि करने का इच्छुक साधु परगण मे जाने की इच्छा करता है। यह पर-गणचर्या है।

**(१६) मार्गणा** - समाधिमरण कराने मे समर्थ आचार्य की खोज करना मार्गणा है।

**(१७) सुस्थिति** - परोपकारी आचार्य वा समाधि की साधना कराने योग्य आचार्य का आश्रय लेना।

**(१८) उपसंपदा** - ऐसे योग्य आचार्य के चरणमूल मे जाना।

**(१९) परीक्षा** - समाधि धारण करने का इच्छुक जिस गण मे गया है वह उस आचार्य की क्रिया, व्यवहार, चारित्र आदि की परीक्षा करता है और परगणस्थ आचार्य आगन्तुक क्षपक के रत्नत्रय की क्रिया मे उत्साह, आहार आदि की आसक्ति की परीक्षा करता है। अर्थात् क्षपक और निर्यापक एक दूसरे की परीक्षा करते हैं। अथवा क्षपक की समाधि निर्विघ्न होगी कि नहीं इसको निमित्त के द्वारा जानना भी परीक्षा है।

**(२०) प्रतिलेखन या निरूपण** - जिस स्थान पर समाधिमरण करना है उस क्षेत्र का, वहाँ के राजा का, तत्रस्थ श्रावकों का निरीक्षण करना अथवा निमित्त ज्ञान के द्वारा क्षेत्र, राज्य, देश आदि का शुभाशुभ जानना प्रतिलेखन है।

**(२१) पृच्छा** - समाधि के इच्छुक साधु को स्वीकार करते समय अपने सघ से पूछना, उनकी अनुमति लेना पृच्छा कहलाती है।

**(२२) एकसग्रह** - निर्यापक आचार्य एक समय एक क्षपक को ही ग्रहण करते हैं, दो तीन क्षपक एक साथ ग्रहण नहीं करते क्योकि अधिक क्षपको को एक साथ समाधि देने से उनकी वैयावृत्ति आदि मे व्यवधान होने से क्षपक के परिणामो मे सक्लेश होकर समाधि बिगड सकती है।

**(२३) आलोचना** - रत्नत्रय की शुद्धि का इच्छुक क्षपक निशल्य होकर स्वकीय दोषो को गुरु

के समक्ष कहकर अपने चित्त को निर्मल करता है। तथा क्षपक के दोषो को सुनकर गुरुदेव उसको प्रायश्चित्त देकर शुद्ध करते हैं। यह आलोचना है।

**(२४) गुणदोष** - दोषो की आलोचना करने मे क्या गुण है और आलोचना नही करने से क्या दोष उत्पन्न होते है, आदि का कथन करना गुण-दोष है।

**(२५) शय्या** - समाधिस्थ क्षपक के रहने का स्थान, वसतिका, क्षेत्र आदि कैसे हो इनका कथन करना शय्या है।

**(२६) संस्तर** - शय्या से वसति का कथन है और सस्तर से चटाई आदि का कथन है।

**(२७) निर्यापक** - समाधि मे सहायक जो आचार्य होते है उन निर्यापक आचार्य के सहायक आचार्यों का कथन करना।

**(२८) प्रकाशन** - क्षपक को यह जानने के लिए अन्तिम आहार दिखाना कि इसकी आहार मे आसक्ति है या नहीं ?

**(२९-३०) हानि और प्रत्याख्यान** - क्रम-क्रम से आहार घटाना, उसकी विधि का कथन करना। जैसे यदि १२ वर्ष की समाधि ग्रहण की है तो प्रथम चार वर्ष अनेक प्रकार के कायक्लेशो के द्वारा व्यतीत करना, तदनन्तर दूध, दही, घी, गुड नमक आदि रसो का त्याग कर शरीर को कृश करना। दो वर्ष तक निर्विकृति आचाम्ल भोजन करके आहार की आसक्ति को घटाना। तदनन्तर आचाम्ल भोजन वा उपवास करके एक वर्ष व्यतीत करना। छह महीने तक मध्य तप-एक उपवास, दो उपवास आदि करके आहार ग्रहण करना तथा अन्त मे चार प्रकार के आहार मे से तीन आहार का त्याग करना, अन्त मे सब प्रकार के आहार का त्याग करना हानि और प्रत्याख्यान नामक अधिकार है।

**(३१) क्षमण** - आहारत्याग के बाद सर्व सघ से क्षमा याचना करना तथा परिपूर्ण रत्नत्रय की आराधना के साथ सर्व जीवो के साथ मैत्री भाव, समता और ध्यान मे मग्न होना।

**(३२) क्षपणा** - प्रतिक्रमण आदि के द्वारा कर्मो का क्षय करने का प्रयत्न करना।

**(३३) अनुशिष्टि** - निर्यापकाचार्य क्षपक को सम्बोधन करते है, उपदेश देते है।

**(३४) सारणा** - निर्यापकाचार्य परीषह आदि दु खों से पीडित, मोहग्रस्त क्षपक को बार-बार सम्बोधित करके सचेत करते है।

**(३५) कवच** - जिस प्रकार योद्धा लोगो की रक्षा के लिए कवच होता है वैसे क्षपक की रक्षा का कवच है निर्यापकाचार्य का उपदेश। अत निर्यापकाचार्य वैराग्योत्पादक शब्दो के द्वारा क्षपक को सम्बोधित करते है।

**(३६) समता** - जीवन, मरण, लाभ, अलाभ, सुख, दु ख मे सम भाव रखना।

**(३७) ध्यान** - समाधि मे मुख्य है मन की एकाग्रता, आत्मा का चिन्तन करना।

**(३८) लेश्या** - कषायो से अनुरजित मन, वचन और काय की प्रवृत्ति लेश्या है। समाधिस्थ क्षपक को शुभ लेश्या वाला होना आवश्यक है।

**(३९) फल** - चार आराधना का फल स्वर्ग और मोक्ष है। समाधिमरण कग्ने वाला सात, आठ भव से अधिक ससार मे भ्रमण नहीं कर सकता।

**(४०) शरीरत्याग** - समाधिमरण करने वाले के शरीर का विसर्जन कैसे करना चाहिए, उसके दाह सस्कार की विधि का कथन शरीर-त्याग है। इस प्रकार समाधि के अधिकार मे ४० स्थान कहे हैं परन्तु इन ४० अधिकारो मे देवसेन आचार्य द्वारा कथित अर्ह, सगत्याग, कषाय-सल्लेखना (कषायों की कृशता) परीषहविजयी, उपसर्ग सहन करने वाला, इन्द्रिय भटो को जीतने वाला, मनोविजयी ये सात हेतु सल्लेखना विधि मे मुख्य है। इनके बिना समाधिमरण करना कठिन है।

बाल बाल मरण, बाल मरण, बाल पडित मरण, पडित मरण, पडित पडित मरण के भेद से पॉच प्रकार के मरण हैं। इसमे बाल-बाल मरण मिथ्यादृष्टि के होता है और बाल मरण अव्रती सम्यग्दृष्टि का है, उसका सल्लेखनामरण मे अधिकार नही है। मिथ्यादृष्टि और अव्रती सम्यग्दृष्टि समाधिमरण नहीं कर सकते। क्योकि इनके बाह्य परिग्रहो के ममत्व के त्याग का अभाव है। यदि सम्यग्दृष्टि बाह्य परिग्रह का त्याग करता है तो उसके पॉचवॉ गुणस्थान हो जाता है।

देशसयमी आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक ब्रह्मचारी, व्रती-पुरुष का मरण बालपडितमरण है, उनके एकदेश असयम का अभाव है। इनका भक्तप्रत्याख्यान मरण हो सकता है। पडितपडित मरण १४वे गुण-स्थान मे है। उनका यहॉ कथन नहीं है।

पडितमरण के तीन भेद हैं प्रायोपगमन मरण, इगिनी मरण और भक्तप्रत्याख्यान मरण। इन तीनो प्रकार के मरण मे **देवसेन आचार्यदेव** द्वारा कथित सात अधिकार परम आवश्यक है तथा वही सल्लेखना की साधना के द्वारा स्वसवेदनजनित सुखामृत का रसास्वादन कर सकता है तथा निर्विकल्प समाधि में लीन होकर घातिया कर्मो का क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है और अन्त मे पडितपडितमरण कर मुक्ति रमा का पति बन सकता है। अत 'अर्ह' आदि सात अधिकारो को जानकर इनकी आराधना कर स्वात्मोपलब्धि प्राप्त करनी चाहिए।

**देवसेन आचार्य** ने कहा है-

**ससारसुहविरत्तो वेरग्गं परमउवसम पत्तो।**
**विविहतवत्तवियदेहो मरणे आराहओ एसो ॥१८॥**

ससारसुख से विरक्त, वैराग्य भाव को प्राप्त, परम उपशम भाव युक्त और अनेक प्रकार के तप से जिसने शरीर को सतप्त किया है वही वास्तव मे आराधना (समाधिमरण) का आराधक होता है।

जिनके हृदय मे ससार-सुखो से वास्तविक विरक्ति है वे ही वास्तव मे 'अर्ह' आराधना के योग्य है, क्योकि ससार-सुखो से विरक्ति है तो युवा अवस्था मे भी सन्यास के योग्य है। यदि विरक्ति नही है तो आराधक की सारी योग्यताएँ निष्फल हैं।

जिनका हृदय ससार-सुखो से विरक्त होकर वैराग्य को प्राप्त हुआ है तथा उपशम भाव से युक्त है उसके ही लिग चिह्न, क्षमायाचना, समाधि, अनियत विहार, निर्दोष आलोचना आदि सारे गुण प्रकट होते हे। यदि ससार-सुख-विरक्ति, वैराग्य और उपशम भाव नहीं है तो ४० अधिकारो मे से एक भी अधिकार का पालन नहीं होता। इसलिए सर्वप्रथम ससार-सुख-विरक्ति, वैराग्य और उपशम भाव (कषायो की मन्दता) होना आवश्यक है।

जो मानव इन गुणो से युक्त है, अनेक प्रकार के तपश्चरण के द्वारा अपने शरीर को तपाता है, वही इन्द्रियविजयी, उपसर्ग-विजयी, परीषहजयी और मनोविजयी बन सकता है।

जो ससार-सुखो का इच्छुक है, जिसके अतरग को वैराग्य भाव ने स्पर्श नहीं किया है, वह इन्द्रिय विजयी, कषायविजयी, उपसर्ग-परीषहजयी नहीं हो सकता, बाह्य मे पचेन्द्रिय-विषयो का त्याग करके भी अन्तरग मे विषयवासनाओ की अग्नि से उसका हृदय सन्तप्त रहता है। भूख-प्यास को सहन करके भी वह अन्तरग मे स्वसवेदन रूप सुखामृत का पान कर सुख का अनुभव नहीं कर सकता। बाह्य मे विविध तपश्चरण के द्वारा शरीर को तपाकर के, खपाकर के अन्तरग में आनन्द का अनुभव नही कर सकता। इसलिए सर्वप्रथम ससार-सुखो का विरेचन कर वैराग्य और उपशम भाव को प्राप्त होना जरूरी है।

यद्यपि निश्चय नय से आत्मा का गुरु आत्मा ही है तथापि व्यवहार नय से निर्यापक की आवश्यकता होती हे भक्तप्रत्याख्यान मरण मे। इसलिए ४० अधिकारो मे निर्यापकाचार्य का कथन है और उसकी अन्वेषणा करने के लिए कितने योजनो तक जाने का विधान है।

शास्त्रोक्त गुणो के धारी निर्यापकाचार्य का सान्निध्य पाकर परिणामो की विशुद्धि, स्थिरता आदि अनेक गुण प्रकट होते है।

## ❊ निर्यापकाचार्य के गुण ❊

**आचारवान** - पचाचार का पालन करने वाला हो।

**आधारवान** - बहुश्रुत का पाठी हो।

**व्यवहारवान** - गुरुपरम्परा से आगत प्रायश्चित्त शास्त्रो का ज्ञाता हो।

**प्रकर्त्ता** - सर्व सघ की वैयावृत्ति करने वाला हो।

**आयापायविदर्शी** - रत्नत्रय के धारण करने मे लाभ और मायाचार के दोषों का कथन करके रत्नत्रय मे स्थिर कर शिष्य के मायाचार को दूर करने वाला हो।

**अवपीडक** - स्वकीय मधुर ओजस्वी वचनो के द्वारा क्षपक के दोषो को बाहर निकालकर निशल्य बनाने वाला हो।

**अपरिस्रावी** - क्षपक के द्वारा कथित दोषो को अन्य जनो में प्रकट नहीं करने वाला।

**निर्वापक** - शीत, उष्ण, भूख, प्यास आदि से पीडित होकर क्षुब्ध हुए क्षपक को स्थिर करने के लिए अनेक उपायो का ज्ञाता तथा उस क्षपक को सयमवर्द्धक अनेक कथाओं का कथन करके उसके परिणामो को स्थिर करने वाला हो।

**प्रसिद्ध** - जो साधु और श्रावक गण मे प्रसिद्ध हो।

**कीर्त्तिमान** - जिसके धवल यश से सारा जगत् धवलित हो।

इत्यादि गुणो से युक्त ही निर्यापकाचार्य होता है। इस प्रकार के आचार्य को प्राप्त कर क्षपक मन, वचन, काय से उनके चरणो मे समर्पित हो जाता है।

## ❊ समाधिसाधक - सामग्री का निरीक्षण या परीक्षण ❊

समाधि के इच्छुक क्षपक को मधुर वाणी से सान्त्वना देकर उसकी समाधि निर्विघ्नतया होने के लिए शुभाशुभ निमित्तो के द्वारा जानना और तत्रस्थ राजा-प्रजा कैसी है, इसकी परीक्षा करना भी आवश्यक है तथा सहायक वर्ग उत्साही है कि उदासीन है, उसका ज्ञान करना और क्षपक के परिणामो की परीक्षा करना भी निर्यापक का उत्तरदायित्व है।

दुर्ल्लंघ्य ससार समुद्र से पार होने के लिए क्षमा के समान कोई दूसरी निश्छिद्र नौका नहीं है अत क्षपक को सबसे क्षमा कराते हैं और स्वय सबको क्षमा करते हैं।

सर्व सघ की अनुमति से क्षपक को ग्रहण कर आचार्य क्षपक को उपदेश देते है कि हे क्षपक ! आप धैर्य के अवलम्बन पूर्वक सारी सुख-सुविधा का त्याग कर परीषह सेना को अगीकार करते हुए समाधि धारण करो। पाँचो इन्द्रियो के विषयो पर विजय प्राप्त कर क्रोधादि चारो कषायो का उत्तम क्षमादि भावो के द्वारा निग्रह करो तथा तीन गारव को छोडकर निशल्य होकर दोषों की आलोचना करके पाँच महाव्रत और मुनिचर्या को निर्दोष करो।

व्रतो की शुद्धि पर-साक्षी से ही होती है। जब तक गुरु की साक्षीपूर्वक आलोचना नहीं होती है तब तक व्रतों की शुद्धि नहीं होती। इसलिए आलोचना के दस दोष रहित गुरु की साक्षी पूर्वक अपने दोषो का कथन करके प्रायश्चित्त लेना चाहिए।

इन सब बाह्य क्रियाओ का कथन **आराधनासार** मे मुख्य रूप से नहीं किया गया है परन्तु जहॉ पर कषायविजयी का कथन है उसमे ये सब गर्भित हो जाते हैं। क्योकि जब यह क्षपक कषायो को विभाव भाव समझकर छोडना चाहता है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप की आराधना करना चाहता है, आराधना के फल का इच्छुक है, उसके लिए ये सारी क्रियाएँ तो स्वयमेव होती है क्योकि वह आराधक जानता है कि इन क्रियाओ के बिना पूर्ण रूप से आराधना का आराधक नहीं बन सकता।

**देवसेन आचार्य** ने इस **आराधनासार** मे आराधक कैसा हो, आराध्य कौन है, आराधना क्या है, और आराधन का फल क्या है, इनका ही कथन किया है।

## ❋ शरीर-परित्याग की विधि ❋

**आराधनासार** मे शरीरपरित्याग के क्रम की विधि और समाधिमरण के अन्त मे शव के सस्कार की विधि का कथन नही किया है क्योकि यह आध्यात्मिक ग्रन्थ है। इसलिए **भगवती आराधना** आदि ग्रन्थो के अनुसार सक्षेप से उनका कथन करती हूँ।

**उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां निष्प्रतिकारे।**
**धर्माय तनुविमोचनमाहु: सल्लेखनामार्या॥ रत्न श्रा. ॥२२॥**

**अर्थ** - निष्प्रतिकार उपसर्ग आने पर, दुर्भिक्ष होनेपर, बुढापा आने पर और मृत्युदायक रोग होने पर धर्मार्थ शरीर को छोडना सल्लेखना है। अर्थात् जरा, रोग, इन्द्रिय वा शरीर-बल की हानि तथा आवश्यक क्रियाओ के करने मे असमर्थता होने पर कषायो को कृश करते हुए शरीर का त्याग करना सल्लेखना है।

सल्लेखना मे मुख्य कारण है कषायो को कृश करना। कषायो को कृश करने के लिए शरीर के ममत्व का त्याग है तथा शरीर के ममत्व के त्याग के लिए बाह्य पदार्थो के त्याग का क्रमिक विधान है। यद्यपि बाह्य पदार्थो के त्याग का विधान **भगवती आराधना** मे विस्तारपूर्वक लिखा है जिसका उल्लेख 'पुरोवाक्' मे सक्षेप से किया है परन्तु **रत्नकरण्डश्रावकाचार** मे मन्द बुद्धि वालो के लिए **संक्षेप से कथन किया है-** वह इस प्रकार है। सल्लेखना धारण करने का इच्छुक स्नेह, वैर, सग और परिग्रह का त्याग कर स्वजन परिजन से क्षमायाचना करता है और सबको क्षमा करता है तथा कृत, कारित और अनुमोदित पापो की निश्छल भावो से आलोचना करता है। यदि श्रावक है तो महाव्रतो को धारण करता है, मुनिराज है तो केवल आलोचना करता है।

शोक, भय, अवसाद, क्लेद, कालुष्य और अरति को छोडकर अपने उत्साह को प्रकट कर श्रुत रूपी अमृतपान के द्वारा अपने मन को प्रसन्न करना चाहिए।

इष्ट के वियोग मे मानसिक आकुलता **शोक** है। भूख, प्यास आदि पीडा से चित्त मे उद्वेग रहता है वह भय है। विषाद वा खेद को **अवसाद** कहते हैं। स्नेह को क्लेद कहते है। किसी विषय मे जो राग-

द्वेषमय परिणति होती है उसको **कालुष्य** कहते है। मन की अप्रसन्नता **अरति** है और कायरता के अभाव को सत्त्वोत्साह कहते है। श्रुतरूपी अमृत का पान कर अपने मन को प्रसन्न रखता है।

यह अभ्यन्तर कषाय सल्लेखना विधि है। इस विधि का पालन करने के लिए, शरीर को कृश करने के लिए क्रमश  सर्वप्रथम अन्न का त्याग कर दूध आदि स्निग्ध पेय पदार्थो को ग्रहण करता है। तत्पश्चात् स्निग्ध पदार्थो को त्यागकर खर पान छाछ-पानी आदि देते है। तत्पश्चात् छाछ, गर्म पानी का भी त्याग कर उपवास करता है ओर नमस्कार मन्त्र का जप करते हुए अपने प्राणो का विसर्जन करता है।

सल्लेखना स्थित पुरुष जीविताशसा, मरणाशसा भय, मित्रानुराग ओर निदान नामक सल्लेखना-अतिचारो से स्वकीय मन को दूर रखता है। वह सल्लेखना के फल से स्वर्ग और क्रम से मोक्षपद प्राप्त करता है। इसका विस्तार **भगवती आराधना** से जानना चाहिए।

जो मुनि या श्रावक समाधिमरण की साधना मे मन, वचन, काय से सहयोग देते है, समाधि के समय उपस्थित होकर आचार्य का उपदेश सुनते है, आराधना के समय क्षपक की सेवा करते है, उसकी भक्ति वा वन्दना करते है, वे सभी जीव नियम से चार आराधनाओ को प्राप्त कर अपना जन्म सफल करते हैं।

क्षपक की आराधना का स्थान (वसतिका) और दाह-सस्कार का स्थान (निषिधिका) तीर्थ बन जाते है, वन्दनीय हो जाते है। बेला मे क्षपक का प्राणान्त हो जाने पर वैयावृत्ति करने वाले मुनिजन स्वय उसकी मृत देह उठाकर उसी समय किसी प्रासुक स्थान मे क्षेपण कर देते हैं। यदि रात्रि के समय अबेला मे मरण हुआ है तो शव के अगूठे को छेद देना चाहिए जिससे उस शव मे भूत-प्रेतादि प्रवेश न करे।

यदि किसी मुनिराज, आर्यिका, क्षुल्लक आदि का मरण गृहस्थो के बीच हो और उसकी समाधि सर्वविदित हो तो गृहस्थ उसको पालकी वा विमान मे बिठाकर पूर्व मे निश्चित किये हुए स्थान पर निश्चित मार्ग से शीघ्रता पूर्वक ले जावें, न मार्ग मे खडे रहे और न मुडकर देखे। शव के आगे एक गृहस्थ मुट्ठी मे कुश दर्भ लेकर चले और एक गृहस्थ कमण्डलु को जल से पूर्ण भरकर कमण्डलु की नाली से पतली-पतली जल की धारा छोडता हुआ आगे-आगे चले।

पूर्व मे देखी हुई निषिधिका के पास जाकर डाभ की मुट्ठी खोलकर मुनि के देह को स्थापित करने की भूमि को विच्छेद रहित सम करे। यदि डाभ या तृण न मिले तो ईटो के चूर्ण अथवा वृक्षो की शुष्क केशर (पत्तो आदि) से सस्तर को सर्वत्र सम करे क्योकि **भगवती आराधना गाथा ८२** मे लिखा है कि ऊपर की ओर सस्तर के ऊँचा-नीचा होने से आचार्य का मरण, मध्य मे विषम होने से सघ के प्रधान मुनि का मरण या रोग सम्बन्धी पीडा और नीचे की ओर विषम होने से सघ के किसी एक मुनि का मरण होता है। अत· दाह सस्कार का स्थान (भूमि) प्रासुक, निश्छिद्र और सम होना चाहिए।

सस्तर को सम बनाकर उस पर प्रासुक तन्दुल के चूर्ण वा मसूर की दाल आदि के चूर्ण व कमल केशर से समान सीधी रेखा खीचे क्योकि टेढी रेखाएँ विषम होने से सघ मे उपद्रव, आचार्य का मरण आदि की सूचक होती है।

जिस दिशा मे ग्राम हो उस दिशा मे क्षपक का मस्तक कर सस्तर पर स्थापन करना चाहिए और उसके समीप मयूरपिच्छिका आदि उपकरण रखने चाहिए। सभव है, सक्लेश परिणामो से सन्यास की विराधना करके प्राण छोडे हो और व्यन्तर आदि देवो मे उत्पन्न हुआ हो। पिच्छिका आदि सहित स्वकीय शरीर को देखकर "मै मुनि था, मैने व्रतो की विराधना की" ऐसा जानकर पुन सम्यग्दृष्टि बन सकता है।

सोमसेन भट्टारक के मतानुसार - सस्तर (दाह सस्कार की भूमि) को सम बनाकर चारो ओर चार खूटी गाडे और उनके आधार से सस्तर को मौली या लच्छा से तीन बार वेष्टित करे। पद्मासन से शव को सिर से पैर तक सुतली द्वारा माप कर उसी माप के प्रमाण सस्तर पर तीन रेखाओ द्वारा एक त्रिकोण बनावे। सर्वप्रथम भूमि पर चन्दन का चूरा डाले। फिर रोली से त्रिकोण रूप तीनो रेखाएँ डाले (टूटी एव विषम न हो), उसके बाद उस त्रिकोण के ऊपर सर्वत्र मसूर का आटा डाले।

त्रिकोण के तीनो कोनो पर तीन उल्टे स्वस्तिक बनावे और तीनो रेखाओ के ऊपर तीनो ओर सब मिला कर नौ, सात या पॉच बार र लिखे। त्रिकोण के मध्य मे 'ॐ ह्रीं अर्हं' लिखे। फिर 'ॐ ह्रीं ह्र काष्ठसञ्चय करोमि स्वाहा' इस मन्त्र को पढकर त्रिकोणाकार ही लकडी जमावे, पश्चात् 'ॐ ह्री ह्रौं झ्रौ अ सि आ उ सा काष्ठे शव स्थापयामि स्वाहा।' इति मन्त्रेण पचामृतमभिषिञ्च्य त्रि प्रदक्षिणा कृत्वा काष्ठे शव स्थापयेयु , मन्त्र का उच्चारण करते हुए पश्चातानुपूर्वी से शव का पञ्चामृत अभिषेक करके एव तीन प्रदक्षिणा देकर शव को काष्ठ पर स्थापित करे और 'ॐ ॐ ॐ ॐ र र र र अग्निसधुक्षण करोमि स्वाहा', यह मन्त्र बोलकर अग्नि लगावे।

आराधनायुक्त क्षपक के मरण से सघ पर क्या प्रभाव पडेगा यह जानने के लिए, किस नक्षत्र मे मरण हुआ है, यह जानना आवश्यक है। जो नक्षत्र पन्द्रह मुहूर्त्त के होते है उन्हे जघन्य नक्षत्र कहते है। ये छह होते है शतभिषा, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा और ज्येष्ठा। इनमे से किसी एक नक्षत्र मे या उसके अश पर मरण होने से सघ मे क्षेमकुशल होता है।

तीस मुहूर्त्त के नक्षत्र को मध्यम नक्षत्र कहते है। ये पन्द्रह होते है- अश्विनी, कृतिका, मृगशिरा, पुष्य, मघा, तीनो पूर्वा, हस्त, चित्रा, अनुराधा, मूल, श्रवण, धनिष्ठा और रेवती। इन नक्षत्रो मे या इनके अशो पर यदि क्षपक का मरण होगा तो एक मुनि का मरण और होगा।

पैतालीस मुहूर्त्त के नक्षत्रो को उत्कृष्ट नक्षत्र कहते हैं। ये छह होते है तीनो उत्तरा, पुनर्वसु, रोहिणी और विशाखा। इन नक्षत्रो मे या इनके अशो पर मरण होने से निकट भविष्य मे दो मुनियो का मरण होता है।

गणरक्षा के हेतु मध्यम नक्षत्र मे क्षपक का मरण होने पर तृण का एक प्रतिबिम्ब और उत्तम नक्षत्र मे मरण होने पर तृण के दो प्रतिबिम्बो को मृतक के निकट 'द्वितीयोऽर्पित' कह कर स्थापित कर देना चाहिए। प्रतिबिम्ब बनाने के लिये यदि वहाँ तृण न मिले तो तन्दुलो का चूर्ण, पुष्प की केशर, भस्म अथवा ईटो के चूर्ण में से जो कुछ प्राप्त हो सके उससे ऊपर ककार और उसके नीचे यकार अर्थात् 'काय' शब्द लिख देना चाहिए।

**शंका** - क्या उपर्युक्त क्रिया करने से सकल्पी हिंसा का दोष नहीं लगता ?

**समाधान** - तृणमय पिण्ड मे मृतक मुनि की स्थापना की जाती है, अत सकल्पी हिंसा का दोष नहीं लगता। अभिप्राय यह है कि एक साथ दो शवो का या तीन शवो का दाह सस्कार किया जा रहा है।

क्षपक के शव का अन्तिम सस्कार हो चुकने के बाद सघ का कर्त्तव्य है कि चार कायोत्सर्ग करे। सामान्य मुनि का दाह-सस्कार प्रारम्भ हो जाने पर निषद्या की क्रिया मे सिद्ध, योग, शान्ति और समाधि भक्ति करे। आचार्य की समाधि होने पर उनके शरीर और निषद्या की क्रिया मे सिद्ध, श्रुत, चारित्र, योग, शान्ति और समाधि भक्ति करे।

अपने सघ के मुनि का मरण होने पर उस दिन सर्व सघ उपवास करे और उस दिन स्वाध्याय न करे तथा दूसरे सघ के मुनि का मरण होने पर स्वाध्याय न करे और उपवास कर भी सकते है।

क्षपक के शव का दाह-सस्कार करने पर गृहस्थो को तीसरे दिन वहाँ जाकर उनकी अस्थियो आदि की यथायोग्य क्रिया करनी चाहिए।

इस प्रकार सक्षेप से सल्लेखना की क्रिया का कथन किया है, विशेष रूप से **भगवती आराधना** से जानना चाहिए।

- **आर्यिका सुपार्श्वमती**



# 卐 ग्रन्थकार आचार्य देवसेन 卐

ग्रन्थ के प्रारम्भ मे ग्रन्थ कर्त्ता का नाम, मगल, निमित्त, हेतु, परिमाण और ग्रन्थनाम इन छह अधिकारो का कथन करके शास्त्र का व्याख्यान करना चाहिए, यह आचार्यो का आदेश है। इन अधिकारो मे ग्रन्थकर्त्ता का नाम और उसका परिचय अत्यावश्यक है क्योकि कर्त्ता की प्रमाणता से ही ग्रन्थ मे प्रमाणता आती है।

इस **आराधनासार** ग्रन्थ के रचयिता **आचार्य देवसेन** है क्योकि ग्रन्थ के अन्त मे आचार्यदेव ने अपनी लघुता प्रगट करते हुए स्वय अपना नामोल्लेख किया है-

**अमुणियतच्चेण इमं भणिय जं किंपि देवसेणेण।**
**सोहंतु तं मुणिंदा अत्थि हु जइ पवयणविरुद्धम्।।११५।।**

देवसेन नाम के दो आचार्य हुए है, उनमे से ये कौनसे देवेसन है, यह निश्चय रूप से नहीं जाना जा सकता तथापि देवसेन आचार्यरचित 'भावसग्रहादि' ग्रन्थो का अवलोकन करने से प्रतीत होता है कि इस **आराधनासार** ग्रन्थ के रचयिता 'भावसग्रह' के रचयिता देवसेन है।

आचार्य देवसेन सस्कृत और प्राकृत भाषा के महान् विद्वान् थे। जिनागम मे प्रचलित नयपरम्परा के जानकार तथा उसका सामञ्जस्य बैठाने वाले थे अत उन्होने निश्चय और व्यवहार नय से वस्तु का स्वरूप क्या है यह बताने के लिए ही मानो **नयचक्र** और **आलापपद्धति** की रचना की है।

**दर्शनसार** की निम्न गाथा -

**जइ पउमणंदिणाहो सीमंधर सामि दिव्वणाणेण।**
**ण विवोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति।।४३।।**

से सिद्ध होता है कि वे कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा के थे। इस गाथा मे उन्होने उल्लेख किया है कि यदि पद्मनदी (कुन्दकुन्दाचार्य) सीमन्धर स्वामी की दिव्य वाणी के तत्त्वो को जानकर सयमी जनो को बोध नहीं देते तो मुनिजन सुमार्ग को कैसे जान सकते ? इससे सिद्ध होता है कि वे कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा के साधु थे तथा **दर्शनसार** की इस गाथा मे उन्होने कुन्दकुन्द स्वामी के विदेहगमन की चर्चा करते हुए उनके प्रति अपनी प्रगाढ आस्था प्रगट की है।

इनके द्वारा रचित भावसग्रह, दर्शनसार, तत्त्वसार, नय-चक्र, आलापपद्धति आदि अनेक ग्रन्थ है।

**१ भावसग्रह** - इस ग्रन्थ मे ९५० गाथाएँ है। औपशमिक आदि भावो का विस्तार पूर्वक कथन करके मिथ्यादर्शन और मिथ्यादृष्टियो का खण्डन किया है।

भावसंग्रह मे लिखा है -

सिरि विमलसेण गणहर सिस्सो नामेण देवसेणुत्ति।
अबुहजण बोहत्थं तेणेयं विरइयं सुत्तं॥

श्री विमलसेन गणी के शिष्य देवसेन ने अज्ञानी जनो को ज्ञान कराने के लिए इस सूत्र (शास्त्र) की रचना की है। इसमे कितने ही स्थलो पर दर्शनसार की अनेक गाथाये उद्धृत हैं।

इनका अत्यन्त सक्षिप्त परिचय इनके द्वारा रचित दर्शनसार मे मिलता है। इन्होने अपने परिचय स्वरूप अन्तिम दो गाथाएँ लिखी है-

पुव्वायरिय कयाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ।
सिरिदेवसेण गणिणा धाराए संवसंतेण ॥४९॥

× × × ×

रइओ दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए णवई।
सिरिपासणाहगेहे सुविसुद्धे माह सुद्ध दसमीए॥५०॥

पूर्वाचार्यो के द्वारा रचित गाथाओ का सचय करके श्री देवसेन गणी ने धारानगरी में निवास करते हुए श्री पार्श्वनाथ के मन्दिर मे माघ सुदी दशमी विक्रम सवत् ९९० को इस दर्शनसार की रचना की। यद्यपि इन्होने अपने अन्य किसी ग्रन्थ मे ग्रन्थ-रचना का काल, ग्राम आदि का कथन नहीं किया है तथापि इनका समय वि स ९९० मे होने से इनके सारे ग्रन्थो की रचना इस काल के आस-पास में ही हुई है क्योकि पचम काल मे मनुष्यो की आयु १२० वर्ष से अधिक तो होती नहीं है।

इन्होने उपर्युक्त गाथा मे अपने आपको 'गणी' शब्द से सुशोभित किया है, जिससे सिद्ध होता है कि वे आचार्य पद के धारी साधुओ के अधिपति थे। किसी भी ग्रन्थ मे इन्होने अपने सघ आदि का उल्लेख नहीं किया है परन्तु दर्शनसार मे कथित काष्ठा सघ, द्रविड सघ, माथुर सघ, यापनीय सघ आदि की उत्पत्ति तथा उनको जैनाभास मानने से सिद्ध होता है कि वे इनमे से किसी सघ के नहीं थे।

२ दर्शनसार

यह ५१ गाथाओ का अल्पकाय ग्रन्थ है। इसमे विविध दर्शनो की उत्पत्ति तथा जैन समाज के प्रचलित द्रविड, काष्ठा, माथुर और यापनीय आदि सघो की उत्पत्ति कब किस प्रकार हुई, इसका उल्लेख किया गया है।

दर्शनसार के अन्त मे ग्रन्थकर्ता ने लिखा है कि पूर्वाचार्यो के द्वारा कृत गाथाओ को एक जगह सचित कर धारा नगरी मे रहने वाले देवसेन गणी ने इस दर्शनसार की रचना वि स ५५ मे की है। इससे सभव है कि इसमे कुछ पूर्वाचार्यो की भी गाथाएँ सगृहीत है और अब वे इसी ग्रथ का अग बन गई हें।

### ३ तत्त्वसार

यह ७४ गाथाओ का ग्रन्थ है। इसमे आत्मतत्त्व का सुन्दर निरूपण है।

### ४ नयचक्र

यह ८७ गाथाओ का ग्रन्थ है। इसमे जैन सिद्धान्त मे प्रचलित नय-उपनयो का उदाहरणो के साथ विवेचन किया गया है। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई की ओर से 'नयचक्र सग्रह' मे किया गया था। इसी सग्रह मे 'वृहत् नयचक्र' नाम से एक दूसरा नयचक्र भी छपा है। इसमे ४२३ गाथाएँ हैं। इसका असली नाम 'दव्वसहाव पयास' (द्रव्यस्वभाव प्रकाश) है। इसके रचयिता माइल्ल कवि है। इन्होने दोहाबद्ध नयचक्र को गाथाओ मे परिवर्तित किया है। इसमे देवसेन के नयचक्र का समस्त विषय अन्तर्निहित किया गया है तथा ग्रन्थकर्ता ने नयचक्र के कर्त्ता देवेसन के प्रति श्रद्धा का भाव प्रकट किया है।

### ५ आलापपद्धति

यह जैन समाज का बहुप्रचलित ग्रन्थ है इसमे नयो के स्वरूप तथा भेद और उपभेद सरलता पूर्वक समझाये गये है। सरल सस्कृत मे इसकी रचना है। रचना पद्यरूप न होकर गद्य रूप है। जान पडता है आचार्य देवसेन ने अपने **नयचक्र** का सरलता से ज्ञान कराने के लिए इस आलापपद्धति की रचना की है। इसका पुष्पिका वाक्य भी है -

**'इति सुखबोधार्थमालापपद्धति विरचिता'**

इसके कई जगह से हिन्दी अनुवाद सहित सस्करण प्रकाशित हो चुके है। **आलापपद्धति** की कितनी ही प्रतियो मे इसका नाम **नयचक्र** भी लिखा मिलता है।

### ६ आराधनासार

देवसेन मुनिराज के द्वारा रचित है। इस ग्रन्थ के टीकाकर्त्ता रत्नकीर्त्ति है जिन्होने स्वय अपना परिचय इस प्रकार लिखा है-

**अश्वसेनमुनिशोऽभूत् पारदृश्वा श्रुतांबुधेः।**
**पूर्णचंद्रायित येन स्याद्वादविपुलांबरे॥१॥**

**अश्वसेनेति** - शास्त्र रूपी समुद्र के पारदर्शी अश्वसेन नामके एक मुनि थे जो कि स्याद्वाद रूपी आकाश मे पूर्ण चन्द्रमा के समान आचरण करते थे॥१॥

**श्रीमाथुरान्वयमहोदधिपूर्णचद्रो निर्धूतमोहतिमिरप्रसरो मुनीद्रः।**
**तत्पट्टमंडनमभूत् सदनंतकीर्ति-र्ध्यानाग्निदग्धकुसुमेषुरनंतकीर्तिः॥२॥**

**श्रीमाथुरान्वयेति** – जो श्री माथुरान्वयरूपी महासागर को समुल्लसित करने के लिये पूर्ण चन्द्रमा थे, मोह रूपी अन्धकार के प्रसार को जिन्होने नष्ट कर दिया था, जो प्रशस्त अनन्त कीर्ति से युक्त थे तथा ध्यान रूपी अग्नि से जिन्होने काम को भस्म कर दिया था, ऐसे अनन्तकीर्ति मुनि उन अश्वसेन मुनि के पट्टाभरण थे ।।२।।

**काष्ठासंघे भुवनविदिते क्षेमकीर्तिस्तपस्वी**
**लीलाध्यानप्रसृमरमहामोहदावानलांभः ।**
**आसीद्दासीकृतरतिपतिर्भूपतिश्रेणिवेणी-**
**प्रत्यग्रस्रवत्सहचरपदद्वंद्वपद्मस्ततोपि ।।३ ।।**

**काष्ठेति** – उन अनन्तकीर्ति के बाद ससारप्रसिद्ध काष्ठासघ मे क्षेमकीर्ति नाम के तपस्वी मुनि हुए जो विषय सम्बन्धी ध्यान से फैलने वाले, महामोह रूपी दावानल को शान्त करने के लिये जल थे, जिन्होने काम को दास बना लिया था, और जिनके चरण कमलो के युगल राजसमूह की चोटी में लगी हुई नवीनमालाओ से सहित थे ।।३ ।।

**तत्पट्टोदयभूधरेऽतिमहति प्राप्तोदये दुर्जय**
**रागद्वेषमहाधकारपटलं संवित्करैर्दारयन् ।**
**श्रीमान् राजति हेमकीर्तितरणि. स्फीता विकासश्रियं**
**भव्याभोजचये दिगंबरपथालंकारभूतो दधत् ।।४ ।।**

**तत्पट्टोदयेति** – उन क्षेमकीर्ति के पट्ट रूपी विशाल उदयाचल पर उदय को प्राप्त करने वाले हेम-कीर्ति नामके मुनि हुए जो कि सूर्य के समान थे तथा कठिनाई से जीतने योग्य राग द्वेष रूपी महान् अन्धकार के समूह को सम्यग्ज्ञान रूपी किरणो से विदीर्ण करते थे, श्रीमान् थे, भव्य जीव रूपी कमलो के समूह में अत्यधिक विकास की शोभा को धारण करते थे और दिगम्बर पथ के अलकार स्वरूप सुशोभित हो रहे थे ।।४ ।।

**विदितसमयसारज्योतिषः क्षेमकीर्ति-**
**र्हिमकरसमकीर्तिः पुण्यमूर्तिर्विनेय. ।**
**जिनपतिशुचिवाणीस्फारपीयूषवापी-**
**स्नपनशमिततापो रत्नकीर्तिश्चकास्ति ।।५ ।।**

**विदितेति** – उन हेमकीर्ति के क्षेमकीर्ति नामक शिष्य थे जो समयसार रूप ज्योतिष के ज्ञाता थे, चन्द्रमा के समान कीर्ति से सहित थे तथा पुण्यमूर्ति थे। उनके शिष्य रत्नकीर्ति थे जिन्होने जिनेन्द्र भगवान् की पवित्र वाणी रूपी अमृत की वापिका मे स्नान कर सताप को शान्त किया था ।।५ ।।

**आदेशमासाद्य गुरोः परात्मप्रबोधनाय श्रुतपाठचंचुः।**
**आराधनाया मुनिरत्नकीर्तिष्टीकामिमां स्पष्टतमां व्यधत्त ॥६॥**

**इति प्रशस्तिः।**

इति पडिताचार्यश्रीरत्नकीर्तिदेवविरचिताराधनासारटीका समाप्ता।

**आदेशमिति** - गुरु की आज्ञा पाकर आगम के स्वाध्याय मे निपुण रत्नकीर्ति मुनि ने परात्मा का प्रबोध कराने के लिये आराधनासार की यह अत्यन्त स्पष्ट टीका रची है॥६॥

इस प्रकार पण्डिताचार्य श्री रत्नकीर्तिदेवद्वारा विरचित आराधनासार की टीका समाप्त हुई।

टीकाकार ने स्वय यह श्लोक लिखा है।

ये रत्नकीर्तिदेव काष्ठासघ के है परन्तु 'आराधनासार' देवसेनाचार्य की कृति है जो मूलसघ की परम्परा मे थे।

## ❋ आराधनासार का प्रतिपाद्य ❋

एक सौ पन्द्रह गाथाओ मे रचित इस ग्रन्थ मे देवसेनाचार्य ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तपरूप चार आराधनाओ का कथन करके अन्त मे आराधनाओ के फलस्वरूप सल्लेखना का उल्लेख किया है। क्योकि आराधना एव व्रतो का फल अन्त मे समाधिमरण करना है। स्वामी **समन्तभद्राचार्य** ने **रत्नकरण्ड श्रावकाचार** मे लिखा है-

**अन्तःक्रियाधिकरणं तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते।**
**तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम्।**

केवली भगवान ने तपश्चरण का फल अन्त मे समाधिमरण कहा है इसलिए समाधिमरण का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए।

**पडित आशाधर** जी ने भी **सागार धर्मामृत** मे लिखा है-

**सहगामिकृतं तेन धर्मसर्वस्वमात्मनः।**
**समाधिमरणं येन भवविध्वंसि साधितं॥**

जिसने ससारनाशक समाधिमरण प्राप्त कर लिया उसने अपने धर्मरूप वृक्ष के फल को सहगामी कर लिया। समाधिमरण का महत्त्व वचनातीत है।

समन्तभद्राचार्य, उमास्वामी आचार्य, अमृतचन्द्राचार्य, सोमदेवाचार्य आदि महापुरुषो ने श्रावक के १२ व्रतो का कथन करके उन व्रतो का फल अन्त मे सल्लेखना (समाधिमरण) कहा है। परन्तु कुन्द-

कुन्दाचार्य ने सल्लेखना को श्रावक के चार शिक्षाव्रतो मे सम्मिलित किया है, जिसका अभिप्राय यह है कि श्रावको को सदा ऐसी भावना रखनी चाहिए कि मेरा समाधिमरण हो। उमास्वामी, समन्तभद्राचार्य ने शिक्षाव्रत से पृथक् समाधिमरण को व्रतो का फल कहा है अत अन्त मे समाधिमरण को 'मारणातिकीं सल्लेखना जोषिता' कहकर व्रती मनुष्यो को आज्ञा दी है कि मरणान्त काल मे होने वाली सल्लेखना अवश्य ही प्रीतिपूर्वक धारण करनी चाहिए।

समाधिमरण की प्राप्ति व्रती सम्यग्दृष्टि को ही हो सकती है? समाधिमरण से ही कर्मों का क्षय हो सकता है और कर्मो का क्षय होने से शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है।

**भगवती आराधना** मे लिखा है कि जो जीव एक भव मे समाधिपूर्वक मरण प्राप्त कर लेता है वह सात आठ भवो से अधिक ससार मे नहीं भटकता। **आराधनासार** मे उत्तम, मध्यम और जघन्य आराधना का फल बताते हुए कहा है कि आराधना का उत्तम फल काललब्धि को प्राप्त कर मुक्तिपद को प्राप्त करना है। मध्यफल सर्वार्थसिद्धि अहमिन्द्रपद, स्वर्ग-सम्पदा की प्राप्ति और दूसरे भव मे मुक्ति प्राप्त होना है। आराधना का जघन्य फल है सात-आठ भव मे निर्वाणपद प्राप्त होना। इस प्रकार समाधिमरण की उपादेयता बतलाने वाले अनेक ग्रन्थ है। **भगवती आराधना मूलाराधना** तो इसका मुख्य ग्रन्थ है। प्रसगवश अन्य ग्रन्थो मे भी सल्लेखना की चर्चा की गई है।

इन्हीं आराधनाओ का सरस और सरल कथन **देवसेन आचार्य** ने **आराधनासार** मे किया है।

सर्वप्रथम ग्रन्थ के प्रारभ मे आचार्यदेव ने मगलाचरण करके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप इन चारो आराधनाओ का स्वरूप व्यवहार और निश्चय से बतलाकर व्यवहार आराधनाओ को कारण और निश्चय आराधनाओ को उनका कार्य कहा है। तथा यह भी लिखा है कि क्षपक इन आराधनाओ के कारण कार्यविभाग को जानकर तथा काल आदि लब्धियो को प्राप्त कर इस प्रकार आराधना करे जिससे वह ससार से मुक्त हो जावे। व्यवहाराराधना बाह्य कारण है और निश्चयाराधना अतरग कारण है। इन दोनो कारणो के मिलने पर ही कार्य सिद्ध होते है। पृथक्-पृथक् एक कारण से कार्यसिद्धि सभव नहीं है। इसके लिए सस्कृत टीकाकार ने एक श्लोक उद्धृत किया है-

**कारणद्वयसाध्यं न कार्यमेकेन जायते।**
**द्वन्द्वोत्पाद्यमपत्यं किमेकेनोत्पद्यते क्वचित्॥**

दो कारणो से सिद्ध होने वाला कार्य क्या एक कारण से सिद्ध होता है? जैसे कि स्त्री-पुरुष दोनो से उत्पन्न होने वाली सतान क्या कहीं एक से उत्पन्न हो सकती है?

इस प्रकार प्रारभ की १६ गाथाओ मे चार आराधनाओ की सक्षिप्त चर्चा कर मरण के समय आराधना करने वाला कौन हो सकता है, इसकी विशद चर्चा की है। उन्होने कहा है कि जिसने कषायो

को नष्ट कर दिया है, जो भव्य है, सम्यग्दृष्टि है, ज्ञानसम्पन्न है तथा द्विविध परिग्रह का त्यागी है, ससार सुखो से विरक्त है, वैराग्य को प्राप्त है, परम उपशम भाव को प्राप्त है, विविध प्रकार के तपो से जिसका शरीर तप्त है, आत्मस्वभाव मे लीन है, पर द्रव्य की आसक्ति से रहित है तथा जिसके रागद्वेष मद हो चुके है वही महापुरुष मरण समय आराधना का आराधक हो सकता है।

जो मानव रत्नत्रयात्मक विशुद्ध आत्मा की भावना को छोडकर पर-द्रव्य का चितन करता है वह अपनी आराधना का विराधक कहा गया है। उन्होने यह भी कहा है कि जो निश्चय नय का आश्रय लेकर स्व-पर का भेद नहीं जानता है उसको न तो रत्नत्रय की प्राप्ति होती है और न उसकी समाधि होती है।

आराधक के लक्षणो को बताते हुए आचार्यदेव ने सात विशेषण दिये है- अर्ह, सगत्याग, कषाय-सल्लेखना, परीषह रूपी सेना को जीतना, उपसर्ग को सहन करना, इन्द्रिय रूपी मल्लो को जीतना और मनरूपी हाथी के प्रसार को रोकना।

(१) **अर्ह** का अर्थ योग्य होता है यानी सन्यास धारण करने योग्य पुरुष।

सन्यास धारण करने योग्य पुरुष वही होता है जो गृहव्यापार से विमुक्त है, पुत्र-पौत्रादिक के ममत्व से रहित है, धन एव जीवन की आशा से विमुक्त है।

सन्यास का शब्दार्थ है सम्-सम्यक्प्रकारेण, नि-नितरा, असन परित्यजन इति सन्यास ' व्युत्पत्ति के अनुसार अच्छी तरह से रागादि विभाव भावो का छोडना सन्यास है।

जो अनादिकालीन मोह के कारण शरीर, धन, पुत्र-पौत्रादिक, पद-पदार्थो के सरक्षण एव सवृद्धि के लिए रात-दिन सलग्न है, ये पर-पदार्थ मेरे हैं, मैं इनका स्वामी हूँ, इस विपरीत बुद्धि को नहीं छोडता है वह सन्यास धारण करने योग्य नही है।

जब तक वृद्धावस्था रूपी व्याघ्री आक्रमण नही करती है, जब तक इन्द्रियॉ विकल नहीं हैं, जब तक बुद्धि हिताहित का विचार करने मे समर्थ है, आयु रूपी जल अवशेष है, जो आहार, आसन और निद्रा को जीतने मे समर्थ है, अगोपाग और शरीर के बन्धन शिथिल नहीं हुए है, मृत्यु के भय से शरीर कम्पित नहीं हो रहा है, तप-स्वाध्याय और ध्यान मे उत्साह है और स्वय निर्यापक होकर अपनी क्रिया वा सस्तरण करने मे समर्थ है वही पुरुष सन्यास धारण करने के योग्य है।

इस प्रकार व्यवहार सन्यास का कथन करके आचार्यदेव ने निश्चय सन्यास की चर्चा करते हुए कहा है कि वास्तव मे जो साधु निर्विकल्प समाधि मे लीन है, स्वकीय स्वभाव मे सलग्न है वही सन्यास धारण करने योग्य है।

(२) **संगत्याग** - सग शब्द का अर्थ परिग्रह है। वह परिग्रह बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो

प्रकार का है। क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दासी, दास, कुप्य और भाण्ड के भेद से बाह्य परिग्रह १० प्रकार का है। मिथ्यात्व, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुष वेद, नपुसक वेद, क्रोध, मान, माया और लोभ ये १४ प्रकार के आभ्यन्तर परिग्रह हैं।

अथवा-शरीर बाह्य परिग्रह है और विषयो की अभिलाषा अन्तरग परिग्रह है। इन दोनो प्रकार के परिग्रह का त्याग करना सगत्याग कहलाता है।

परिग्रहत्याग से ही मानव परम उपशम भावो को प्राप्त होता है तथा उपशम भाव को प्राप्त हुआ जीव ही आत्मस्वरूप मे स्थिर हो सकता है। क्योकि परिग्रह छोडे बिना मानसिक मलिनता दूर नहीं हो सकती अत द्विविध परिग्रह का त्याग करने वाला मानव ही सन्यास के योग्य होता है। आचार्यदेव ने 'सगत्याग' को सन्यास मे कारण कहा है।

**(३) कषाय-सल्लेखना** - कषाय-सल्लेखना का अर्थ है कषायों को कृश करना। कषायो की मन्दता के बिना मानव स्वकीय विषयो मे दौडने वाली इन्द्रियो पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता और न शरीर के प्रति निर्मोह हो सकता है। जो इन्द्रियो एव मन के आधीन है, शरीर पर ममत्व रखता है वह सन्यास धारण नहीं कर सकता है।

वास्तव मे, इन्द्रियविषयो की पूर्त्ति के लिए ही इस जीव की कषाये जागृत होती हैं अत इन्द्रियो को जीतना आवश्यक है। यह मानव यद्यपि उपवास, आतापनादि बाह्य योगो के द्वारा शरीर सल्लेखना - शरीर को अत्यन्त कृश कर लेता है परन्तु जब तक कषायो को कृश नहीं करता तब तक वह सन्यास के योग्य नहीं होता।

ये कषायें अत्यन्त बलिष्ठ तथा दुर्जय हैं। इनके द्वारा ही यह ज्ञानमय आत्मा स्वरूप को भूलकर दु खमय ससार-समुद्र मे गोते खा रहा है।

कषाये सयम की घातक है और सयम के अभाव मे समाधिमरण नहीं होता। अत सन्यास के लिए कषाय-सल्लेखना आवश्यक है।

**(४) परीषहजय** - शीतादि परीषह सुभटो के समान अत्यन्त बलवान हैं। ये परीषह महातपस्वी, ज्ञानी, सयमियो को भी एक झटके मे सयम के मार्ग से च्युत कर देते हैं। परीषह रूपी योद्धाओ से पराजित हुए मानव सन्यास रूपी युद्धस्थल से विमुख होकर सासारिक सुखो की शरण मे आ जाते हैं। परीषह रूपी दावानल के ताप को बुझाने के लिए ज्ञानरूपी सरोवर मे प्रवेश करना चाहिए। क्योकि स्वस्वभाव रूपी जल का पान कर मन को शात करने वाला ही आत्मीय सुख को प्राप्त कर सकता है। अत परीषहो पर जय प्राप्त करना भी समाधिमरण का कारण है, ऐसा आचार्य ने निर्देश किया है।

**(५) उपसर्गसहन** - तिर्यचकृत, देवकृत, मनुष्यकृत और अचेतनकृत के भेद से उपसर्ग चार प्रकार के हैं। सल्लेखना मे स्थित मानव को कदाचित् दु खद उपरिकथित चार प्रकार का उपसर्ग आ जाये तो समता भाव से उन उपसर्गो को सहन करना चाहिए। आत्मस्वरूप मे स्थिर होकर उपसर्गों को सहन करने वाले पुरुषो के चरित्र का चितन करके अपने मनको स्थिर करना चाहिए। इस सन्दर्भ मे ग्रन्थकर्त्ता ने शिव भूति, गजकुमार, श्रीदत्त, सुवर्णभद्र, सुकुमाल आदि मुनियो के दृष्टान्त देकर क्षपक को उपसर्ग सहन करने का मार्मिक उपदेश दिया है। सस्कृत टीकाकार ने इन सबकी कथाएँ देकर इस प्रकरण को अत्यन्त रोचक बना दिया है। उपसर्गसहन भी सन्यास मे कारण है।

**(६) इन्द्रिय विजयी बनना** - आचार्यदेव ने इस ग्रन्थ मे पॉच गाथाओ के द्वारा रूपक अलकार मे इन्द्रियो को शिकारी, काम को बाण, विषयो को वन और मनुष्यो को हरिण की उपमा दी है। उन्होने लिखा है कि - इन्द्रिय रूपी शिकारियो से पीडित मनमथजन्य पीडा रूपी बाण से घायल चचल चित्त वाले मानव रूपी मृग स्वतत्त्व, परतत्त्व, हेयोपादेय कथन करने वाले जिनवचनश्रवण, देवपूजा आदि शुभ कार्यो मे प्रीति नहीं करते क्योकि अनादिकालीन कर्मबध के कारण आत्मसुख के रस का आस्वादन करके विषय-सुख की अभिलाषा से विषयाटवी मे भ्रमण करते है, वे मानव सन्यास को धारण नही कर सकते अत इन्द्रिय-विजयी होने का उपदेश दिया है।

**(७) मनोविजयी होना** - जिन पुरुषो ने विषयो मे दौडते हुए हाथी को सुदृढ ज्ञानरूपी रस्सी से नहीं बॉधा वे पुरुष शारीरिक मानसिक दु खो से पीडित होकर ससाराटवी मे भटकते रहते है। आचार्यदेव ने क्षपक को सम्बोधित करते हुए कहा है- हे क्षपकराज ! देखो तन्दुलमत्स्य मन के द्वारा किये गए पापो के कारण नरक को प्राप्त होता है, मन से प्रेरित होकर इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयो मे प्रवृत्त होती है जिससे राग-द्वेष की शृखला मजबूत होती है अत तू मन को रोक।

मन के स्थिर हो जाने पर मन की दास इन्द्रियॉ, वचन, काय, राग-द्वेषादि सारे विभाव भाव नष्ट हो जाते है। नूतन कर्मो का आस्रव रुक जाता है अर्थात् सवर तत्त्व की उत्पत्ति होती है और असख्यातगुणी कर्मो की निर्जरा होती है। अत हे क्षपक ! तू अपने मन को स्थिर करने का प्रयत्न कर।

इसके आगे आचार्यदेव ने इस ग्रन्थ मे मन को खाली निर्विकल्प बनाने का उपदेश दिया है। क्योकि मन के निर्विकल्प हो जाने पर शुद्धात्मा का अनुभव या दर्शन होता है।

निर्विकल्प मन मे ध्यान, ध्याता, ध्येय के विकल्पो से शून्य ध्यान की उत्पत्ति होती है, वहीं रत्नत्रय है वहीं आत्मस्थिरता है, वहीं साक्षात् मोक्षमार्ग है।

जिस प्रकार जल के सयोग से नमक विलीन हो जाता है, उसी प्रकार शून्य ध्यान के माहात्म्य से आत्मा आत्मा मे लीन हो जाती है।

जिस प्रकार पत्थर मे पत्थर की रगड़ से अग्नि उत्पन्न होती है ओर सबको भम्म कर देती है वैसे ही आत्मा मे आत्मा की स्थिरता से निर्विकल्प ध्यानरूपी अग्नि प्रगट होती हे ओर अनादिकालीन कर्मो को भस्मकर आत्मा को शुद्ध एव निर्मल वना देती हे।

आचार्यदेव ने कहा है कि इस निर्विकल्प ध्यान के द्वारा यह आत्मा शरीर एव कर्मबन्धन से मुक्त होकर अतीन्द्रिय सुख का भोक्ता बनता हे।

अन्त मे, ग्रन्थ कर्त्ता ने क्षपक को सावधान करते हुए मार्मिक देशना दी हे। उन्होने कहा है-

हे क्षपक ! तू धन्य है, तेरा यश चिर काल तक विस्तरित रहेगा क्योकि तूने मनुष्यभव पाकर सयम धारण किया है और उत्तम सन्यासमरण का सकल्प किया है। यदि सन्यासमरण की साधना मे तुझे भूख, प्यास आदि से कष्ट होता है तो उसको समभाव से सहन कर। क्योकि पराधीनता से तूने अनन्त दु खो को सहन किया है। अब तू स्वाधीन होकर सहन करेगा तो कर्मों की निर्जरा करेगा।

हे क्षपक ! जब तक यह जीव रूपी सुवर्ण शरीर रूपी मूषा के अन्दर ज्ञान रूपी पवन से प्रज्वलित होता हुआ तप रूपी अग्नि से सतप्त नहीं होता तब तक निष्कलक नहीं बन सकता।

हे क्षपक ! तू निरन्तर शरीर से भिन्न आत्मा का ध्यान कर। जिस प्रकार म्यान से तलवार भिन्न है उसी प्रकार शरीर से आत्मा भिन्न है, ऐसा ध्यान कर। आत्मस्वरूप का दृढ निश्चय करने वाला कभी आत्मस्वरूप से च्युत नहीं होता।

अन्त मे, आचार्यदेव ने उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार से आराधना का कथन करके तथा उनके फल का वर्णन कर ग्रन्थ को समाप्त किया है।

गणिनी आर्यिका १०५ सुपार्श्वमती माताजी की सघस्था
बालब्रह्मचारिणी डॉ प्रमिला जैन

卐 卐 卐

# 卐 विषय - सूची 卐

| विषय | पृष्ठ संख्या |
|---|---|



॥ॐ ह्रीं श्रीचतुर्विंशतिजिनेन्द्रेभ्यो नम ॥

॥ॐ ह्री श्रीमहावीरस्वामिने नम ॥

॥ॐ ह्री श्रीशातिवीरचन्द्रशिवधर्माजितसूरिभ्यो नमोनम ॥

श्रीमद् देवसेनाचार्यविरचित:

# आराधनासार:

(श्री रत्नकीर्त्तिदेव विरचित सस्कृतटीका सहित)

✻ मगलाचरण ✻

**सिद्धानाराधनासार-फलेन फलितात्मनः।**
**ध्यात्वा व्याख्यानतीर्थेन स्वस्यात्मानं पुनाम्यहम्॥१॥**

**अन्वयार्थ** - आराधनासारफलेन फलितात्मन =आराधना के सार से फलित है आत्मा जिसका ऐसे। सिद्धान्-सिद्धो को। ध्यात्वा=ध्यान करके। व्याख्यानतीर्थेन=व्याख्यानरूपी तीर्थ से। स्वस्य=अपनी। आत्मान=आत्मा को । अह=मैं। पुनामि=पवित्र करता हूँ।

**भावार्थ** - 'राधृ ससिद्धौ' राधृ धातु सिद्धि अर्थ मे होती है। अथवा-''आराधन साधने स्यादवाप्तौ तोषणेऽपि च।'' आराधन शब्द साधन, प्राप्ति और तोषण अर्थ मे आता है। अत· जिससे साध्य की सिद्धि होती है उसे आराधना कहते हैं।

“सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप इन चारों का यथायोग्य रीति से उद्योतन करना, इनमे परिणति करना, इनको दृढता पूर्वक धारण करना, इनके मन्द पड जाने पर पुन  जागृत करना और इनका आमरण पालन करना आराधना है।”[१]

२५ दोष रहित और आठ अग सहित सम्यग्दर्शन का पालन करना **सम्यग्दर्शन** का उद्योत है।

सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित ज्ञान का पालन करना वा यथावद् वस्तु का निर्णय करना **सम्यग्ज्ञान** का उद्योत है।

निर्दोष **सम्यक्चारित्र** का पालन करना चारित्र का उद्योत है। भूख-प्यास से आकुलित होकर असयम रूप परिणामो का नही होना **तप** का उद्योत है।

उद्यवन का अर्थ मिश्रण है। अत  आत्मा का सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप मे परिणत होना, लीन होना सम्यग्दर्शनादि का **उद्यवन** है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तपको दृढतर धारण करना **निर्वहण** है।

किसी कारण से सम्यग्दर्शन आदि के शिथिल होने पर उनको पुन  जागृत करना, उनको शिथिल नहीं होने देना **साधन** है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप का जीवन पर्यन्त निर्दोष रूपसे पालन करना **निस्तरण** है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप के उद्योत, उद्यवन, निर्वहण, साधन और निस्तरण को **आराधना** कहते है।

समता, माध्यस्थ, शुद्धभाव, वीतरागता, चारित्र और आत्मस्वभावरूप धर्म की साधना वा सिद्धि जिन कारणो से की जाती है, उसे **आराधना** कहते है।

सम्यग्दृष्टि पुरुषो का, सम्यग्दर्शनादिक से होने वाले अतिशयो मे वा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तपश्चरण के प्रति मानसिक अनुराग, प्रीति वा भक्ति है उसे **आराधना** कहते हैं।

---

१ उज्जोवणमुज्जवण णिव्वाहण साहण च णिच्छरण।
दसण-णाण-चरित्त तवाणमागहणा भणिया॥२॥
- भगवती आराधना (मू.)

सक्षेप से, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र के भेद से आराधना के दो भेद है और विस्तार से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप के भेद से चार भेद हैं।

"सरति, सर्वोत्कृष्ट प्राप्नोति इति सार"। जो सर्वोत्कृष्टता को प्राप्त है वह सार कहलाता है। जो सम्यग्दर्शनादि सर्वोत्कृष्टता को प्राप्त हुए है वह **आराधनासार** कहलाता है।

आराधना के सार का फल है-स्वात्मोपलब्धि, शिवसौख्यसिद्धि। आराधना के सार के फल से फलित है आत्मा जिसकी उसे कहते है आराधनासार के फल से फलितात्मा।

यद्यपि आराधना के सार के फलसे फलित आत्मा वाले पॉच परमेष्ठी होते है, परन्तु वास्तव मे तो सिद्ध भगवान हैं। इसलिए आराधनासार के फल से फलित आत्मा यह सिद्ध भगवान का विशेषण है।

सिद्ध शब्द 'षिधुञ्'धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ है सि-सित बद्ध अष्टप्रकार कर्मेन्धन= सि शब्द का अर्थ है अनादि कालसे बॅधे हुए आठ प्रकार के कर्म रूप ईधन को, 'द्ध'-ध्यात दग्ध जाज्वल्यमान शुक्लध्यानानलेन येन=जलादिया है, भस्म कर दिया है जाज्वल्यमान शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा जिन्होने। अर्थात् जिन्होने शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा अनादिकालीन आठ कर्म रूपी ईधन को जलाकर भस्म कर दिया है, उनको सिद्ध कहते हैं।

**अथवा**-'षिधु गतौ' सिद्ध धातु गमन अर्थ मे है- जिससे यह अर्थ ध्वनित होता है कि जो शिव-लोक मे पहुॅचकर स्थित हो गये है, वहाॅ से लौटकर पुन ससार मे नहीं आयेगे, उनको सिद्ध कहते है।

"जिन्होने अनादि काल से आत्मा से बॅधे हुए पुरातन कर्मो को शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा भस्म कर दिया है। जो परम निवृत्तिधाम को (मोक्ष महल को) प्राप्त हो गये है। वहाॅ से पुन लौटकर नहीं आयेगे। भव्यो के द्वारा उपलब्ध गुणसदोह से वे विख्यात है, जगत्प्रसिद्ध है, अनुशास्ता हैं, कृतकृत्य हैं, परिनिष्ठितार्थ है, ऐसे सिद्ध मेरे लिए मगलकारी होवे।[१]

शास्त्रारम्भ की आदि मे 'स' वर्ण का प्रयोग करना सुखद होता है-इसलिए आचार्यदेव ने सर्व प्रथम स (सिद्ध) वर्ण का प्रयोग किया है।

इस प्रकार के सिद्धो का ध्यान करके मैं आराधनासार की व्याख्या रूपी (टीकारूपी) तीर्थ के द्वारा अपनी आत्मा को पवित्र करता हूॅ।

---

१ ध्यात सित येन पुराणकर्म, यो वा गतो निर्वृतिसौधमूर्ध्नि।
ख्यातोऽनुशास्ता परिनिष्ठितार्थो, य सोऽस्तु सिद्ध कृतमगलो मे॥ भगवती सू १, १, १

इस मगलाचरण मे टीकाकार आचार्यदेव ने सिद्ध शब्द से अरिहत, सिद्ध रूप परम पद को प्राप्त परमात्मा को नमस्कार करके आराधनासार की टीका करने की प्रतिज्ञा की है।

**जिनेन्द्रहिमवद्वक्त्रपद्महृदविनिर्गता।**
**सप्तभंगमयी गंगा मां पुनातु सरस्वती ॥२॥**

**अन्वयार्थ** - जिनेन्द्रहिमवद्वक्त्रपद्महृदविनिर्गता=जिनेन्द्र भगवान रूपी हिमवान पर्वत के मुखरूपी पद्मसरोवर से निकली हुई। सप्तभगमयी=अस्ति नास्ति आदि सप्त भगो से व्याप्त। सरस्वती=सरस्वती रूपी। गगा-गगा। मा=मुझको। पुनातु=पवित्र करे।

**भावार्थ** - इस श्लोक मे आचार्यदेव ने रूपक अलकार मे सरस्वती को गगा की उपमा दी है। जैसे हिमवान् पर्वत के पद्म नामक तालाब से निकली हुई गगा सबको पवित्र करती है, उसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान रूपी हिमवान् पर्वत और उनके मुखरूपी पद्म सरोवर से निकली हुई तथा सप्त भग रूपी कल्लोलों से व्याप्त सरस्वती रूपी गगा हम सबको पवित्र करे॥२॥

**गुरूणां चरणद्वन्द्वं महामंत्रोपमं वसत्।**
**सदा मद्हृदयांभोजे ह्रियाद्विघ्नपरंपराम् ॥३॥**

**अन्वयार्थ** - महामत्रोपम=महामत्र के समान। सदा=निरतर। **मद्हृदयांभोजे**=मेरे हृदय रूपी कमल में। वसत्=स्थित वा रहने वाले। गुरूणा=गुरुओ के चरण द्वन्द्व= दोनो चरण कमल। विघ्नपरपरा=विघ्नो की परपराको। ह्रियात्=नष्ट करे।

**भावार्थ** - जिस प्रकार हृदय स्थित महामत्र (णमोकार मत्र) जप करने वाले के सारे विघ्नो को दूर करता है, उसी प्रकार हृदय मे स्थित गुरुराजो के चरण कमल शिष्य के सारे विघ्नो को नष्ट करते हैं। जिसके हृदय मे गुरुभक्ति है, गुरु के चरण हृदय मे स्थित हैं, उसके किसी भी कार्य मे विघ्न नहीं आता है। सर्व कार्य अनायास सफल होते है।

"गुरु की भक्ति से मुक्ति की प्राप्ति होती है तो अन्य कार्यों की सिद्धि मे आश्चर्य ही क्या है। जिस रत्न से तीन लोक की सम्पदा प्राप्त होती है क्या उस रत्न से तुषो का समूह प्राप्त होना दुर्लभ है? अर्थात् दुर्लभ नहीं है।

गुरुभक्ति की शक्ति अचिंत्य है- 'गुरुस्नेह कामसू '

गुरु का स्नेह सर्व इच्छाओ को पूर्ण करने वाला है।

अथ ससार-महापारावारपारासन्नप्रदेशस्थेन निरुपाधिनिरुपद्रवाविनश्वरसनातनानत-सौख्यसमुदायोपायचितन निर्गमितनिरतरकालेन सिद्धालयवेलापत्तन जिगमिषुणा जिनोदितभेदाभेदरत्नत्रय-पोतसमारूढेन स्वभावोत्थितपरमकरुणारसपूरप्रभावेण भवदु खाग्निददह्यमानानन्यानपि भव्यजीवास्तद्योग्योपदेशव-चनैस्तत्रारोप्य पार कर्तुकामेन स्वय कर्णधारायमानेन स्वयमेव सार्थवाहाधिपायमानेन तन्मार्गलग्नशीघ्रतरप्रधावमानमहामोहाभिधानचौरनरेन्द्रकिंकरीभूतविषय-कषायलुटाकभीतिनिराकरणाय समाश्रितसकलसिद्धातरहस्यभूतनिश्चयव्यवहारभेदभिन्नचतुर्विधाराधनाग्रथ-सग्रथितपरमशब्दब्रह्मप्रयत्नेन अनेकातमरुन्मार्गस्तर्यायमानेन श्रेयोमार्गससिद्धिशिष्टाचारप्रपालननास्तिक्य-परिहारार्थनिर्विघ्नपरिसमाप्तिफलचतुष्टयाभिलाषुकेण परमसम्यक्त्वाद्यष्टप्रसिद्धविमलतरगुणसमृद्धाना सिद्धाना

---

**शब्दार्थ:-** अथ=अब। ससारमहापारावारपारासन्नप्रदेशस्थेन=ससार रूपी समुद्र के निकट स्थित। निरुपाधिनिरुपद्रवाविनश्वरसनातनानत सौख्य समुदायोपायचितन=उपाधिरहित, उपद्रवरहित, अविनश्वर, सनातन अनन्त सुख के समुदाय के उपाय के चिन्तन मे। निर्गमित निरतरकालेन=निकल रहा है निरन्तर काल जिनका। सिद्धालयवेलापत्तन=सिद्धालय रूपी नगर को। जिगमिषुणा=प्राप्त करने की इच्छा करने वाले। जिनोदित भेदाभेदरत्नत्रय पोत समारूढेन= जिनेन्द्र भगवान कथित भेद और अभेद रूप दो प्रकार के रत्नत्रय के जहाज पर आरूढ। स्वभावोत्थित परम करुणा रस पूर प्रभावेण= स्वभाव से उत्पन्न परम करुणारस के पूर से प्रभावित। भवदु खाग्निददह्यमानान्=ससार दु ख रूपी अग्निके द्वारा जलते हुए। अन्यान्=अन्य। भव्यजीवान्= भव्यजीवो को। अपि= भी। तद्योग्योपदेशवचनै = उनके योग्य उपदेश वचन के द्वारा। तत्र= उस रत्नत्रयरूपी नौका पर। आरोप्य=आरूढ कराकर। पार=ससार समुद्र को पार। कर्त्तु=कराने की। कामेन= इच्छा वाले। स्वय= आप। कर्णधारायमानेन- कर्णधार के समान आचरण कर रहे हैं और। स्वय एव= स्वय ही। सार्थवाहाधिपायमानेन= सार्थवाह अधिप है। तन्मार्गलग्न शीघ्रतर प्रधावमान महामोहाभिधान चौरनरेन्द्र किंकरी भूत विषय कषायलुटाक भीति निराकरणाय= मोक्षमार्गगामी के पीछे शीघ्रतर दौडते हुए महा मोहनामक चौर नरेश के किंकरभूत विषयकषाय रूपी लुटेरो की भीति को दूर करने के लिए। समाश्रित सकल सिद्धान्त रहस्यभूत निश्चयव्यवहार भेद भिन्न चतुर्विधाराधना ग्रथ सग्रथित परम शब्द ब्रह्म-प्रयत्नेन=आश्रय लिया है सकल सिद्धान्त के रहस्यभूत निश्चय व्यवहार भेद से भिन्न चार प्रकार के आराधना ग्रन्थ से सग्रथित परम शब्द ब्रह्म के प्रयत्न का जिन्होने। अनेकान्तमरुन्मार्गस्तर्यायमानेन= अनेकान्तरूपी आकाशमार्ग मे सूर्य के समान आचरण करने वाले। श्रेयोमार्ग-ससिद्धि शिष्टाचार-परिपालन नास्तिक्य-परिहारार्थ निर्विघ्न-परिसमाप्तिफल चतुष्टयाभिलाषुकेण=श्रेयोमार्गकी सिद्धि, शिष्टाचार का पालन, नास्तिकता का परिहार और शास्त्रकी निर्विघ्न परिसमाप्ति रूप चार फलो के अभिलाषी। महावीर विशेषण सयुक्त=महावीर विशेषण से युक्त। परम सम्यक्त्वाद्यष्ट प्रसिद्ध विमलतर गुण समृद्धाना=परम सम्यग्दर्शनादि

महावीरविशेषणयुक्ताना द्रव्यभावभेदभिन्न द्विविध नमस्कारं कुर्वाणेन आराधनासार वक्ष्येहमिति प्रतिज्ञा विरचयता च श्रीमत्परमभट्टारकश्रीदेवसेनाचार्येण स्तोत्रमिद विधीयते।

---

अष्ट निर्मलतर गुणो से समृद्ध। सिद्धाना=सिद्धो को। द्रव्यभाव भेद भिन्न=द्रव्य और भाव के भेद से। द्विविध-दो प्रकार के। नमस्कार=नमस्कार को। कुर्वाणेन= करते हुए। आराधनासार=आराधनासार को। अह=मै। प्रवक्ष्ये=कहूगा। इति=इस प्रकार की। प्रतिज्ञा= प्रतिज्ञा को। विरचयता= करने वाले। श्रीमत्परम-भट्टारक-श्रीदेवसेनाचार्येण= श्रीमत्परमभट्टारक श्री देवसेन आचार्य के द्वारा। इद=यह। स्तोत्र=मगलाचरणरूपस्तोत्र। विधीयते-किया जा रहा है।

भावार्थ=आराधनासार ग्रन्थ की टीका करने वाले श्री रत्नकीर्ति देव ने इस ग्रन्थ की टीका के प्रारभ मे ग्रथ रचयिता देवसेन आचार्य की उपर्युक्त विशेषणो से विशेषता प्रगट की है वह इस प्रकार है-

ससार एक महासमुद्र है जिसका पार पाना बहुत कठिन है, परन्तु देवसेन आचार्य इस ससार-समुद्र के तीर पर स्थित है अर्थात् आसन्नभव्य है। निरुपाधि-जिसकी तुलना किसी दूसरे सुख के साथ नहीं की जा सकती। निरुपद्रव-जिसमे किसी भी कारणो से उपद्रव नहीं आ सकता। अविनाशी, सनातन, अनन्त सुख की प्राप्ति के कारणो के चितन मे ही जिनका समय व्यतीत हो रहा है अर्थात् जो निरतर अनन्त अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति का ही चिन्तन करते हैं। जो सिद्धालय रूपी नगर मे प्रवेश करने के इच्छुक है। भेद-अभेद रूप रत्नत्रय की नौका पर आरूढ हैं अर्थात् जो निश्चय और व्यवहारमय रत्नत्रय के धारक दिगम्बर मुनि हैं।

स्वभाव से ही जिनका हृदय करुणा रस से परिपूर्ण है, इसलिए वे अन्य भव्य जीवो को उनके योग्य उपदेशो के द्वारा सम्बोधित करके रत्नत्रय रूपी नोका पर चढ़ाकर ससार-समुद्र से पार करने का प्रयत्न करते हैं। अर्थात् शिष्यो, भव्य जीवो को शिक्षा-दीक्षा देते है। अत वे स्वय नोका के खेने के लिए (चलाने के लिए) कर्णधार है तथा स्वय उस नोका पर वैठने वाले सार्थवाहाधिप भी है अर्थात् स्वय ससार-समुद्र से पार होते हैं और दूसरो को पार करते भी हैं।

जिन्होने मोक्षमार्गगामी भव्य जीवो के पीछे शीघ्रता से दौडने वाले महामोहनामक चोर राजा के किंकरभूत विषय कषाय रूपी लुटेरो से होने वाले भय को दूर करने के लिए (विषय-कषाय रूपी चोरो का नाश करने के लिए) निरतर सकल सिद्धान्त का रहस्यभूत निश्चय एव व्यवहार के भेद से विभाजित चार प्रकार के आराधना ग्रन्थ से ग्रथित शब्द ब्रह्म का आश्रय लिया है। अर्थात् विषय-कषायो से बचने के लिए चार प्रकार के आराधना ग्रन्थो का निरन्तर अध्ययन और अध्यापन करते है। जो अनेकान्त रूपी आकाश मार्ग मे सूर्य के समान आचरण कर रहे है, ऐसे श्री देवसेन आचार्य-

श्रेयोमार्ग की सिद्धि, शिष्टाचार का परिपालन, नास्तिकता का परिहार और शास्त्र की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिए, महावीर विशेषण से सयुक्त, परम सम्यक्त्वादि (सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान, केवलदर्शन, अगुरुलघुत्व, अवगाहनत्व, अव्याबाधत्व, सूक्ष्मत्व, वीर्यत्व) अष्ट प्रसिद्ध निर्मलतर गुणो से युक्त सिद्धो को भाव[१] और द्रव्य[२] दोनो प्रकार का नमस्कार करके "मैं आराधनासार ग्रन्थ कहूँगा।" ऐसी प्रतिज्ञा कर मगलाचरण करने के लिए स्तोत्र कहते है-

---

१ स्तुत्य के गुणों का मनमें चिन्तन करना, उनके प्रति अनुराग होना **भाव नमस्कार** है।

२ वचनों से स्तुति करना, हाथ जोड़कर सिर झुकाना **द्रव्य नमस्कार** है।

**विमलयरगुणसमिद्धं, सिद्धं सुरसेणवंदियं सिरसा।**
**णमिऊण महावीरं वोच्छं आराहणासारं॥१॥**

विमलतरगुणसमृद्ध सिद्ध सुरसेनवदित शिरसा।
नत्वा महावीर वक्ष्ये आराधनासारम्॥१॥

**वोच्छ** वक्ष्ये। कोसौ। अह देवसेनाचार्य । क। **आराहणासारं** आराधनासार मुमुक्षुभिराराध्यते या सा आराधना, आराधनाया सार आराधनासार त आराधनासार सम्यग्दर्शनादिचतुष्टयरूपेण सारीभूत। कि कृत्वा। **णमिऊण** नत्वा नमस्कृत्य। क। **सिद्धं** सिद्ध केवलज्ञानाद्यनतगुणप्रादुर्भावलक्षण परमात्मान। किंविशिष्ट। **विमलयरगुणसमिद्धं** निर्मलतर-शुद्धचैतन्यगुणसपूर्ण। पुन कि विशिष्ट। **सुरसेणवंदियं** सुरसेनवदित सौधर्मेन्द्रप्रमुखचतुर्णिकायामरानीकनमस्कृत। पुनरपि किंविशिष्ट ? महावीर अन्येषामप्याराधकपुरुषाणा ध्यानरणरगभूमावनादिलग्नकर्माष्टकविपक्षचक्रविनाशनैकसुभट ? केन। **सिरसा**

---

**निर्मलतर गुणों से परिपूर्ण, सुरसेन के द्वारा वदनीय महान् वीर सिद्धो को सिर से नमस्कार करके मैं देवसेनाचार्य आराधनासार ग्रन्थ कहूँगा॥१॥**

**श्री रत्नकीर्त्ति आचार्य** इन शब्दो का विशेष अर्थ करते है।

कर्मो से छूटने की इच्छा करने वाले मुमुक्षुओ के द्वारा जो क्रिया करने योग्य है, उसे **आराधना** कहते है। सम्पूर्ण आराधनाओ मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप ये सार (श्रेष्ठ) है। अत ये आराधना सार कहलाते है। विमलयरगुणसमिद्ध= अत्यन्त निर्मल गुणो से युक्त है अर्थात् निर्मलतर शुद्ध चैतन्य गुण से परिपूर्ण है। चारो निकाय के देवो के समूहो द्वारा वदनीय हैं, पूजनीय है। अत सुरसेन-वदनीय हैं। महावीर=अन्य आराधक पुरुषो के ध्यान रूपी रणागण मे अनादिकाल से लगे हुए आठ कर्म रूपी शत्रुओ के चक्र को विनाश करने मे सुभट हैं। जो इन सिद्धो का ध्यान करते है उनके कर्म रूपी शत्रु नष्ट हो जाते है। इसलिए महावीर सिद्धो का विशेषण है। ऐसे सिद्ध=केवलज्ञानादि अनन्तगुण जिनके प्रगट हो गये है ऐसे विकल परमात्मारूप सिद्ध भगवान को सिर झुकाकर, नमस्कार करके मै **देवसेनाचार्य आराधनासार** कहूँगा।

**अथवा,** महावीर आदि शब्दो की दूसरे रूप से व्याख्या करते है। विमलयरगुणसमिद्ध=प्रसिद्ध चार घातिया कर्म रूप अन्धकार के नाश होने से एक साथ उत्पन्न हुए प्रताप और प्रकाश की अभिव्यक्ति रूप सूर्य के दृष्टान्त के स्थानीय भूत, भविष्यत् वर्तमान रूप त्रिकालगोचर उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप तीन लक्षणो से लक्षित, तीन लोक के भीतर रहने वाले शुद्ध चैतन्य गुण से विलसित (शोभित) परमात्मा जीवनामा पदार्थ को आदि लेकर सारे (पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल) पदार्थो को एक समय मे सामान्य विशेष रूप से ग्रहण करने मे समर्थ ऐसे निर्मलतर केवलदर्शन और केवलज्ञान से परिपूर्ण, प्रसिद्ध **'सुरसेनवंदित'** गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और मोक्ष कल्याणक महोत्सव मे माता-पिता के साथ सम्पूर्ण चार निकाय के देवो के द्वारा वन्दनीय, **महावीरं 'ई'** चतुर्थ स्वरूप, एकाक्षर नाम प्रसिद्ध कोश मे लिखित लक्ष्मी

मस्तकेन। यदि च महावीरमिति विशेष्यपदपक्ष कक्षीकृत्य व्याख्यायते तदा। नत्वा। क। महावीर, ई इति चतुर्थस्वररूपमेकाक्षराभिधान प्रसिद्ध लक्ष्मीनामा 'रा ला इति धातुद्वय, आदाने ग्रहणे इत्यस्मिन्नर्थे वर्तते। विशिष्टा बाह्यचतुस्त्रिंशदतिशयप्रादुर्भूति-विराजमानसमवशरणपरमविभूत्यभ्यतरसहजवस्तुस्वभावी भूतानतचतुष्टयव्यक्तिलक्षणामीं लक्ष्मीं रात्यादत्ते गृह्णातीति वीर , महाश्चासौ वीरश्च महावीरस्त महावीर चरमतीर्थंकरपरमदेव अर्हद्भट्टारक श्रीवर्धमानस्वामिनामान। किंविशिष्ट। विमलतरगुणसमृद्ध प्रसिद्धघातिकचतुष्टयरूपसतमसविनाशप्रादुर्भूत युगपत्प्रतापप्रकाशाभिव्यक्तिसूर्योदयदृष्टातास्पदीभूतातीतानागत वर्तमानत्रिकालगोचरोत्पादव्ययध्रौव्यलक्ष्मत्रितयालिंगितत्रिभुवनोदरविवरवर्तिशुद्धचैतन्यविलास-प्रवर्तमानपरमात्मपदार्थादिसमस्तवस्तुस्वभावबोभूयमानकालकलानिदर्शनाश्लिष्टैक समयग्रहणसमर्थसामान्य-विशेषरूपवर्तमाननिर्मलतरज्ञानदर्शनाभिधानसर्वज्ञगुणसपूर्ण। पुन किंविशिष्ट ? सिद्ध प्रसिद्ध।

पुनरपि किं विशिष्ट ? सुरसेनवदित गर्भादिमहाकल्याणमहोत्सवेषु पितृभ्या सह सकलगीर्वाणचक्रनमस्कृत। केन। शिरसा मस्तकेनेति योजनिकाद्वार । विमलतरगुणसमृद्ध सुरसेन-वदित महावीर सिद्ध, पक्षे विमलतर-गुणसमृद्ध सिद्ध सुरसेनवदित महावीर शिरसा नत्वा आराधनासारमह वक्ष्य इति सक्षेपान्वयद्वार । सुरसेनवदितमित्यत्र सिद्धविशेषणपदे अभिधानसामर्थ्यात् केचन छायार्था अपि निष्पाद्यते। कथ ? सुराणा देवाना ग्रहणेन यद्यप्यूर्ध्वलोकस्वामित्वमालिन पचविधा ज्योतिष्का, सौधर्मेन्द्रप्रमुखा कल्पवासिनो भावना कुर्वाणा कल्पातीता अपि, अधोलोकस्वामित्वमालिनो भवनवासिदेवनिकायत्वाद्धरणेद्रप्रमुखाश्च केचन व्यतराधिपतयोऽपि, तथा व्यतरास्तिर्यग्लोकनिवासिनोपि सर्वे त्रिभुवनोदरविवरवर्तिनो देवा गृह्यते मध्यलोकस्वामित्वमालिन चक्रवर्तिप्रमुखा नरा , तिरश्चा स्वामित्वमाली सिंह तन्मुखा अन्येपि पशवो गृहीता ।

---

का वाचक है। 'रा' 'ला' ये दो धातु आदान (ग्रहण) अर्थ मे आते है। 'वि' विशिष्ट बाह्य चौबीस अतिशयों की प्रादुर्भूति से विराजमान समवसरण की परम विभूति से युक्त और अभ्यन्तर सहज स्वभावभूत अनन्त चतुष्टय की व्यक्ति रूप लक्ष्मी को धारण कर रहे हैं, ग्रहण कर रहे हैं उसे वीर कहते है। महान् वीर को महावीर कहते हैं। ऐसे विशेषणों से युक्त अन्तिम तीर्थकर परम देव अर्हन्त भट्टारक श्री वर्द्धमान भगवान को नमस्कार करके **आराधनासार** कहने की प्रतिज्ञा की है।

**अथवा**, सुरदेव शब्द के ग्रहण से ऊर्ध्व लोक के स्वामी पाँच प्रकार के (सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, प्रकीर्णकतारा) ज्योतिषीदेव, सौधर्म इन्द्र प्रमुख (इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, आभियोग्य, प्रकीर्णक, किल्विष) तथा इन्द्रादि कल्पना से अतीत कल्पातीत हैं। अधोलोक के स्वामी धरणेन्द्र प्रमुख दस प्रकार के (असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिग्कुमार) भवनवासी देव, तथा किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच, व्यतर हैं। तिर्यग्लोक में रहने वाले व्यतरदेव मध्य लोक के स्वामी हैं, इस प्रकार तीन लोक के स्वामी देवों के द्वारा वदनीय सुरसेन-वदनीय कहलाते हैं। अथवा- मध्यलोक का स्वामी चक्रवर्ती प्रमुख मानव और तिर्यंचोका स्वामी सिह प्रमुख पशु भी सुरसेन शब्द से ग्रहण किये जाते हैं।

भवणालय चालीसा विंतरदेवाण हुंति बत्तीसा।
कप्पामर चउवीसा चंदो सूरो णरो तिरिओ ॥

इति गाथाकथितशतेन्द्रवदितत्व। कथ भविष्यति। अयमप्यर्थोऽत्रैवातर्भवतीति। कथ। रसा पृथ्वी पूर्वोपार्जितविशिष्टपततमागण्य पुण्यकर्मोदयाश्लिष्टनायक प्रतापा जनधनधान्यकनकसमृद्धत्वाच्छोभन-विशेषणयुक्ता शोभनरसा सुरसा तस्या इन· स्वामी सुरसेन, अथवा सर्वराजाधिराजमहाराजमडलेश्वरमुकुटबद्धमूर्द्धभूतत्वात् शोभनो। रसेन सुरसेन सुरसेनेन चक्रवर्तिना वदित। सिंहपक्षेप्ययमेवार्थ । कथ। शोभना पुष्पितफलितशाड्वलितवनराजिमडिता वनभूमिरिति सुरसा तस्या इन सकलवनेचरमृगवृदनायकत्वात्स्वामी सुरसेन सिंहस्तेन वदित सुरसेनवदितमिति समर्थनतया मानवेद्रतिर्यगिद्रग्रहणसमर्थ इत्येकश्छायार्थ ॥ अनेन कायवाग्भ्या द्रव्यनमस्कार सूचितो, भावनमस्कार कथ घटिष्यते। वाचा अर्हत्सिद्धप्रमुखपरमेष्ठिस्वरूपशुद्धपरमात्मद्रव्यवस्तुस्तव-गुणस्तवनगभीरोदारार्थविराजमानसकलेशब्रह्मबीज-भूतनानास्तोत्ररूप । कायेन। पचागनत्या प्रणमनरूपो

---

भवनवासियो के चालीस, व्यतर देवो के बत्तीस, कल्पवासियो के चौबीस, ज्योतिषियो के सूर्य, चन्द्रमा, मनुष्यो मे चक्रवर्ती और तिर्यञ्चो मे सिह ये सौ इन्द्र होते हैं। सुरसेन शब्द से इन सौ इन्द्रों के द्वारा वदित कहा गया है।

**शका**-'सुरसेनवदित' शब्द का सौ इन्द्रो के द्वारा वदित यह अर्थ कैसे हो सकता है?

**उत्तर**-रसा नाम पृथ्वी का है। पूर्वोपार्जित विशिष्ट पुण्य कर्म के उदय से विशिष्ट प्रतापी, जन, धन, धान्य, सुवर्ण से परिपूर्ण शोभन रसा (पृथ्वी) सुरसा कहलाती है और उस शोभन पृथ्वी का 'इन' स्वामी सुरसेन (चक्रवर्ती) कहलाता है।

**अथवा,** सर्व राजा, अधिराज, महाराज, अर्धमडलीक, मडलेश्वर और मुकुटबद्ध राजाओ का शिरोमणि होने से, शोभन रस का स्वामी सुरसेन (चक्रवर्ती) कहलाता है। अत सुरसेनवदित का अर्थ चक्रवर्ती के द्वारा वन्दनीय है।

सिंह की अपेक्षा यह अर्थ है= पुष्पित, फलित, शाड्वलित वन से युक्त पृथ्वी सुरसा कहलाती है अर्थात् जो फल-फूल, घास आदि से शोभनीय पृथ्वी है, उसे सुरसा कहते हैं। उस सुरसा (शोभनीय पृथ्वी) का स्वामी सम्पूर्णवनचर मृगो के समूह मे नायक होने से सिह सुरसेन कहलाता है।

अत सुरसेनवदित इस पद से मानवेन्द्र और तिर्यगेन्द्र का भी ग्रहण होता है।

**प्रश्न**-इस शब्द से काय और वचन के द्वारा द्रव्य नमस्कार सूचित किया गया है। अत भाव नमस्कार कैसे घटित हो सकता है?

**उत्तर**-वचन के द्वारा अर्हन्त-सिद्ध प्रमुख परमेष्ठी स्वरूप शुद्ध परमात्म द्रव्य वस्तु का स्तवन, तथा उनके गुणो का स्तवन (उनके शरीर का स्तवन द्रव्य स्तवन है और गुणों का स्तवन गुण स्तवन है) तथा गभीर उदार अर्थ से युक्त सकल परमेश्वर के ब्रह्मबीजभूत नाना स्तोत्र करना **वाचनिक द्रव्य नमस्कार** है।

कायके द्वारा पचाग की नति से प्रणमन करना **कायिक द्रव्य नमस्कार** है। यह द्रव्य नमस्कार का लक्षण है।

**द्रव्यनमस्कारः**। इति द्रव्यनमस्कारलक्षण। त्रिगुप्तिगुप्तमुनिनायकेनारभ्यमाणो दु कर्मोदयसपादितनानासकल्प-विकल्पजालेप्याधिविरहितस्य शुद्धपरमात्मन सकलचराचरमिद जगत्सुप्त लोष्टनिष्पन्न वेति प्रतिभासकारणेन निर्विकल्पसमाधिनानुभवन **भावनमस्कार** इति भावनमस्कारलक्षण।

द्रव्यनमस्कारसूचितो भावनमस्कार कथ घटिष्यते इत्याशका भवता चेतसि वर्तते तदुत्तर शृण्वतु भवत । रसा शृगारादयो लोके प्रसिद्धास्तेषा मध्ये चरम· शातरस अनादिकालप्रज्वलितपचप्रकारससारदु -खमहादावानलविध्यापन-समर्थत्वात् परमानदोत्पादकत्वाच्च शोभनविशेषणविशिष्टो भवति। तत ससारशरीरभोगेषु परमनिर्वेदमापन्नै परमयोगीश्वरै सुरसेन सकलाध्यात्मकलाविलासास्पदीभूतेन शातरसेन निर्विकल्पसमाधिना वदितमनुभूत सुरसेनवदित। वदितमनुभूतमित्येतस्मिन्नर्थे कथमिति चेत्। सत्य। वदि अभिवादनस्तुत्यो , वदि इत्यय धातुरभिवादने नमस्कारे स्तुतौ स्तवने चेत्यर्थद्वये वर्तते। स्तुतिस्तु वचसा मनसा च कृत्वा द्विविधा। यत्र केवलेन वस्तुतत्त्वैकनिष्ठेन मनसा योगेन स्तुतिर्विधीयते तत्र तस्या अनुभूतिपर्याय केन निषिध्यते ततो वदितमनुभूतमित्यर्थ कथ न घटते। समाध्यवस्थास्वीकृतशातरसेन मनसानुभूतमिति ताडितार्थ ।

---

त्रिगुप्ति से गुप्त (युक्त) मुनिनायक के द्वारा आरभ्यमाण, दुष्कर्मो के उदयसे सम्पादित नाना प्रकार के सकल्प-विकल्प जाल होने पर भी मानसिक चिता (विकल्पजालों) से रहित, शुद्ध परमात्मा के यह सकल चर अचर जगत् सुप्त वा प्रस्तरनिष्पन्न की भाँति प्रतिभासित होता है, ऐसी निर्विकल्प समाधि के द्वारा परमात्मा का अनुभव करना **भाव नमस्कार** है।

द्रव्य नमस्कार से सूचित सूत्र से भाव नमस्कार कैसे घटित होगा? ऐसी **शंका** आपके मनमे है, उसका **उत्तर** सुनो। रस्यते आस्वाद्यते असौ रस , जिसका स्वाद लिया जाता है, अनुभव किया जाता है, उसे रस कहते है। जिस प्रकार लवण, मधुर आदि रसो का जिह्वा इन्द्रिय के द्वारा स्वाद लिया जाता है, आनन्द का अनुभव किया जाता है, दु ख का अनुभव किया जाता है उसी प्रकार शृगार आदि रसो के द्वारा आनन्द का अनुभव किया जाता है।

प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और अनुभाग के भेद से बध चार प्रकार का है। उनमे रस वा सुख-दु ख का अनुभव कराने वाला अनुभाग बध है। उस अनुभाग बन्ध के बिना प्रकृति, स्थिति और प्रदेश बध कुछ भी नहीं कर सकते। उसी प्रकार काव्य की रचना मे शृगार आदि रस के बिना उनके पठन, पाठन, वाचन, श्रवण आदि मे आनन्द का अनुभव नहीं होता इसीलिए मनीषियो ने, कवियो ने-

**शृगार-वीर-करुणा-हास्याद्भुत-भयानका .।**
**रौद्र-बीभत्स-शान्ताश्च नवैते निश्चिताः बुधै· ॥**

शृगार रस, वीर रस, करुण रस, हास्य रस, अद्भुत रस, भयानक रस, रौद्र रस, बीभत्स रस और शान्त रस के भेद से नौ प्रकार के रसो का कथन किया। रतिहासश्च शोकश्च क्रोधोत्साह भय तथा। जुगुप्सा विस्मयशमा स्थायिभावा प्रकीर्तिता । इन स्थायी भावो को ही क्रम से नव रस कहते है।

शृगार रस स्त्री-पुरुष के सयोग से उत्पन्न होता है अर्थात् पुरुष के सयोग से जो रति है उसे शृगार रस कहते है। वह दो प्रकार का है सयोग और विप्रयोग। स्त्री पुरुष का मिलन, सान्निध्य सयोग शृगार कहलाता है और उन दोनो के वियोग से होने वाला शृगार विप्रयोग शृगार कहलाता है। सयोग के प्रच्छन्न, प्रकाश आदि अनेक भेद है। इसके पात्र स्त्री-पुरुष है। पूर्वानुरागात्मक, मानात्मक, प्रवासात्मक और करुणात्मक के भेद से विप्रयोग शृगार चार प्रकार का है।

उत्साहात्मक वीर रस होता है। वह तीन प्रकार का है- धर्मोत्साह, दानोत्साह और सग्राम उत्साह र्थात् धर्मवीर, दानवीर और सग्रामवीर। इसका नायक श्लाघनीय गुण वाला होता है।

शोक से उत्पन्न वा शोकात्मक करुण रस होता है जिसे देखकर हृदय करुणा से ओत-प्रोत हो जाता है। भूमि पर गिर कर रोना, विवर्णभाव (भूमि पर लोट-पलोट होकर रुदन करना, शरीर को विवर्णता प्राप्त होना) मूढता, निर्वेद (विषाद), प्रलाप (यद्वा तद्वा बोलते हुए रुदन करना), अश्रुधारा का बहना आदि क्रियाओं से करुण रस जाना जाता है अर्थात् करुण रस मे ये भाव होते है।

हॅसी का मूल कारण हास्य रस कहलाता है अर्थात् हॅसी के द्वारा आतरिक आनद प्रगट किया जाता है वह हास्य रस है। हास्य रस की उत्पत्ति इष्ट अग के वेष की विकृति से होती है जैसे बहुरूपिया आदि को देखने से हॅसी की उत्पत्ति होती है। उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से हास्य रस तीन प्रकार का है। कपोल, ऑख आदि कृत उल्लास होठ के भीतर-भीतर रहता है अर्थात् मुस्कान होती है वह उत्तम हास्य रस है। जिस हॅसी मे थोडा मुख खुलता है वह मध्यम हास्य रस है तथा जो हास्य शब्द सहित होता है, जिसमे मुख पूरा खुलता है वह जघन्य हास्य रस कहलाता है।

असभाव्य वस्तु के देखने से वा सुनने से जो आश्चर्य होता है वह अद्भुत रस कहलाता है। यह चार विभाव भावो से प्रगट होता है। जैसे असभाव्य वस्तु को देखकर वा सुनकर नेत्रकमल विकसित हो जाते हैं, शरीर मे रोमाच उत्पन्न हो जाता हे, पसीना आ जाता है, नेत्र टिमकार रहित निश्चल हो जाते है, साधु-साधु वचन निकलते है और वाणी मे गद्गदपना आ जाता है। ये अद्भुत रस के चिह्न हैं। इनसे अद्भुत रस का आना जाना जाता है।

जो भय प्रकृति वाला है, भयानक वस्तु के देखने से जो भयभीत होता है डरता है, वह भयानक रस है। भयभीत हुआ प्राणी दशो दिशाओ का अवलोकन करता है, उसका मुखशोष होता है, शरीर कॉपने लग जाता है, वाणी मे गद्‌गदपना आ जाता है, सभ्रम होता है, त्रास होता है, भय से शरीर विवर्ण हो जाता है, मोहित होता है, मूढ होता है- सर्वत्र भय से मूर्च्छित होता है- ये भयानक रस के चिह्न हैं। इस भयानक रस के पात्र प्राय स्त्री, बालक और नीच लोग होते हैं। अर्थात् भयानक रस का वर्णन करते हुए ये ही शोभित होते हैं।

रौद्र रस क्रोधात्मक होता है, शत्रुओ के द्वारा पराजित होने पर क्रोध आता है। अर्थात् अपनी पराजय होने पर जो क्रोध उत्पन्न होता है, भीषण प्रवृत्ति होती है, उग्र क्रोध होता है, वह रौद्र रस कहलाता है। इसका पात्र क्रोधी होता है। जब क्रोध मे आकर मानव शस्त्र फेकता है, शत्रु को मारने के लिए दौडता है, परस्पर घात करने मे तत्पर होता है, हिंसा मे आनद मानता है वह रौद्र रस कहलाता है। इसका पात्र रौद्र ध्यानी होता है।

मल, मूत्र, कफ, पीप आदि बीभत्स-ग्लानिमय पदार्थों का नाम सुनने से, उन पदार्थो के अवलोकन से या उनके स्पर्श से जो ग्लानियुक्त भाव होते हैं, चित्त मे ग्लानि होती है, उसको बीभत्स रस कहते है।

सम्यग्ज्ञान से उत्पन्न शात रस होता है। इस शात रस का नायक (पात्र) निस्पृही साधु होता है। यह शात रस राग-द्वेष के परित्यागी सम्यग्ज्ञानी के उत्पन्न होता है।

इन नौ रसो मे सर्वोत्कृष्ट रस आत्मकल्याणकारी, आत्मोत्थ सुखकारी, लोकोत्तर शात रस है। उस शात रस का कारण है वीर रस। शेष सात रस ससार के कारण हैं, दुर्गति मे ले जाने वाले हैं।

यद्यपि शात रस सिवाय, आठो ही रस लौकिक रस हैं फिर भी धर्म के उत्साह के बिना शात रस की प्राप्ति नहीं होती है अत तीन वीर-रसो मे धर्मवीर रस शात रस का कारण है।

शृगार रस आदि का स्थायी भाव, सात्विक भाव, अनुभाव, विभाव भाव, व्यभिचारी भाव और इनकी दृष्टि आदि का कथन रसग्रन्थो मे किया है।

सामान्य से रस का वास्तविक स्वरूप है- ज्ञान और ज्ञेय मे भेद न रहे, तदाकार हो जाए, आत्मा अपनी आत्मा मे लीन हो जाए, उसे अन्य ज्ञेय की इच्छा न रहे, वह शात रस है।

शात रस का रसिक सम्यग्दृष्टि होता है- सारे रसो से भिन्न वह अपने आत्मानुभव (रस) मे लीन होने की इच्छा रखता है।

**सब रसो का रस चखें, अनुभव रस के मॉहि।**
**तातै अनुभव सारखो और पदारथ नाहि।।**

सब रसो के रस का आस्वादन एक अनुभव रस मे होता है। इसलिए अनुभव रस के समान कोई दूसरा रस नहीं है।

बनारसीदास जी ने कहा है-

**नृत्य कुतूहल तत्त्व का मरिपचि देखो धाय।**
**निजानन्द रस को चखो आन सबे छिटकाय।।**

जब यह आत्मा ज्ञेय-ज्ञायक एव भाव्य-भावक भाव के स्वरूप को जानकर तथा विभाव भावो को त्यागकर निज (शात) रस मे लीन होता है, उस समय उसे जो आनन्द होता है, उसका कथन करना शक्य नहीं है, वह वचन के अगोचर है।

**अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार कलश** मे लिखा है-

**सर्वत: स्वरसनिर्भरभाव, चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम्।**
**नास्ति नास्ति मम कञ्चन मोह:, शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि।।३०।।**

मै निरन्तर सर्वत स्वरस से पूरित स्वकीय ज्ञानमय अपनी आत्मा का ही अनुभव करूँ- अपने स्वरूप मे लीन रहूँ, किसी के साथ मेरा ममत्व नहीं है, मै एक चिदानन्द शुद्ध चैतन्यमय ज्ञानघन निधि हूँ। निज शात रस के स्वाद के सिवाय मेरा कुछ भी स्वभाव नहीं है। मेरे असख्येय प्रदेशो मे भरा हुआ ज्ञान रस है, शात रस है, उसी का मै रसिक बनूँ।

अमृतचन्द्राचार्य ने शात रस का अनुभव करने के लिए प्रेरणा दी है-

**त्यजतु जगदिदानी मोहमाजन्मलीढं,**
**रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत्।**
**इह कथमपि नात्माऽनात्मना साकमेक:,**
**किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्ति।।**

यद्यपि आत्मा अनादिकाल से पुद्गल (शरीर) के साथ रह रहा है परन्तु किसी भी काल मे वा किसी भी क्षेत्र मे किसी भी प्रकार से यह आत्मा अनात्मा (शरीर) के साथ तादात्म्य वृत्ति (एकपने) को प्राप्त नहीं हुआ है। इसलिए हे ससारी प्राणियो ! अनादिकाल से आत्मा के साथ लगे हुए इस मोह भाव को छोडो, मोह का परित्याग करो। शृगार आदि रसो मे लीन इस मोह का विनाश करो और शात रस के रसिक जनों को रुचिकर उदित हुए इस ज्ञान रस (शात रस) का आस्वादन करो। इस श्लोक मे शात रस

के आस्वादन की प्रेरणा की है क्योकि अनादिकाल से यह प्राणी मोह से कलुषित ज्ञान के द्वारा शृगारादि विभाव भावरूप रसो का आस्वादन कर रहा है, उनमे लीन होकर निजस्वरूप को भूला हुआ है। इसे स्वकीय परिणति का भान-ज्ञान नहीं हो रहा है। निज परिणति का भान शान्त रस मे ही होता है। अत शात रस के अनुभव करने का प्रयत्न करना चाहिए।

**मज्जंतु निर्भरममी सममेव लोका·,**
**आलोकमुच्छलति शातरसे समस्ता:।**
**आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणी भरेण,**
**प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिन्धु:।।**

अनादिकाल से जीव और पुद्‌गल का सयोग होने से यह आत्मा ससार मे नृत्य कर रहा है, आठों रसो मे लीन है, उनको उनसे हटाने के लिए आचार्यदेव कहते हैं-

यह ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा विभ्रम रूप चादर को निज शक्ति से दूरकर आप सर्वांग प्रकट हुआ है- जिसका शातरस अलोकाकाश तक उछल रहा है। हे ससारी प्राणियो ! इस शातरस मे लीन हो जाओ। अपने आप मे रमण करो।

ये नौ रस लोक मे प्रसिद्ध है। इनमे अतिम जो शातरस है, वह शात रस ही अनादि काल से प्रज्वलित पच प्रकार के ससार दु ख रूप महादावानल के विध्यापन (बुझाने) मे समर्थ होने से अथवा परमानन्द का उत्पादक होने से सु-शोभन विशेषण से विशिष्ट है (सुरस है)। इसलिये ससार, शरीर और भोगो से परम वैराग्य को प्राप्त योगीश्वर **'सुरसेन'** कहलाते है क्योकि वे ही शात रस मे मग्न हैं।

उस सकल अध्यात्म कला के विलास के स्थानभूत शात रस मे मग्न योगी गणो से निर्विकल्प समाधि के द्वारा अनुभूत को सुरसेनवदित कहते हैं।

**शंका** - वदित का अर्थ अनुभूत कैसे हो सकता है?

**उत्तर** - ''वदि अभिवादन-स्तुत्यो '' इस सूत्र से वदि धातु अभिवादन मे, नमस्कार मे, स्तुति मे, स्तवन मे इन दोनों अर्थो मे प्रयुक्त होता है। स्तुति, वचन और मन से होती है।

जहॉ पर केवल वस्तुतत्त्व-एकनिष्ठ मन योग के द्वारा स्तुति की जाती है, वह स्तुति नामक अनुभूति पर्याय किसके द्वारा निषिद्ध की जाती है। अत वदित का अर्थ अनुभूति कैसे घटित नहीं होता? अवश्य ही होता है।

समाधि अवस्था मे स्वीकृत शात रस वाले मन के द्वारा अनुभूत है। (यह सुरसेनवदित शब्द का अर्थ है।)

तथा च **द्वितीयपक्षे** रसशब्द स्वादेपि वर्तते। ये किल पचेंद्रियविषयामिषस्वादास्ते जीवस्य जलौकाजतुविशेषस्य दुष्टरुधिरपानवदतृप्तिजनकत्वाच्च न शोभना। अय तु वीतरागनिर्विकल्पसमाधिनानुभूत्यमान स्वस्वभावोत्थ परमातींद्रियसुखरसास्वाद ससारतृष्णास्फेटकत्वाद्वैरस्याभावात् प्रतिसमय साररसस्य सपादकत्वाच्च विशेषत शोभनविशेषणेन विशेष्यते। तत. सुरसेन निर्विकल्पसमाधिजन्यमानपरमानदातींद्रियसुखस्वादेन वदितमनुभूतमित्यर्थद्वयाश्लिष्टभाव-नमस्कारप्रतिपादको **द्वितीयश्**छायार्थ ॥

**तृतीयपक्षे** सुरसेण वदियमित्येकविभक्त्यतस्य खडनत्रय विभज्य व्याख्या विधीयते कथ। सुरसेणवदिय सुरसे णव दिय सुरसे नव द्विजमिति। कथभूत सिद्ध। द्विज द्विजमिव द्विज ब्राह्मण। क्व। सुरसे स्वस्वभावामृतजले। रसशब्दो जलेप्यस्ति जल तु स्नानपानशौचकारण स्यात्। तत सिद्धात्मना स्नानपानशौचकारणगुणोपचारात् स्वस्वभावोत्थममृतजल शोभनविशेषणविशिष्टमभिधीयते तस्मिन्,

---

**दूसरे पक्ष** मे रस शब्द स्वाद मे भी आता है। जो पचेन्द्रिय विषयरूपी आमिष का स्वाद लेते है वे जोक (जन्तु विशेष) के दुष्ट खून पीने के समान अतृप्तिजनक होने से श्रेष्ठ नहीं है अर्थात् पचेन्द्रिय विषयसुख भी अतृप्ति का कारण है इसलिए शोभनीय नहीं हैं। परन्तु वीतराग निर्विकल्प समाधि के द्वारा अनुभूयमान स्व-स्वभाव से उत्पन्न परम अतीन्द्रिय सुख रस का स्वाद ही ससार की तृष्णा का उच्छेदक है (नाशक है)। परस्पर वैर-विरोध का घातक है और प्रतिक्षण सार (आत्मानुभव) रस का सम्पादक है इसलिए आत्मानुभव रस ही शोभनीय विशेषण से विशिष्ट होने से सुरस है और इन्द्रियजन्य रस कुरस है। अत 'सुरसेनवदित' इस शब्द से निर्विकल्प समाधि जन्य परमानन्द अतीन्द्रिय सुख स्वाद से वदित अनुभूत इन दोनो अर्थो से आश्लिष्ट भाव नमस्कार का प्रतिपादक है **अर्थात् वास्तव मे निर्विकल्पसमाधि के द्वारा आत्मा का अनुभव करना ही भाव नमस्कार है।**

**तीसरे पक्ष** मे 'सुरसेणवदिय' इस पद को तीन प्रकार से विभाजित करके व्याख्या की जा रही है।

'सुरसे णव दिय' सुरस में नवीन द्विज (ब्राह्मण)। **प्रश्न** - यह सिद्ध कैसे होता है?

**उत्तर** - द्विज के समान द्विज होता है अर्थात् जिसका जन्म दो बार होता है उसको द्विज कहते है एक बार माता-पिता से जन्म होता है, दूसरा गुरु-सस्कार से जन्म होता है। अत ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को द्विज (ब्राह्मण) कहते है।

अथवा, रस का अर्थ जल है और जल स्नान, पान और शुचि का कारण है। उस जल मे स्नान करके अपने को शुचि मानते है वे ब्राह्मण कहलाते है।

'सुरस' शोभनीय रस (आत्मानुभव रूप) सुरस (शोभनीय सर्वोत्कृष्ट जल) उसमे अवगाहन करके अपने आप को पवित्र करते है, उसका पान कर ससार सम्बन्धी विषयाभिलाषारूप तृष्णा का उच्छेद करते हैं वे 'सुरसे णव दिय' वे ब्रह्म (निर्विकल्प समाधि) मे लीन योगीश्वर रूप ब्राह्मण के द्वारा वदित अर्हत्प्रभु

नान्यस्मिन्, लौकिकक्षीरसागरगगादितीर्थसमुद्भूते। ब्राह्मणा हि स्नानाचमनशौचपरायणा गगादिमहातीर्थजलेषु निलीना भवति। तत सिद्धात्मना सर्वकालस्वस्वभावामृतजलनिलीनाना ब्राह्मणोपचाररूपकालकारविशेषणमस्मिन् व्याख्याने न दोषाय। पुन किंविशिष्ट। नव प्रतिसमयस्वभावोत्थानतगुणानामनुभवनमुख्यतया नवमिति यावत्। अथवा अनव न नव अनवस्त अनव द्रव्यस्वभावापेक्षया पुरातनमनादिकालीनमित्यर्थ । तथा चास्मिन्नेव पदखडनत्रये अन्यापि व्याख्या भवति, शोभनो रसो जल पानीय विद्यते यम्मिन्निति सुरसो मानससरोवर यतो लोके किलैषा सिद्धि ।

**अस्ति यद्यपि सर्वत्र नीरं नीरजमंडित।**
**रमते न मरालस्य मानस मानसं विना।।**

इति सुभाषितत्वात्। तत सर्वेषु जलाशयेषु मानससरोवर एव सुरस इत्याख्यायते। अत्र तु स्वस्वभावोत्थपरमामृतरसपूरपरिपूर्णत्वात् सुरसो मोक्षाभिधानमानससरोवरो गृह्यते। किंविशिष्ट सिद्ध। द्विज पक्षित्वात् द्विजग्रहणेन सामान्यत्वात्सर्वे पक्षिणो गृह्यते। कुत । हसविशेषग्रहणविशेषणसामर्थ्येन। किंविशिष्ट द्विज। अनव पुरातन पुरातनशब्दस्तु ज्येष्ठगरिष्ठोत्तमप्रधानार्थेषु प्रवर्तते। ततोऽनवामिति विशेषणेन सकलपक्षिज्येष्ठत्वाद्गरिष्ठत्वादुत्तमत्वात्प्रधानत्वाच्च द्विजो हस एव लभ्यते।

---

हैं। वा ब्राह्मण लोग गगादि महातीर्थजल मे स्नान आचमन करके अपने को पवित्र मानते हैं अत ब्राह्मण यह रूपक अलकार विशेषण इस व्याख्यान मे दोषदायक नहीं है। क्योकि इस दृष्टान्त से यह सिद्ध किया है कि स्व-स्वभावोत्थ जल मे जो निरतर लीन रहते हैं अत शोभनीय रस स्वस्वभावोत्थ आत्मानुभव ही है। सर्वकाल उस जल मे लीन रहने से निर्विकल्प समाधि वाले योगी ब्राह्मण कहलाते हैं अत यह **भाव नमस्कार** है।

अथवा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा 'सुरसे नव दिय' नव-प्रतिसमय स्वभावोत्थ अनन्तगुणो का अनुभव होने से वह स्वभावोत्थानन्द का अनुभव नवीन कहलाता है। अथवा द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा आत्मानुभव नवीन नहीं है, 'अनव' है पुरातन है, अनादिकालीन है। उस आत्मानुभव मे निरतर लीन रहते हैं तथा इस तीन प्रकार पद-खण्डना से अन्य रूप से भी व्याख्या होती है।

शोभन रस (जल) जिसमे होता है वह सुरस (मानसरोवर) कहलाता है। क्योकि लोक में भी यह सिद्धि है-यद्यपि सर्वत्र कमलो से मण्डित सरोवर हैं परन्तु हसो का मन मानसरोवर को छोडकर अन्यत्र रमण नहीं करता है। यह सुभाषित है। इसलिए सर्व जलाशयो मे मानस सरोवर ही 'सुरस' कहलाता है।

अथवा यहाँ पर 'सुरसेनवदित' यह सिद्धो का विशेषण है अत सिद्ध भगवान निरतर अपने स्वभाव से उत्पन्न परमामृत रस के पूर से परिपूर्ण होने से सुरस मोक्ष नाम का मानस सरोवर ग्रहण किया जाता है अत जो उस मोक्ष नामक सरोवर मे लीन है वह सुरसेनवदिया कहलाते हैं। ''सिद्ध कैसे कहलाते हैं?। सिद्ध द्विज कहलाते हैं, द्विज ग्रहण से सामान्यत सर्व पक्षियो का ग्रहण होता है। कैसे? हस विशेष ग्रहण विशेषण के सामर्थ्य से।

क्व । सुरसे। मोक्षमानससरोवरे। यथा मानससरोवरे हसास्तिष्ठति तथा मोक्ष-मानससरोवरे सिद्धहसास्तिष्ठति इत्यभिप्राय । इति पदखडनत्रयसमुद्भूतार्थ-द्वयगर्भस्तृतीयश्छायार्थ ॥ तथा च **चतुर्थपक्षे** रसशब्देन वीर्य तत सुष्ठु अतिशयवान् कर्मारिचक्रशातनत्वात् रसो वीर्य बल यस्य स सुरस अर्थ-सामर्थ्यान्मुनिसमुदय तस्यैव तत्र प्रधानत्वात् नान्ये रणशूरा सुभटा रौद्रध्यानाधीनतया नारकगतिसाधकत्वात्, सुरसेन मुनिसमुदायेन वदित निर्विकल्पसमाधिनानुभूत सुरसेन वदितमिति **चतुर्थ**श्छायार्थः।

**पंचमे पक्षे** रसशब्दो रागेपि वर्तते। शोभन सवेगास्तिक्यानुकपादिगुणविशिष्टलक्षणो रसो रागो यस्य स सुरस अर्थाच्चतुर्थगुणस्थानादिवर्ती सरागसम्यग्दृष्टिजीववृद तस्यैव तत्र प्रवर्तनत्वात्। न तु

---

द्विज किस विशेषण से विशिष्ट है? अनव= अनव है- पुरातन है। पुरातन शब्द ज्येष्ठ, गरिष्ठ, उत्तम और प्रधान अर्थ मे आता है। इसलिए अनव यह विशेषण सकल पक्षियो मे ज्येष्ठ, गरिष्ठ, उत्तम और प्रधान होने से (द्विज शब्द से) हस पक्षी का ग्रहण होता है। जिस प्रकार मानसरोवर मे हस लीन होता है,रमण करता है, उसी प्रकार 'सुरस' मोक्षरूपी मानसरोवर मे लीन रहने से सिद्ध भगवान हस कहलाते है। इस प्रकार पदखण्डन तीन से उत्पन्न दो अर्थ होते है।

अब **चतुर्थ प्रकार** से इस गाथा का अर्थ कहते हैं। रस शब्द का अर्थ वीर्य भी होता है इसलिए 'सुष्ठु' अतिशयवान कर्म रूपी शत्रु के चक्र का नाशक होने से रस वीर्य कहलाता है। सुष्ठु वीर्य बल जिसके होता है, वह सुरस कहलाता है। अत सुरसशब्द से मुनिगण का ग्रहण होता है। अर्थात् सुरस का अर्थ मुनिराज है। क्योकि यहाँ पर मुनिराज की मुख्यता है, वे ही शूरवीर भट है।

मुनिराज को छोडकर जो अन्य रण (युद्ध) मे शूर है वे शूरवीर नहीं है। क्योकि रण मे शूर, भट नरक गति के कारणभूत रौद्र ध्यान के आधीन है। अत 'सुरसेन' मुनि समुदाय से वदित वा निर्विकल्प समाधि के द्वारा अनुभूत सुरसेनवदित कहलाते है।

अथवा-रस शब्द का प्रयोग राग मे भी होता है। अत शोभनीय सवेग (ससार, शरीर और भोगो से विरक्ति), आस्तिक्य (जिनेन्द्र भगवान के वचनो पर दृढ विश्वास), अनुकम्पा आदि गुणविशिष्ट राग जिसके होता है वह 'सुरस' कहलाता है। अर्थात् चतुर्थ गुणस्थानवर्ती आदि सराग सम्यग्दृष्टि सुरस कहलाते है। क्योकि सराग सम्यग्दृष्टियो के वीतरागता के प्रति जो राग होता है वह शुभ राग है अर्थात् सराग सम्यग्दृष्टि की ही प्रशम, सवेग, जिनेन्द्रभक्ति आदि शुभ राग मे प्रवृत्ति होती है। परन्तु ससार-समुद्र मे गिरने का कारण होने से माला, चन्दन, वनिता, आदि पचेन्द्रिय विषयसुख के रागरस के लम्पट महामिथ्यादृष्टि का राग सुरस (शोभनराग) नहीं है, शुभ राग नहीं है, अपितु कुरस (कुराग) ही है। क्योकि पचेन्द्रिय विषयों का राग अनन्त संसार के परिभ्रमण का कारण है। इसलिए सराग सम्यग्दृष्टि के द्वारा वदित, नमस्कृत, स्तुत,

ससारसमुद्रसपातकारणस्रक्-चदनवनितादिविषयसुखरागरसलपटो महामिथ्यात्वाविष्टो जतूत्कर किंतु स कुरस एव अनतभवभ्रातिसाधकत्वात्, तेन सुरसेण वदित नमस्कृत स्तुतमनुभूत सुरसेन वदित यत· सरागसम्यग्दृष्टयो जीवा सवेगास्तिक्यपरमानुकपादान पूजाषडावश्यक क्रियामूलोत्तर गुणपरायणा शास्त्रे व्यावर्णिता·। वीतरागसम्यग्दृष्टयस्तु प्रतिगुणस्थानमनतगुणविशुद्धितोयप्रक्षालितपरिणामत्वात् केवलेन सकलक्रियाकाडगर्भेण निर्विकल्पसमाधिना परमात्मानमनुभवति। एव सरागवीतरागयो सम्यग्दृशोर्भेदो भवतीत्यभिप्राय· इति **पचम**श्छायार्थ ॥

---

अनुभूत, सुरसेनवदित सिद्ध भगवान होते हैं। क्योकि शास्त्र में सराग सम्यग्दृष्टि जीव ही सवेग, आस्तिक्य, अनुकम्पा, दान, पूजा, षट् आवश्यक (प्रतिक्रमण,[१] प्रत्याख्यान,[२] समता,[३] वदना,[४] स्तुति,[५] कायोत्सर्ग[६]) क्रिया[७], मूलगुण[८] और उत्तरगुणपरायण[९] वर्णित हुए है। परन्तु वीतराग सम्यग्दृष्टि प्रत्येक गुणस्थान में अनन्तगुणी विशुद्धि वाले परिणाम रूपी जल के द्वारा अपने मन का प्रक्षालन करके सकल क्रियाकाण्ड जिसमे गर्भित है- ऐसी केवल निर्विकल्प समाधि के द्वारा परमात्मा का अनुभव करते हैं। इस प्रकार सराग सम्यग्दृष्टि और वीतराग सम्यग्दृष्टि मे अन्तर होता है। अत सुरसेनवदित का अर्थ निर्विकल्प समाधि के द्वारा योगी जन जिनका अनुभव करते है, ऐसे सिद्ध होते है। यह इस गाथा का **पॉचवॉ अर्थ** है।

---

१ भूतकाल मे लगे हुए कर्मों का पश्चात्ताप करना।

२ भविष्यत्काल मे होने वाले पापो का निराकरण करना।

३ मानसिक सतोष रखना।

४ पचाग नमस्कार करके स्तोत्र पढना।

५ चौबीस भगवान की स्तुति करना।

६ शरीर से ममत्व छोडकर आत्मध्यान मे लीन होना।

७ षट् आवश्यक, णमोकार मत्र का जाप और शून्य घर आदि मे प्रवेश करते समय निस्सहि और आसहि का उच्चारण करना।

८ पॉंच महाव्रत, पाँच समिति, पच इन्द्रियरोध, षट् आवश्यक, स्नान नहीं करना, अचेलकत्व (वस्त्र नहीं रखना), दतौन नहीं करना। एक बार भोजन करना। खडे-खडे भोजन करना। जमीन पर सोना।

९ हिंसादि २१ को अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार इन चार से गुणा करने पर ८४ भेद होते हैं। इनको पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, दो, तीन, चार इन्द्रिय सैनी और असैनी से गुणा करने पर ८४० भेद होते है।

८४० भेद को आलोचना, प्रतिक्रमण, उभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार, उपस्थापना और श्रद्धान शुद्धि के इन भेदों से गुणा करने पर ८४०० भेद होते हैं। आलोचना दोष के दस भेदों से गुणा करनेपर ८४००० भेद होते हैं। आलोचना के दस दोष इस प्रकार हैं-

१ आकपित = अनुकम्पा उत्पन्न कराकर दोषो का कथन करना।

तथा च **षष्ठे पक्षे** सुरसेण वदियमित्यस्य पदत्रय विधायार्थ समर्थ्यते। सुरसेण वदिय, रसशब्देन विष ''विष क्ष्वेडो रसस्तीक्ष्यमिति'' विश्व·। ततोऽनतानतजन्ममहामूर्छाबीजत्व प्राणापहारकत्वात् सुष्टु अतिशयवान् योऽसौ रसो विष स सुरस सुविष व्युत्पत्त्या कर्मैव न तु हालाहलादि तस्य एकजन्मन एव प्राणापहारकत्वात्।

तत कथभूत सिद्ध। तेन सुरसेन कर्मणा दित खडित 'दो अवखडने' वियोजितमिति यावत्। यथा किल खडित पदार्थ· उभयापेक्षया वियोजित स्यात् तथा चाय सिद्ध कर्मणा वियोजित पृथग्भूत इत्यर्थ ।

---

**अथवा - छठे पक्ष** मे रस शब्द का अर्थ विष भी होता है। ''विष-क्ष्वेडो रसस्तीक्ष्यमिति'' विश्व । विश्वकोष मे लिखा है कि विष, क्ष्वेड्, रस और तीक्ष्य ये एकार्थवाची है। इसलिए अनन्तानन्त जन्म की महामूर्च्छा का कारण होने से, वा ज्ञानादि भाव प्राणो का अपहारक होने से कर्म ही अतिशय सुष्ठु 'सुरस' महाविष है, सुविष है, हालाहल विष है। अन्य विष एक जन्म सम्बन्धी प्राणो के घातक होने से हालाहलादि विष नही है। इसलिए जिन्होने 'सुरस' कर्म रूप महाविष का 'दित' खण्डन कर दिया है- क्योकि 'दो अवखण्डने' दो धातु खण्डना अर्थ मे आती है अत दित= खण्डन कर दिया है, नाश कर दिया है।

जैसे खण्डित पदार्थ दोनो अपेक्षाओ से वियोजित होता है उसी तरह सिद्ध परमेष्ठी भी कर्म से वियुक्त है, पृथग्भूत हैं।

---

२ अनुमानित = कितना प्रायश्चित्त देंगे ऐसा अनुमान लगाकर दोषो को कहना।

३ दृष्टदोष = दूसरो के द्वारा ज्ञात दोषो को कहना, अज्ञात को छिपाना।

४ बादर = सूक्ष्म दोषों की परवाह न करके स्थूल दोषो को गुरु के समक्ष प्रकट करना।

५ सूक्ष्मदोष = स्थूल दोषो को छिपाकर सूक्ष्म दोषो को कहना।

६ छिन्न दोष = ऐसा दोष लगने पर क्या प्रायश्चित्त दिया जाता है, ऐसा पूछकर तत्पश्चात् दोषो का कथन करना।

७ शब्दाकुलित = पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण के समय जब जोर से शब्द हो रहा हो उस समय कहना।

८ बहुजन - अनेक साधुओ के पास जाकर प्रायश्चित्त लेना।

९ अव्यक्त दोष- दोषों का स्पष्ट कथन नहीं करना।

१० तत्सेवी - अपने समान दोषी के प्रायश्चित्त को सुनकर स्वय प्रायश्चित्त लेना।

८४००० भेदों को स्त्रीससर्ग, प्रणीतरससेवन, गधमालादि सुगधित पदार्थो का सस्पर्श, कोमल शय्यासन, शरीर पर आभूषण आदिका धारण, गीतादि का श्रवण, अर्थग्रहण, कुशीलोकी सगति, राजसेवा और रात्रिसचरण इन दस से गुणा करने पर ८४०००० भेद होते हैं। इन भेदों को पाँच इन्द्रियो को वश में रखना तथा पाँच प्रकार के जीवों की विराधना नहीं करना- इन दश प्रकार के सयमो से गुणा करने पर ८४००००० उत्तर गुण होते हैं।

पुन कि विशिष्ट। व पश्चिमदिगीश ''व पश्चिमदिगीशे स्यादित्यभिधानात्''। पश्चिमदिगीशमित्युक्ते कोर्थो लभ्यते। पश्चिमश्चासौ दिक् पश्चिमदिक् तस्या ईश स्वामी। इह दिक्शब्दो गत्यर्थे गृह्यते यतो जीवस्य सर्वाभ्यो गतिभ्य पश्चिमा चरमा गतिर्मुक्तिर्भवति तत पश्चिमदिगीश मुक्तिस्वामिनमित्यभिप्राय इति **षष्ठ**श्छायार्थ ॥

सप्तमेपि पक्षे रसशब्दो देहधातुषु वर्तते अत्राप्युपरितनपदखडनत्रय विगृह्य व्याख्या विधीयते। सुष्ठु अतिशयेन रसा असृङ्मज्जामेदास्थिप्रमुखा· शरीरधातवो यस्मिन् स सुरस शरीरमेव। किंविशिष्ट सिद्ध। दित खडित रहित वियोजितमिति यावत्। केन। सुरसेन शरीरेण। पुन किंविशिष्ट। व पश्चिमदिगीश मुक्तीशमिति **सप्तम**श्छायार्थ ।

अष्टमेपि पक्षे रसशब्दो बोले वर्तते बोलशब्दस्तु गधरसे प्राणार्थेपि वर्तते ''बोलो गधरसे प्राणे इत्यभिधानात्'' इह तु प्रयोजनवशात् प्राणार्थे गृह्यते, सुष्ठु अतिशयवता रसेन बोलेन पचेद्रियादिदशप्राणसमुदायेन दित खडित वियोजितमिति वमिति पूर्वोक्तमेवेत्य**ष्टम**श्छायार्थ ॥

---

'व' शब्द का अर्थ है 'पश्चिम दिगीश'। व के पश्चिम और दिशा दोनो अर्थ होते हैं। 'व पश्चिम दिगीशे' अभिधान कोष मे लिखा है- व शब्द पश्चिम दिशा और ईश अर्थ मे आता है। जिसका अर्थ है- पश्चिम दिशा का स्वामी। दिक् शब्द गति अर्थ मे है और जीवो की पश्चिम (चरम, उत्तम) गति मोक्ष है। उसका स्वामी, पश्चिम दिशा का स्वामी- मुक्ति रमापति अर्थ होता है। अत ''सुरसेन व दित'' का अर्थ मुक्तिरमा के पति सिद्ध भगवान् है।

**सप्तम पक्ष** मे रस शब्द देहधातुओ मे आता है। यहॉ भी उपरितन तीन खण्ड पदो को ग्रहण कर व्याख्या की जाती है। 'सु' सुष्ठु (अच्छा) 'रस' हड्डी, रक्त, मज्जा, मेद आदि सात धातु जिस शरीर मे है वह 'सुरस' शरीर ही है। उस सप्त धातुमय शरीर का जिन्होने 'दिय' खण्डन कर दिया है, नाश कर दिया है अर्थात् सुरसेन-शरीर से जो रहित है। व= जो मुक्ति के स्वामी हैं वे सिद्ध कहलाते है।

**अष्टम पक्ष** मे 'रस' शब्द का अर्थ बोल भी होता है और बोल शब्द गध, रस और प्राण अर्थ मे आता है।

''बोले गधरसे प्राणे इत्यभिधानात्'' ऐसा अभिधान कोष मे लिखा है। परन्तु यहॉ पर प्रयोजनवश 'रस' शब्द का अर्थ 'प्राण' ग्रहण करना चाहिए। जिसका अर्थ है कि जो 'सु' भली प्रकार से 'रस' पॉच इन्द्रिय, मन-वचन काय ये तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास रूप दस प्राणो का 'दिय' खण्डन करके, नाश करके 'व इन'' मुक्ति रमा के स्वामी हो गये है, उनको 'सुरसेन व दिय' कहते है, यह सिद्ध का विशेषण है।

नवमे पक्षे रसशब्दस्तिक्तादौ वर्तते तिक्ताम्लमधुरकटुकषायरसनेद्रियविषया· सर्वजनप्रसिद्धा·। तिक्तादिरित्युपलक्षण रूपादीना ग्राहकत्वात् शोभनस्तिक्तादिरसोपलक्षण स्पर्शरसगधवर्णशब्दसमुदय सुरस सुरसेन तिक्तादिरसोपलक्षणेन स्पर्शरसगधवर्णशब्दसमुदायेन दित खडित रहित वियोजितमिति यावत्। उक्त च **परमात्मप्रकाशे**

**जासु ण वण्णु ण गंधु रसु जासु ण सद्दु ण फासु।**
**जासु ण जम्मणु मरणु णवि णामु णिरंजणु तासु॥**

इति। पुन. किं विशिष्ट। वमिति पूर्वोक्तमिति **नवमश्छायार्थ** ॥

दशमे पक्षे रसशब्दो द्रवेपि वर्तते सुष्ठु द्रवति शुद्धगुणपर्यायान् परिणमतीति सुद्रव सुद्रवेण शुद्धद्रव्यगुणपर्यायपरिणमनशीलेन वदितमभिनदित समृद्धमिति यावत्। धातूनामनेकार्थत्वात्, धातवो हि गजेन्द्रलक्षणा· स्वच्छदचारित्वात् अनेकार्थविध्याचलवन पर्यटतीति **दशमश्छायार्थ** ॥

**तथैकादशेपि पक्षे** रसशब्द पारदेपि वर्तते पारदस्य वस्तुविशेष विमुच्य निरुक्तिवशादर्थान्तर गृह्यते, नामानि हि समस्याप्रहेलिकाछलादिकौतुकप्रयोजनेन बलादर्थान्तरेण नीयते न दोषाय। सुष्ठु

---

**नवमी परिभाषा** मे 'रस' शब्द से सर्वजनप्रसिद्ध तिक्त, अम्ल, मधुर, कटु और कषायला भेदवाले रसना इन्द्रिय के विषय से अभिप्राय है। रस यह उपलक्षण मात्र है इसलिए रस शब्द से स्पर्श, रस, गन्ध ओर वर्ण इन सबका ग्रहण होता है। शोभन रस गधादि जिनके हो वे सुरस कहलाते है। उस सुरस को 'दिय' खण्डन करने वाले सिद्ध भगवान सुरसदिय कहलाते है। **परमात्मप्रकाश** मे लिखा है-

जिसमे रस, वर्ण, गन्ध, शब्द, स्पर्श नहीं है, जिसमे जन्म-मरण नहीं है, वह निरजन सिद्ध भगवान है। वे सिद्ध भगवान 'व इन' मुक्तिरमा के पति हैं।

**दसवे पक्ष** मे 'रस' शब्द द्रव (प्राप्त) अर्थ मे आता है। 'सु' भले प्रकार 'रसति' 'द्रवति' 'प्राप्नोति' स्वकीय द्रव्य गुण पर्याय को प्राप्त होता है- स्वकीय गुण-पर्याय से परिणमन करते हैं। शुद्ध द्रव्य गुण पर्याय से परिणत यतियो के द्वारा वदित है, अभिनदित है, समृद्ध है। **भावार्थ**- शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय से परिणत यतियो के द्वारा वदित सिद्ध भगवान है। धातु अनेक अर्थ वाले होते है। "धातूनामनेकार्थत्वात्" जिस प्रकार स्वच्छन्दचारी गजेन्द्र विध्याचल आदि अनेक अटवियो मे भ्रमण करता है, उसी प्रकार 'कृ पठ् भू' आदि धातु भी अनेक अर्थ रूपी अटवियो मे भ्रमण करते है। जैसे गच्छ् धातु गमन, ज्ञान, सेवन आदि अनेक अर्थो मे आता है।

**ग्यारहवे अर्थ** मे 'रस' शब्द पारद अर्थ मे भी आता है। यद्यपि पारद का वास्तविक अर्थ पारा होता हे, परन्तु वास्तविक अर्थ को छोडकर यदि निरुक्ति अर्थ (शब्दार्थ) लिया जाता है तो भी दोष के लिए नहीं हे। क्योंकि धातु के नाम समस्यापूर्त्ति, प्रहेलिका, छल, कौतुक, आदि के प्रयोजन के कारण बलपूर्वक अर्थान्तर से भी ग्रहण किये जाते हे। इसमे व्याकरण दृष्टि से दोष नहीं आता है। अत 'सु' सुष्ठु (शोभनीय) भली प्रकार से, अतिशयरूप से ससार समुद्र के पार को देते हें- अर्थात् जो स्वय ससार-समुद्र मे पार

अतिशयेनाजवजवसागर पार ददातीति पारद· स्वपरोद्धरणशील पचाचारविराजमान आचार्यसमुदाय सुपारद सुरसस्तेन वदितमभिनदितमित्येकादशश्छायार्थ । "जले वीर्ये विषे रागे तिक्तादौ देहधातुषु। द्रवे त्रिनेत्रवीर्ये च रसशब्द' प्रकीर्तित " इत्यनेकार्थ ।

द्वादशे पक्षे ग्रथकारेण श्रीसुरसेनाचार्येण निजनाम सूचितमिति प्रसिद्ध। आगमार्थो हि प्रसिद्ध एव यत एव गुणविशिष्टा सिद्धा 'भवत्येव। मतार्थस्तु 'सकलमतनिराकरणशीलो विशेषणद्वारेण विजयते। यद्यपि परमतेषु मिथ्यादृष्टिसुरसमुदायनमस्कृता किचिच्चमत्कारमात्रपराक्रमेण महावीरा अजनगुटिकादिसिद्धा प्रसिद्धा न ते विमलतरगुणसमृद्धमडिता ततो विमलतरगुणसमृद्धमिति विशेषण स्वमतोपात्तसिद्धलक्षणविजयेन परमतोपात्तपराजयेन निःशक प्रद्योतते। भावार्थश्चाय, यो यद्गुणार्थी भवति स तद्गुणविशिष्टपुरुषविशेष

---

होते हैं और अन्य भव्य जीवो को रत्नत्रय रूपी नौका मे बिठाकर पार करते हैं उन आचार्य, उपाध्याय और साधु गणो को सुरस कहते है। अथवा मोक्षमार्ग का अनुसरण करने वाली शिक्षा एव दीक्षा के प्रदायक, स्व और पर का उद्धार करने मे तत्पर, पचाचार (दर्शनाचार, ज्ञानाचार तपाचार, चारित्राचार और वीर्याचार) का पालन करने वाले आचार्य परमेष्ठी पारद (सुरस) कहलाते हैं। उन आचार्य परमेष्ठी के द्वारा वदित, नमस्कृत, अनुभूत सिद्ध होते हैं। अर्थात् आचार्य परमेष्ठी अनन्य भावो से सिद्धो को नमस्कार करते हैं, वन्दना करते हैं, अर्चना करते है। उन सिद्धो का ध्यान के द्वारा अनुभव करते हैं। अत सिद्ध सुपारद (सुरस) कहलाते हैं।

"जल, वीर्य, विष, राग, तिक्त रसादि, देह, धातु, द्रव, त्रिनेत्र, वीर्य इन अर्थों मे रस शब्द का प्रयोग होता है।" ऐसा अनेकार्थ कोष मे लिखा है।

इस गाथा मे सुरसेन आचार्य ने अपना नाम भी सूचित किया है।

इस प्रकार इस गाथा का रत्नकीर्त्ति देव ने १२ प्रकार से अर्थ किया है।

**नयार्थ** यथायोग्य समझना चाहिए। आगमार्थ तो प्रसिद्ध ही है, क्योकि इस प्रकार के गुणविशिष्ट सिद्ध भगवान ही होते है, ऐसा आगम मे लिखा है।

सकल मत का निराकरण करने मे तत्पर मतार्थ तो इन विशेषणो के द्वारा प्रगट होता ही है, क्योंकि उपर्युक्त विशेषण वाले सिद्ध भगवान अन्य मत मे नहीं है। यद्यपि मिथ्यादृष्टि हरिहरादिक भी देवगणो के वन्दनीय हैं किंचित् लौकिक चमत्कार दिखाकर महावीर नाम से प्रसिद्ध हैं, कोई अञ्जनगुटिका आदि से भी सिद्ध है, परन्तु "विमलतर गुण से मडित" यह विशेषण परमत का खण्डन करने वाला है क्योकि अन्यमतो मे विमलतर गुणो से मडित सिद्ध नहीं है। अत विमलतर गुणो से समृद्ध यह विशेषण निश्शक रूप से स्वमत (जिनधर्म) कथित सिद्ध के लक्षण की विजय से परमत मे कथित सिद्ध के लक्षण का खण्डन करता ही है।

नमस्कुरुते अय तु स्वामी श्रीसुरसेनाचार्य मुमुक्षुरन्याश्च मुमुक्षून् मोक्षमार्गं नेता चतुर्विधाराधनासारफलप्राप्त सिद्धपरमात्मान नमस्कृत्य ग्रथारभे प्रवर्तते। अनेन द्वारेण प्रोक्तार्थसमुदाय स्वावसरे स्वावसरे सर्वत्र ज्ञातव्य । गाथा छद । गाथापादत्रयेण स्वेष्टदेवतानमस्कारप्रतिपादनेन चरमपादेनाराधनासार वक्ष्येऽहमिति प्रतिज्ञाकरणे प्रथमगाथासूत्र गत ॥१ ॥

अथ निर्दिष्टाराधनासारस्य गाथापूर्वार्धेन लक्षणमपरार्धेन तद्विभाग च दर्शयति-

**आराहणाइसारो तवदंसणणाणचरणसमवाओ।**
**सो दुब्भेओ उत्तो ववहारो चेव परमट्ठो ॥२॥**

आराधनादिसारस्तपोदर्शनज्ञानचरणसमवाय ।
स द्विभेद उक्तो व्यवहारश्चैव परमार्थ ॥२॥

भवतीति क्रियापदमध्याहृत्य व्याख्या विधीयते। भवति। कोसौ। **आराहणाइसारो** आराधनादिसार आदिपदग्रहणस्य गाथाछदस प्रथमपादस्य द्वादशमात्रापूरणार्थमेव प्रयोजन नान्यत्। यथा दशादिरथ दशपूर्वकधर भीमादिसेन इत्यादिप्रयोगात् छद पूरणार्थ कवय प्रयुजते न दोषाय। आराधनेति पदमादौ यस्य सारस्य असौ आराधनासार इति लक्ष्यनिर्देश कृत । किलक्षण । **तवदंसणणाणचरणसमवाओ**

---

**भावार्थ** इस प्रकार है क्योकि जो जिस का अर्थी (इच्छुक) है वह उस गुणविशिष्ट पुरुष को नमस्कार करता है। ये स्वामी सुरसेन आचार्य स्वय मुमुक्षु (स्वात्मोपलब्धि सिद्धि प्राप्ति के इच्छुक) हैं और अन्य मुमुक्षुओ को मोक्षमार्ग के उपदेशक होने से मोक्षमार्ग के नेता है इसलिए चतुर्विध आराधना के फल को प्राप्त करने वाले उपर्युक्त गुणों से विशिष्ट सिद्ध परमात्मा को नमस्कार करके ग्रन्थ का प्रारम्भ किया है। इस प्रकार उपर्युक्त अर्थसमुदाय से शब्दार्थ, नयार्थ, आगमार्थ, मतार्थ और भावार्थ अपने-अपने अवसर पर सर्वत्र लगाना चाहिए।

यह छद गाथा-आर्या छद है। इस आर्या छन्द मे प्रथम तीन पाद (चरण) से इष्टदेव को नमस्कार किया है और अन्तिम चतुर्थ चरण के द्वारा '**आराधनासार कहूंगा**' यह प्रतिज्ञा की है॥१॥

अब गाथा के पूर्वार्ध से निर्दिष्ट **आराधनासार** का लक्षण और उत्तरार्ध से उस आराधना के विभाग (भेद) का कथन करते हैं-

**तप, दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप समवाय आराधनासार है। यह आराधनासार निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का है ॥२॥**

'भवति' होता है, इस क्रियापद का अध्याहार करके आराधनासार की व्याख्या की जाती है-

इस गाथा मे जो 'आदि' पद है, वह गाथा-छद के प्रथम चरण की १२ मात्रा की पूर्ति के लिए ही है। इसका दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है। जैसे भीमसेनादि मे जो आदि शब्द है, वह भी छन्द की परिपूर्णतार्थ है, इसका कोई दूसरा प्रयोजन नहीं, क्योकि छन्द की परिपूर्णता के लिए कवि लोग आदि शब्द का प्रयोग करते हैं, इसमे कोई दोष नहीं है। आराधना का सार आराधनासार कहलाता है। यह लक्ष्य निर्देश किया गया है।

तपोदर्शनज्ञानचरणसमवाय । आदौ तपोग्रहणमपि छद·पूरणाय तपश्च दर्शन च ज्ञान च चरण च तपोदर्शनज्ञानचरणानि एतेषा समवाय समुदायस्तपोदर्शनज्ञानचरणसमवाय तपोदर्शनज्ञानचरणान्येतानि चत्वार्यपि अस्मिन्नेवाराधनासारे समवेतान्यवकाशमतिजातानि ततस्तपोदर्शनज्ञानचरणसमवाय इति सम्यग्लक्षणमाराधनासारस्य भवति। अथायमभेद सभेदो वेत्याशकाया विभाग सूचयति। **उत्तो** उक्त । कोऽसौ य । स आराधनासार । कतिभेद । **दुब्भेओ** द्विभेद द्वौ भेदौ यस्यासौ द्विभेद । कौ तावित्याह। **ववहारो** एको व्यवहार· **परमट्ठो** एकश्च परमार्थ व्यवहाराराधनासार· परमार्थाराधनासार इत्यर्थ इति योजनिकाद्वार । तपोदर्शनज्ञानचरणसमवाय आराधनासारो भवति स-व्यवहार परमार्थश्चैवेति द्विभेद उक्त इति सक्षेपान्वयद्वार । इत्याराधनासारलक्षणविभागप्रतिपादक द्वितीय गाथासूत्र गत॥२॥

अथादावुद्दिष्टस्य प्रथमभेदस्य व्यवहाराराधनासारस्य लक्षण सविभाग प्रतिपादयति-

**ववहारेण य सारो भणिओ आराहणाचउक्कस्स।**
**दंसणणाणचरित्तं तवो य जिणभासियं णूणं॥३॥**

व्यवहारेण च सारो भणित आराधनाचतुष्कस्य।
दर्शनज्ञानचरित्र तपश्च जिनभाषित नूनम्॥३॥

**भणिओ** भणित प्रोक्त । कोऽसौ। **सारो** सार रहस्यो धार । कस्य **आराहणाचउक्कस्स** आराधनाचतुष्कस्य। केन। **ववहारेण** व्यवहारेण व्यवहरण व्यवहार यथोक्तक्रियाचारस्तेन चकारोनुक्तसमुच्चयार्थ तेन परमात्माध्यानावस्थाया निश्चयेन च। यदुक्त-

---

तप, दर्शन, ज्ञान और चारित्र का समवाय-समुदाय तप-दर्शन-ज्ञान और चारित्र का समवाय कहलाता है। इन चारो के समवाय का इस आराधनासार मे कथन किया गया है।

दर्शन, ज्ञानादि आराधना की समीचीनता ही सार है। इस आराधनासार के निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा दो भेद है अर्थात् व्यवहार आराधनासार और निश्चय आराधनासार।

इस प्रकार निश्चय और व्यवहार रूप आराधना का भेद करने वाली **दूसरी गाथा पूर्ण हुई** ॥२॥

अब पहले उद्दिष्ट, प्रथम भेद वाली व्यवहार आराधना का लक्षण तथा उसके विभाग का प्रतिपादन करते हैं-

**व्यवहार नय से आराधनाचतुष्क का सार-जिनभाषित दर्शन, ज्ञान, चरित्र और तप कहा गया है॥३॥**

सार, रहस्य और धार ये सब एकार्थवाची है। चार आराधना का सार वा रहस्य आराधनासार है। यह यथोक्त क्रियाचार व्यवहार नयसे आराधनासार है। 'च' शब्द अनुक्त समुच्चय अर्थ के लिए है। इसलिए निश्चय नय से परमात्मा का ध्यान ही आराधना है। सो ही कहा है-

**ज्ञानदर्शनचारित्रतपोभिर्जिनभाषितैः।**
**आराधनाचतुष्कस्य व्यवहारेण सारता॥**

तैरेव परमब्रह्म ध्यानात्तन्मयता गतै आराधनाचतुष्कस्य निश्चयेन च सारता। कि तत् आराधनाचतुष्क। **दंसणणाणचरित्तं** दर्शनज्ञानचारित्र न केवल दर्शनज्ञानचारित्र। तपश्च। किंविशिष्ट। **जिणभासियं** जिनभाषित जिनेन वीतरागेन सर्वज्ञेन भाषित प्रतिपादित जिनभाषित अत एव नून निश्चित। यदेव हि जिनोक्त तदेव नून जितरागादिद्वेषत्वात्। यदुक्त-

**रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतं।**
**यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकरणं नास्ति॥**

ततो जिनभाषितान्येव दर्शनज्ञानचारित्रतपास्युपादेयानि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र सम्यक् तपश्चेत्यस्य चतुष्कस्य यदाराधना उपासना विधीयते तदाराधनाचतुष्क। अत्र प्रवृत्तिर्व्यवहाराराधना सारो भवतीति रहस्यमिति योजनिकाद्वार। आराधनाचतुष्कस्य व्यवहारेण सारो भणित नून जिनभाषित दर्शनज्ञानचारित्र तपश्चेति चतुष्क भवतीति विशेष इति सक्षेपान्वयद्वार॥ इति व्यवहाराराधनासारलक्षणप्रतिपादनेन तृतीय गाथासूत्र गत॥३॥

अथ व्यवहाराराधनासारसामान्यलक्षण प्रतिपाद्य तस्य प्रथमभेदस्य सम्यग्दर्शनाराधनाया लक्षण प्रतिपादयति-

---

"व्यवहार नय से जिनेन्द्र द्वारा कथित सम्यग्दर्शन, सम्यग् ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप ये आराधना चतुष्क का सार है।"

निश्चय नय से उन्हीं चार आराधनाओ द्वारा परम ब्रह्म के ध्यान से तन्मयता को प्राप्त होना चार आराधना का सार है। यह निश्चय-व्यवहार आराधना जिनेन्द्र द्वारा कथित है इसलिए निश्चित है, वास्तविक है- क्योकि भगवान रागद्वेष रहित हैं अत उनका कथन सत्य है, सो ही कहा है-

"रागद्वेष, मोह के कारण ही प्राणी अनृत वचन बोलते हैं। जिसके राग, द्वेष और मोह रूप दोष नहीं हैं उनके अनृत वचन नहीं होते है।"

जिनेन्द्र द्वारा कथित सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र और सम्यक्तप ही उपादेय हैं अर्थात् ये चार ही आराधना करने योग्य हैं, उपासना करने योग्य है। यही चार-आराधना कही जाती है। इन चारो क्रियाओ मे प्रवृत्ति करना व्यवहार से चार आराधना का सार कहा जाता है। इस प्रकार जिनेन्द्रकथित चार आराधना का सार सक्षेप से कहा है।

इस प्रकार व्यवहार आराधनासार का लक्षण प्रतिपादित करने वाली **तीसरी गाथा समाप्त हुई ॥३॥**

अब व्यवहार-आराधनासार के सामान्य लक्षण का प्रतिपादन करके चार आराधनाओ मे जो प्रथम भेद **सम्यग्दर्शन आराधना** है उसका लक्षण कहते हैं-

**भावाणं सद्दहणं कीरइ जं सुत्तउत्तजुत्तीहिं।**
**आराहणा हु भणिया सम्मत्ते सा मुणिंदेहिं।।४।।**

भावाना श्रद्धान क्रियते यत्सूत्रोक्तयुक्तिभि ।
आराधना हि भणिता सम्यक्त्वे सा मुनीन्द्रै ।।४।।

**भणिया** भणिता। काऽसौ। सा **आराहणा** आराधना। कन्थ। हु खलु, हुशब्द खल्वर्थे प्राकृतत्वात्। कै । **मुणिदेहि** मुनींद्रै । क्व। **सम्मत्ते** सम्यक्त्वे। सेति का। **कीरइ** क्रियते। किं तत्। यत् यदिति किं। **सद्दहणं** श्रद्धान विश्वासो रुचि प्रतीतिरिति यावत्। केषा ? **भावाणं** भावाना जीवादिपदार्थाना।

काभि करणताभि । **सुत्तउत्तजुत्तीहि** सूत्रोक्तयुक्तिभि सूत्रे परमागमे उक्ता या युक्तय सूत्रोक्तयुक्तयस्ताभि सूत्रोक्तयुक्तिभिरिति योजनिकाद्वार । सूत्रोक्तयुक्तिभिर्यद्भावाना श्रद्धान क्रियते सम्यक्त्वे सा आराधना मुनींद्रैर्भणिता खलु इति सक्षेपान्वयद्वार । तथाहि द्रव्यगुणपर्याया एतेषु भवतीति भावा जीवादयो नवपदार्था भवति। एतेषा किचिन्निर्देश क्रियते। तत्र चेतनालक्षणो जीव तद्विलक्षण पुद्गलधर्माधर्माकाशकालस्वरूपपचविधोऽजीव , योगद्वारेण कर्मागमनमास्रव ,

---

**सूत्र (जिनेन्द्रदेव के वचन) में कथित युक्ति के द्वारा जीवादि तत्त्वो का श्रद्धान करना जिनेन्द्र भगवान ने सम्यग्दर्शन कहा है।।४।।**

गाथा मे 'हु' शब्द निश्चय अर्थ तथा पादपूरण के लिए है। यद्यपि भाव, पदार्थ, तत्त्व ये एकार्थ-वाची शब्द हैं फिर भी शब्दार्थ की अपेक्षा कुछ अन्तर भी है। अत सक्षेप से नव पदार्थ वा सात तत्त्वो का श्रद्धान करना, रुचि करना सम्यग्दर्शन है।

स्वकीय-स्वकीय गुण-पर्यायो मे जो होते हैं, रहते है उन जीवादि को भाव कहते हैं।

अर्थ्यते, गम्यते= जो ज्ञान के द्वारा जाने जाते हैं, ज्ञान के विषय हैं, ज्ञानगम्य हैं, वे अर्थ या पदार्थ कहलाते है। द्रवति, गच्छति, प्राप्नोति स्वकीय-स्वकीयद्रव्यगुणपर्यायान्, जो अपने-अपने गुणो एव पर्यायों को प्राप्त होते हैं, प्रतिक्षण गुण-पर्यायों मे स्वभाव विभाव रूप परिणमन करते हैं इसलिए वे द्रव्य कहलाते हैं।

तत्त्व शब्द सामान्यभाव वाची है, जिसका अर्थ है- जिस-जिस प्रकार से जीवादि पदार्थ व्यवस्थित हैं उनका उसी प्रकार से होना, परिणमन करना तत्त्व कहलाता है। अथवा-जीव अजीव ये दो द्रव्य हैं और उनकी पर्याये भाव वा तत्त्व कहलाती है।

मुख्यतया जीव, अजीव के भेद से द्रव्य दो प्रकार का है।

चेतना (ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग) जिसका लक्षण है उसको **जीव** कहते हैं। जिसमे चेतना नहीं है, अचेतन लक्षण है उसको **अजीव** कहते हैं। जिसमे चेतना नहीं है वह जीव से विपरीत लक्षण वाला अजीव है। अजीव द्रव्य के पॉच भेद है- पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जिसमे स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण पाये जाते हैं उसको पुद्गल कहते हैं। इसके दो भेद हैं अणु और स्कन्ध।

जीवकर्मणोरन्योन्यप्रदेशप्रवेशात्मको बध , आस्रवनिरोध सवर , कर्मणामेकदेशगलन निर्जरा, बधहेत्वभावनिर्जराभ्या कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष , शुभायुर्नामगोत्राणि पुण्य, अतोन्यत्पाप। अमी नव पदार्थसज्ञा लभते। उक्तस्य पचविधस्याजीवस्य निर्देशो विधीयते। तत्र स्पर्शरसगधवर्णवतः पुद्गला , जीवपुद्गलाना गते सहकारिकारण धर्म , स्थानयुक्ताना स्थिते सहकारिकारणमधर्म , सर्वद्रव्याणामवकाशदानदायकमाकाश, वर्तनालक्षण काल । अमी कालेन विना जीवेन सह पचास्तिकायसज्ञा लभते। पुण्यपापाभ्या विना नव पदार्था सप्त तत्त्वसज्ञा लभते। एतेषा सप्रपचविशेषा परमागमतो विज्ञेया अत्र तु नोच्यते ग्रथगौरवभयात् बहुषु ग्रथेषु प्रोक्तत्वाच्च। अमी यथा जिनेद्रेण प्रतिपादितास्तथैव सम्यक्त्वर्लिगिता भवति नान्यथेति विश्वास प्रतीति रुचि श्रद्धान भण्यते। तच्च तन्निसर्गादधिगमाद्वेति

---

जिसका दूसरा विभाग नहीं कर सकते, जिसमे दो स्पर्श एक रस, एक गन्ध और एक वर्ण पाया जाये उसको **परमाणु** कहते हैं। परमाणुओ के समूह को **स्कन्ध** कहते हैं। जिसका विभाजन किया जाता है जो इन्द्रियो का विषय है तथा जो इन्द्रियों के द्वारा उपभोग मे आता है उसे स्कन्ध कहते है।

जीव और पुद्गल के गमन मे जो सहकारी होता है, उसे **धर्म द्रव्य** कहते हैं, जैसे मछली के चलने मे जल। जीव और पुद्गल के ठहरने मे जो सहकारी होता है, उसे **अधर्म द्रव्य** कहते है, जैसे पथिक के ठहरने में वृक्ष की छाया।

जीवादि छहों द्रव्यो को जो अवकाश देता है, स्थान देता है उसे **आकाश** कहते हैं। इसके दो भेद हैं- लोकाकाश और अलोकाकाश। जिसमे जीवादि छहो द्रव्य पाये जाते हैं उसे **लोकाकाश** कहते हैं जिसमे केवल आकाश द्रव्य है, उसे अलोकाकाश कहते हैं।

जीवादि छहों द्रव्यो के परिवर्तन मे जो कारण बनता है उसे **काल** द्रव्य कहते हैं। निश्चय और व्यवहार के भेद से काल द्रव्य दो प्रकार का है। द्रव्यो का प्रतिक्षण जो परिवर्तन होता है, वर्त्तना होती है वह **निश्चय काल** है। निश्चय काल का कारण तथा आवली, नाडी, घडी, दिन, सप्ताह, पक्ष, महीना, ऋतु, अयन, वर्ष आदि का जो ज्ञान कराता है वह **व्यवहार काल** है।

प्रदेशो का समूह जिन द्रव्यो मे पाया जाता है वे **अस्तिकाय** कहलाते हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पॉच अस्तिकाय हैं। जीव, धर्म और अधर्म असख्यात प्रदेशी हैं। आकाश अनन्त प्रदेशी है। यद्यपि पुद्गलपरमाणु एक प्रदेशी है परन्तु उन परमाणुओ में स्कन्ध होने की शक्ति है। इसलिए उपचार से पुद्गल सख्यात, असख्यात और अनन्त प्रदेशी कहलाता है। काल द्रव्य उपचार से भी अस्तिकाय नहीं है। क्योकि जिस प्रकार पुद्गल द्रव्य स्कन्ध होकर इन्द्रियो के द्वारा ग्राह्य होता है, विभाजन के योग्य हो जाता है इसलिए उपचार से अस्तिकाय होता है, परन्तु काल द्रव्य का सचय नहीं होता और न उसका हम विभाजन कर सकते हैं अर्थात् जैसे पुद्गल स्कन्ध का विभाजन करके छोटा- बडा कर सकते हैं वैसे काल का विभाजन करके छोटा-बडा नहीं कर सकते अत काल अस्तिकाय नहीं है।

तत्त्व सात है जीव, अजीव, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष।

जीव-अजीव का लक्षण पहले कह दिया है। कर्मो के आगमन को **आस्रव** कहते है। वह आस्रव दो प्रकार का है। द्रव्य और भाव। जीव के जिन भावो से कर्म आते हैं, उन भावो को **भाव आस्रव** कहते हैं। वे भाव पॉच प्रकार के हैं- मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।

वचनात्कारणद्वयमद्भवति। जीवस्य अनादिकालकर्मपटलाष्टकमात्मान मिथ्यात्व क्वापि न परित्यजति। तद्द्विविध अगृहीतगृहीतभेदात्। प्रथम तावत्सकलस्य जीवराशेर्भवति तदुदयेन तत्त्वातत्त्वश्रद्धान किमपि न भवति। तत्र सम्यग्विपरीततत्त्वश्रद्धानयोर्द्वयोरप्यनवकाशत्वात्। द्वितीय तु विशिष्टपचेद्रियजीवराशेर्भवति

जिस भाव के उदय से जीव को तत्त्वश्रद्धान नहीं होता है, विपरीत बुद्धि होती है, उसे मिथ्यात्व कहते हैं। सामान्यत मिथ्यात्व एक प्रकार का है। गृहीत, अगृहीत के भेद से दो प्रकार का है। एकान्त मिथ्यात्व, विपरीत मिथ्यात्व, विनय मिथ्यात्व, सशय मिथ्यात्व और अज्ञान मिथ्यात्व के भेद से मिथ्यात्व पाँच प्रकार का भी है।

द्रव्य नित्य ही है वा अनित्य ही है। इस प्रकार एकान्त रूप से वस्तु का निर्णय करना **एकान्त मिथ्यात्व** है। वस्तु के स्वरूप का विपरीत श्रद्धान करना **विपरीत मिथ्यात्व** है। देव-कुदेव, धर्म-अधर्म, गुरु-कुगुरु मे भेद न समझकर सबकी समान विनय करना **विनय मिथ्यात्व** है। तत्त्वो का निर्णय नहीं करना, सशय रखना **सशय मिथ्यात्व** है। तत्त्वो को जानने का प्रयत्न ही नहीं करना **अज्ञान मिथ्यात्व** है। श्रद्धान और श्रद्धातव्य के भेद से मिथ्यात्व असख्यात लोक प्रमाण भी है। परन्तु सर्व मिथ्यात्व के भेद गृहीत और अगृहीत इन दो मिथ्यात्वों में गर्भित हो जाते हैं। जो कुगुरु के उपदेश से अतत्त्व वा मिथ्यात्व में गर्भित हो जाते है, जो कुगुरु के उपदेश से अतत्त्व वा मिथ्याधर्म का श्रद्धान होता है, वह **गृहीत मिथ्यात्व** है। जो अनादिकालीन मिथ्यात्व के उदय से अतत्त्व श्रद्धान है, वह **अगृहीत मिथ्यात्व** है। गृहीत मिथ्यात्व पचेन्द्रिय सैनी के ही होता है।

व्रतग्रहण वा सयमग्रहण के भाव नहीं होना **अविरति** है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह के भेद से अविरति पॉच प्रकार की है अथवा- पाँच इन्द्रिय और मन को वश में नहीं रखना, छह काय के जीवों की विराधना करना रूप १२ प्रकार की भी अविरति होती है।

अच्छे (दान-पूजादि शुभ) कार्यों में प्रवृत्ति नहीं होना प्रमाद कहलाता है। उस प्रमाद के १५ भेद हैं। जिस कारण से यह जीव प्रमादी होता हैं, उसका मूल कारण कषाय का तीव्र उदय है क्योंकि **कषाय** ही आत्महितकारी कार्यो मे प्रवृत्ति नहीं करने देती है। मूल कषाय क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से चार प्रकार की है और उत्तर भेद असख्यात लोक प्रमाण हैं। इन कषायों के वशीभूत होकर जीव पाँच इन्द्रिय-विषयों में प्रवृत्ति करते हैं, यह **पचेन्द्रिय नामक प्रमाद** है।

कषाय के कारण जो मन, वचन, काय की कुकथा में प्रवृत्ति होती है वह **विकथा नामक प्रमाद** है। उसके यद्यपि असख्यात लोकप्रमाण भेद हैं परन्तु ये सारे भेद चार विकथाओ मे गर्भित हो जाते हैं।

देश-देशान्तर मे होने वाले मानव, पशु, कुआ-बावडी, उद्यान आदि की कथा तथा वहॉ के राज्यो की व्यवस्था आदि के कथन में लीन होना **राष्ट्र कथा** कहलाती है। देश की व्यवस्था करने वाले राजाओं की कथा करना **अवनिपाल** कथा है।

भोजन की कथा करना **भोजन कथा** है। स्त्रियो के हाव, भाव, विलास व अगोपाग की कथा करना **स्त्री कथा** है। निद्रा और स्नेह इस प्रकार प्रमाद के १५ भेद हैं। मन, वचन और काय ये तीन योग है। इस प्रकार इन कारणो से पौद्गलिक कर्म आते हैं, अत यह **भाव आस्रव** है। ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के योग्य जो पुद्गल वर्गणाएँ आती हैं वह द्रव्यास्रव कहलाता है। द्रव्यास्रव भी ज्ञानावरणादि के भेद से आठ प्रकार का है। मतिज्ञानावरण आदि उत्तर प्रकृतियों के भेद से द्रव्यास्रव १४८ प्रकार का है। तथा सूक्ष्म भेद की अपेक्षा द्रव्यास्रव असख्यात लोक प्रमाण है।

जीव और कर्मो का एकक्षेत्रावगाही हो जाना, अन्यान्य प्रदेशो का परस्पर एक स्थान मे हो जाना **बंध** है। वह बध प्रकृति, प्रदेश, अनुभाग और स्थिति की अपेक्षा चार प्रकार का है। स्वभाव को **प्रकृति** कहते है- जैसे नीम की प्रकृति कटु है, दूध की मधुर। उसी प्रकार ज्ञान गुण का आच्छादन करना ज्ञानावरणीय का स्वभाव है, दर्शनावरण आदि को भी इसी भॉति समझना। पुद्गल परमाणु के समूह रूप जो कार्माण वर्गणा है, वह **प्रदेश बन्ध** है। फलदान शक्ति **अनुभाग बंध** है और कर्म प्रकृति का आत्मा के साथ रहने का नाम **स्थिति बंध** है। प्रकृति और प्रदेश बध योग से होता है और स्थिति, अनुभाग बन्ध कषाय से होता है।

आस्रव के निरोध को **संवर** कहते है अथवा आते हुए कर्मो का रुक जाना सवर है।

बॅधे हुए कर्मो का एकदेश गलना, झडना नष्ट होना **निर्जरा** है।

सम्पूर्ण कर्मो का क्षय हो जाना, आत्मा से अलग हो जाना **मोक्ष** है अथवा बध के कारणो का अभाव और निर्जरा होने से कर्मो का अभाव होना मोक्ष है।

ये सात तत्त्व कहलाते है। इनमे पुण्य और पाप मिलाने से नौ पदार्थ होते है। अथवा पुण्य-पाप रहित नौ पदार्थ सात तत्त्व कहलाते है। **शंका-** नौ पदार्थ का पृथक् कथन क्यो किया है?

**उत्तर** - जीव, अजीव आदि सातो तत्त्व पुण्य और पाप रूप है। जैसे प्रथम गुणस्थान से तीसरे गुणस्थान तक के जीव पापात्मा है और चतुर्थ गुणस्थानसे १४ वे गुणस्थान तक के जीव पुण्यात्मा है। इसी प्रकार आस्रव के भी दो भेद है- पुण्यास्रव और पापास्रव। जैसे शुभ नाम, गोत्र, आयु रूप कर्मो का आगमन पुण्यास्रव है और दर्शनावरणीय आदि कर्मों का आगमन पापास्रव है।

बध भी पाप और पुण्य बध के भेद से दो प्रकार का है। सवर भी दो प्रकार का है- पुण्य सवर और पाप सवर। पाप प्रकृतियो का आना रुक जाना पाप सवर है और पुण्य प्रकृतियो का आगमन रुक जाना पुण्य सवर है।

पापकर्मो का एकदेश गलना, झडना पापनिर्जरा है और पुण्य कर्मों का झरना पुण्यनिर्जरा है।

पापकर्मों का आत्मा से छूटना पापमोक्ष है और पुण्यकर्मों का आत्मा से छूट जाना पुण्यमोक्ष है। इन सात तत्त्व, नौ पदार्थ, छह द्रव्य और पॉच अस्तिकाय रूप पदार्थो का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। इस प्रकार सक्षेप से छह द्रव्य पॉच अस्तिकाय नौ पदार्थ सात तत्त्व का कथन किया। विस्तारपूर्वक अन्य ग्रन्थो से जानना चाहिए।

अथवा, जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कथित तत्त्व ही सत्य है, वास्तविक है अन्य नहीं, इस प्रकार दृढ विश्वास, प्रतीति, रुचि करना सम्यग्दर्शन है। वह निसर्गज और अधिगमज के भेद से दो प्रकार का है। क्योकि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के ये दो भेद दो कारणो की अपेक्षा से है।

जिसके उदय से जीवके अनादिकालीन कर्मपटल-अष्टक आत्मा को नहीं छोडते हैं, वह **मिथ्यात्व** है। वह मिथ्यात्व अगृहीत और गृहीत के भेद से दो प्रकार का है।

तदुदयेन जीवो विपरीत तत्त्व श्रद्धत्ते न सम्यक्। यदा तु लब्धकालादिलब्धिको भवति जीवस्तदा निसर्गाधिगमाख्यकारणद्वय प्राप्नोति। निसर्ग स्वभाव· आचार्यादीना धर्मोपदेशविशिष्टोपाय अधिगम: निसर्गेणापि पूर्वमधिगमेन भूत्वा भाव्य अन्यस्मिन् जन्मनि भावितयोगत्वात्। तत· अधिगम एव सम्यक्त्वोत्पत्तिनिमित्त प्रधान निसर्गे अधिगमे वा सत्यपि जीव ओपशमिक क्षायोपशमिक क्षायिक चेति कारणत्रय समाश्रित्य तत्त्वश्रद्धान विधत्ते। अथैतेपा औपशमिकादीना यथानुक्रमेण लक्षणमाह। लक्षण द्विविध सामान्यविशेषभेदात्। एकव्यक्तिनिष्ठ सामान्य अनेक व्यक्तिनिष्ठो विशेप·। तत्र तावत्सामान्यलक्षणमुच्यते।

---

प्रथम (अगृहीत) मिथ्यात्व सकल ससारी जीवराशि के होता हे। इसके उदय से जीव तत्त्वश्रद्धान और तत्त्वातत्त्व (सम्यग्मिथ्यात्व युक्त) परिणाम वाला भी नहीं हो सकता। क्योकि अगृहीत मिथ्यात्व मे विपरीत (सम्यक् श्रद्धान और सम्यक्त्व मिथ्यात्व इन दोनो) श्रद्धान का अवकाश नहीं है। द्वितीय (गृहीत मिथ्यात्व) विशिष्ट पचेन्द्रिय जीवराशि के होता है। उसके उदय से जीव, तत्त्वो का विपरीत श्रद्धान करता है, सम्यक् श्रद्धान नहीं करता।

जब जीव काललब्धि आदि का सुयोग प्राप्त करता हे तव निसर्ग और अधिगम नामक दो कारणो से सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। निसर्ग का अर्थ स्वभाव है और अधिगम का अर्थ आचार्यादि के धर्मोपदेश विशिष्ट उपाय हैं। निसर्ग सम्यग्दर्शन मे भी पूर्व मे प्राप्त देशनालब्धि युक्त आसन्नभव्य तत्त्वश्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है, वह **निसर्गज सम्यग्दर्शन** है।

निसर्गज सम्यग्दर्शन का कथन होने पर भी सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का प्रधान कारण तो अधिगमज ही है क्योंकि देशनालब्धि के बिना जीव को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकती।

**शंका** - यदि देशनालब्धि के बिना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती है तो निसर्गज सम्यग्दर्शन का कथन नहीं करना चाहिए?

**उत्तर** - यद्यपि देशनालब्धिपूर्वक होने से सम्यग्दर्शन अधिगमज ही है तथापि गुरु को जिसमें विशेष परिश्रम नहीं करना पडता है उसको निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसलिये निसर्गज वा अधिगमज निमित्त को प्राप्त कर जो तत्त्वश्रद्धान होता है वह औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक के भेद से तीन प्रकार का है। अब इन तीनों प्रकार के सम्यग्दर्शन का क्रम से लक्षण कहते हैं।

जो सम्यग्दर्शन गुरु को अधिक परिश्रम के बिना उत्पन्न होता है, वह **निसर्गज सम्यग्दर्शन** है। जो गुरु के द्वारा विशेष समझाने पर तत्त्वरुचि होती है उसको ***अधिगमज सम्यग्दर्शन*** कहते हैं। यह बाह्य कारण की अपेक्षा कथन है।

अब अन्तरग कारणो की अपेक्षा से होने वाले सम्यग्दर्शन का लक्षण कहते हैं। वह लक्षण दो प्रकार का है- सामान्य और विशेष। जो अनेकव्यक्तिनिष्ठ होता है, वह **सामान्य** लक्षण है और जो एक व्यक्ति निष्ठ है, वह **विशेष** है।

आत्मनि कर्मण स्वशक्ते कारणवशादनुद्भूतिरुपशम कतकादिद्रव्यसबधादभसि पकस्यानुद्भूतिवत्। आत्यतिकी निवृत्ति क्षय तस्मिन्नेवाभसि शुचिभाजनातरसक्राते पंकस्यात्यताभाववत्। उभयात्मको मिश्र तस्मिन्नेवाभसि कतकादिद्रव्यसबधात् पकस्य क्षीणाक्षीणवृत्तिवत्। उपशम प्रयोजनमस्ये-त्यौपशमिक, क्षयं प्रयोजनमस्येति क्षायिक, क्षयोपशम प्रयोजनमस्येति क्षायोपशमिक। मोहनीयकर्मण अनतानुबधिचतुष्टय मिथ्यात्वत्रय चेति सप्ताना प्रकृतीनामुपशमादौपशमिक सम्यक्त्व भंवति। तत्कथ भवतीति चेत्। अनादिमिथ्यादृष्टेर्भव्यस्य कर्मोदयापादितकालुष्ये सति। कुतस्तदुपशम । काललब्ध्यादिनिमित्तवान्। तत्र काललब्धिस्तावत् कर्माविष्ट आत्मा-भव्य काले अर्धपुद्गलपरिवर्तनाख्येऽवशिष्टे प्रथमसम्यक्त्वग्रहणस्य योग्यो भवति नाधिके इति। इयमेका काललब्धि । अपरा काललब्धि कर्मस्थितिका उत्कृष्टस्थितिकेषु कर्मसु जघन्यस्थितिकेषु प्रथम सम्यक्त्वलाभो न भवति। क्व तर्हि भवति। अत कोटाकोटीसागरोपमस्थितिकेषु कर्मसु बधमापद्यमानेषु विशुद्धपरिणामवशात् सत्कर्मसु च तत सख्येयसागरोपमसहस्रोनायामत कोटीकोटीसागरोपमस्थितौ स्थापितेषु प्रथमसम्यक्त्वयोग्यो भवति।

आत्मा में अतरग-बहिरग कारणो से कर्मों के शक्ति की उत्पत्ति नहीं होना, उसको **उपशम** कहते हैं। जैसे कतकफलादि द्रव्य के सम्बन्ध से पानी का कीचड नीचे बैठ जाता है।

कर्मों की आत्यतिकी निवृत्ति **क्षय** कहलाती है। जैसे निर्मल पानी को स्फटिक मणि के भाजन मे रखने से पानी अत्यन्त स्वच्छ हो जाता है।

उभय आत्मक **मिश्र** कहलाता है। जैसे जल मे कुछ कीचड नीचे बैठ जाता है और कुछ ऊपर रहता है, मिश्रित होता है।

उपशम जिसका भाव है वह **औपशमिक** कहलाता है। क्षय जिसका भाव है वह **क्षायिक** कहलाता है और क्षय और उपशम जिसका भाव है वह **क्षायोपशमिक** कहलाता है।

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ, चारित्र मोहनीय कर्म की इन चार प्रकृतियो और मिथ्यात्व, सम्यक्त्व मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति रूप दर्शनमोहनीय की इन तीन इस प्रकार कुल सात प्रकृतियों का उपशमन होने से तत्त्वो का जो दृढ श्रद्धान उत्पन्न होता है, वह **औपशमिक सम्यग्दर्शन** कहलाता है।

इन्हीं सात प्रकृतियों का अत्यत क्षय हो जाने से इन सातों की सत्ता-व्युच्छित्ति हो जाने से जो तत्त्व-श्रद्धान होता है, वह **क्षायिक सम्यग्दर्शन** है। अनन्तानुबन्धी चार, मिथ्यात्व और सम्यक्त्व मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियों के वर्त्तमान मे उदय आने वाले निषेको का उदयाभावी क्षय, भविष्यत्काल में उदय में आने वाले निषेकों का सदवस्थारूप उपशम और एकदेशघाति सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होने से जो चल, मलिन और अवगाढ भाव होता है, उसको **क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन** कहते हैं।

कर्मों के उदय से उत्पन्न कालुष्य भाव होने पर अनादि मिथ्यादृष्टि के उपशम सम्यग्दर्शन कैसे होता है? ऐसी **शंका** होने पर आचार्यदेव कहते हैं कि काललब्धि आदि का निमित्त पाकर **यह जीव सर्व प्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है**। सर्व प्रथम कर्मकालिमा से लिप्त भव्यात्मा अर्ध पुद्गल परिवर्तन नामक काल शेष रहनेपर प्रथमोपशम सम्यक्त्व को ग्रहण करने योग्य होता है, अधिक काल रहने पर नहीं, यह **प्रथम काल लब्धि** है।

अपरा काललब्धिर्भवापेक्षया, भव्य· पचेद्रिय: सज्ञी पर्याप्त मर्वविशुद्ध प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयति। आदिशब्देन जातिस्मरणादि परिगृह्यते, इत्यौपशमिकसम्यक्त्वलक्षण पूर्णं। अनंतानुवधिचतुष्कस्य मिथ्यात्वसम्यक्त्वमिथ्यात्वयोश्चोदयक्षयात्तेपामेव सदवस्थारूपोपशमाच्च मम्यक्त्वस्यैकदेशघातिन उदयात् क्षायोपशमिकं चेति सम्यक्त्व। तासा पूर्वोक्ताना मप्ताना प्रकृतीनामत्यतक्षयात् क्षायिक सम्यक्त्व। सम्यक्त्वलक्षण व्याकृत्य कस्या गतो कति सम्यक्त्वानि भवति इति सूच्यते। तत्र नरकगतौ सर्वासु पृथिवीषु नारकाणां पर्याप्तकाना ओपशमिक क्षायोपशमिक चेति सम्यक्त्वद्वय भवति। प्रथमाया पुन पर्याप्तापर्याप्तकाना क्षायिक क्षायोपशमिक चेति् द्वय भवति।

---

दूसरी काल लब्धि : कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति और जघन्य स्थिति की सत्ता मे प्रथमोपशम सम्यक्त्व का लाभ नहीं होता है अर्थात् जब आयु कर्म को छोड़कर सात कर्मों की जघन्य वा उत्कृष्ट स्थिति है तो यह जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व के ग्रहण करने योग्य नहीं होता।

शका - तो फिर जीव मम्यग्दर्शन ग्रहण करने योग्य कब होता है ?

उत्तर - विशुद्ध परिणामो के द्वारा अत.कोटाकोटी प्रमाण स्थिति वाले कर्मों के बँधने पर और बँधे हुए कर्मों की स्थिति को सख्यात हजार सागर प्रमाण कम करते-करते अन्त कोटाकोटी प्रमाण स्थिति कर लेने पर प्रथम सम्यग्दर्शन के ग्रहण करने योग्य होता है। अर्थात् परिणामों की विशुद्धि से मत्ता में पडे हुए कर्म भी अन्त कोटाकोटी प्रमाण स्थिति वाले हो जाते हैं और वर्तमान में बँधने वाले कर्म भी अन्त कोटाकोटी प्रमाण स्थिति पूर्वक ही बँधते हैं तव सम्यक्त्व उत्पन्न होने की योग्यता आती है। भव्य, सज्ञी, पचेन्द्रिय पर्याप्त, सर्व विशुद्ध भाव वाले ही प्रथम सम्यग्दर्शन के ग्रहण करने योग्य होते हैं।

आदि शब्द से जाति-स्मरणादि भी ग्रहण किया जाता हे अर्थात् जातिस्मरण, दु खानुभव, जिनमहिमा दर्शन और देव-ऋद्धिदर्शन आदि भी कारण हैं। इस प्रकार के सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति ओर अनन्तानुवन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व सम्यक्त्व ओर सम्यक्त्व मिथ्यात्व इन सात प्रकृतियो के उपशमन से औपशमिक सम्यक्त्व होता हे। इन सात प्रकृतियो के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता हे तथा अनन्तानुबन्धी चार मिथ्यात्व और सम्यक्त्व मिथ्यात्व छह प्रकृतियो का सदवस्था रूप उपशम और सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होने से जो श्रद्धान रूप परिणाम होता है, उसे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं।

इस प्रकार तीनों प्रकार के सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति और लक्षण का कथन किया है।

सम्यग्दर्शन का लक्षण कहकर अव किसगति मे कौनसा सम्यक्त्व होता है, उसका कथन करते हैं-नरक गति में सारी पृथिवियो मे नारकियो के पर्याप्त अवस्था मे उपशम और क्षायोपशमिक ये दो सम्यक्त्व होते हैं। अपर्याप्त अवस्था में छह नरको मे सम्यग्दर्शन नहीं होता अर्थात् प्रथम नरक को छोडकर अन्य नरको मे सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होता।

प्रथम नरक मे अपर्याप्त अवस्था में दो सम्यग्दर्शन होते है क्षायिक और क्षायोपशमिक। पर्याप्त अवस्था मे उपशम, क्षायोपशमिक और क्षायिक ये तीन सम्पग्दर्शन होते हैं।

अपर्याप्त अवस्था में जो क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहा है, वह कृतकृत्य वेदक की अपेक्षा से है, जो पर्याप्त होते ही अन्तर्मुहूर्त मे क्षायिक सम्यग्दर्शन हो जायेगा। वास्तविक क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन नरक गति में अपर्याप्त अवस्था में नहीं है।

तिर्यग्गतौ तिरश्चा पर्याप्तकानामौपशमिकमस्ति तेषा पर्याप्तापर्याप्तकाना तु क्षायिक क्षायोपशमिक चेति द्वितयमस्ति, तिरश्चीना क्षायिक नास्ति औपशमिक क्षायोपशमिक च पर्याप्तकानामेव नापर्याप्तकाना। एव मनुष्यगतौ मनुष्याणा पर्याप्तापर्याप्तकाना क्षायिक क्षायोपशमिक चास्ति औपशमिक पर्याप्तकानामेव नापर्याप्तकाना, मानुषीणा तु त्रितयमप्यस्ति पर्याप्तकानामेव नापर्याप्तकाना क्षायिक पुनर्भाववेदेनैव। देवगतौ देवाना पर्याप्तापर्याप्तकाना त्रितयमप्यस्ति औपशमिकमपर्याप्तकाना। कथमितिचेत्। चारित्रमोहोपशमेन सहभूतान् प्रति भवनवासिव्यतरज्योतिष्काणा देवाना देवीना च सौधर्मैशानकल्पवासिनीना च क्षायिक नास्ति तेषा पर्याप्तकानामौपशमिक क्षायोपशमिक चास्ति। अस्य साधनमपि कथ्यते। साधन द्विविधमाभ्यतर बाह्य च।

---

तिर्यञ्चो मे तिर्यच गति मे पर्याप्त अवस्था मे औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ये तीन सम्यग्दर्शन होते हैं। उनके अपर्याप्त अवस्था मे क्षायिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यग् दर्शन होते है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन नरक के समान कृतकृत्यवेदक की अपेक्षा से है क्योकि सम्यग्दृष्टि नरक और तिर्यंचो मे उत्पन्न नहीं होता है।

जिन जीवो ने मिथ्यात्व अवस्था मे नरक और तिर्यंच आयुका बध कर लिया है, उसके बाद परिणामो की विशुद्धि और तीर्थकर तथा श्रुतकेवली का सान्निध्य पाकर क्षायिक सम्यग्दर्शन वा कृतकृत्य वेदक को प्राप्त हुआ है, ऐसे जीव मरकर भोगभूमिया तिर्यच और नारकी हो सकते हैं अत उनके अपर्याप्त अवस्था मे क्षायिक और क्षायोपशमिक दो सम्यग्दर्शन होते है, अन्य के नहीं। क्योकि पूर्व मिथ्यात्व अवस्था मे जिन्होने तिर्यच वा नरकायुका बध नहीं किया है ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव मरकर तिर्यच और नरक मे उत्पन्न नहीं होते।

तिर्यंचिनी के क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता अत उसके अपर्याप्त अवस्था मे कोई भी सम्यग्दर्शन नहीं है परन्तु पर्याप्त अवस्था मे दो सम्यग्दर्शन होते हैं औपशमिक और क्षायोपशमिक। मनुष्यगति मे मनुष्यो के अपर्याप्त अवस्था मे दो सम्यग्दर्शन होते है, क्षायिक और क्षायोपशमिक।
पर्याप्त अवस्था में औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ये तीन सम्यग्दर्शन होते है।

मनुष्यनियो (स्त्रियो) के अपर्याप्त अवस्था मे कोई भी सम्यग्दर्शन नहीं है। क्योकि सम्यग्दृष्टि जीव स्त्री पर्याय मे उत्पन्न नहीं होता। पर्याप्त अवस्था मे क्षायिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक ये तीन सम्यग्दर्शन होते हैं, परन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन भाववेद की अपेक्षा है, द्रव्यवेद की अपेक्षा नहीं। क्योकि द्रव्यवेद मे स्त्रियों के क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता।

देवगति मे देवों के पर्याप्त और अपर्याप्त दोनो अवस्थाओ मे तीनों प्रकार के सम्यग्दर्शन होते हैं।

**शंका** - अपर्याप्त अवस्था मे देवो के औपशमिक सम्यग्दर्शन कैसे होता है?

**उत्तर** - चारित्र मोहनीय का उपशमकर उपशम श्रेणी पर आरूढ द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन सहित मरकर सर्वार्थसिद्धि आदि देवो में उत्पन्न हो सकते हैं, अत अपर्याप्त अवस्था मे औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है।

भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी देवो मे और सर्व प्रकार की देवागनाओ मे सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होता। इसलिये भवनत्रिक मे सौधर्म आदि देवागनाओ मे अपर्याप्त अवस्था मे सम्यग्दर्शन नहीं होता। परन्तु पर्याप्त अवस्था में उपशम और क्षायोपशमिक ये दो सम्यक्त्व होते हैं। भवनत्रिक और कल्पवासी देवागनाओ मे क्षायिक सम्यक्त्व नहीं है। इस प्रकार **सम्यग्दर्शन आराधना** के कथन मे सम्यग्दर्शन का **निर्देश** और **स्वामित्व** का कथन समाप्त हुआ।

आभ्यतर दर्शनमोहस्योपशम क्षय क्षयोपशमो वा। बाह्य नारकाणा प्राक् चतुर्थ्या· सम्यग्दर्शनस्य साधन केषाचिज्जातिस्मरण केषाचिद्धर्मश्रवण केषाचिद्वेदनाभिभव·, चतुर्थीमारभ्य आसप्तम्या नारकाणा जातिस्मरण वेदनाभिभवश्च।

तिरश्चा केषाचिज्जातिस्मरण केषाचिद्धर्मश्रवण केषाचिज्जिनबिबदर्शन। मनुष्याणामपि तथैव। देवानामपि केषाचिज्जातिस्मरण केषाचिद्धर्मश्रवण केषाचिज्जिनमहिमदर्शन केषाचिद्देवर्धिदर्शन। एव प्रागानतात्। आनतप्राणतारणाच्युतदेवाना देवर्धिदर्शन मुक्त्वा अन्यत्रितयमप्यस्ति। नवग्रैवेयकवासिना केषाचिज्जातिस्मरण केषाचिद्धर्मश्रवण। अनुदिशानुत्तरविमानवासिनामिय कल्पना न भवति प्रागेव गृहीतसम्यक्त्वाना तत्रोत्पत्ते ।

---

सम्यग्दर्शन के **साधन** का कथन करते है। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के कारणों को साधन कहते हैं। वह साधन दो प्रकार का है अतरग और बाह्य।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का अतरग कारण दर्शन मोहनीय की तीन और चारित्र मोहनीय की चार प्रकृतियों का उपशम, क्षय और क्षयोपशम है। यह चारो गतियों मे सामान्य है। वाह्य कारण अनेक प्रकार के हैं और कथचित् भिन्न-भिन्न हैं? जातिस्मरण, धर्मश्रवण, वेदनानुभव, जिनविम्बदर्शन, जिनमहिमादर्शन और देव-ऋद्धि-दर्शन।

गति मार्गणा की अपेक्षा नरक गति मे प्रथम नरक से लेकर तीसरे नरक पर्यन्त किसी नारकी को जाति-स्मरण से किसी को धर्मश्रवण से ओर किसी को वेदना के अनुभव से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है।

चौथे नरक से सातवे नरक पर्यन्त किसी को जातिस्मरण से और किसी को वेदना-अनुभव से सम्यग्दर्शन होता है।

तिर्यंच गति में तिर्यचो मे किसी को जातिस्मरण से, किसी को धर्मश्रवण से और किसी को जिनबिम्ब के दर्शन से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

मनुष्य गति में मनुष्यो के भी तिर्यचो के समान सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के तीन कारण है। वेदनानुभव, धर्मश्रवण और जातिस्मरण।

देवगति में देवो के १२ वे स्वर्ग तक चार कारण हैं- जातिस्मरण, धर्मश्रवण, जिनमहिमादर्शन[१] और देव-ऋद्धि-दर्शन।[२]

आनत, प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्ग में देव-ऋद्धि को छोडकर अन्य तीन कारण हैं।

नव ग्रैवेयकवासी देवों मे किसी को जातिस्मरण से और किसी को धर्मश्रवण से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। नव ग्रैवेयक में सब देव समान हैं, इसलिए देवऋद्धि दर्शन कारण नहीं है।

नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर मे सम्यग्दृष्टि जीव ही उत्पन्न होते हैं अत इनमे सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के कारणो की कल्पना नहीं है।

---

१ जिनेन्द्र भगवान के पच कल्याणक को जिनमहिमा कहते हैं।

२ देवो की सम्पदा, शक्ति आदि को देवऋद्धि कहते हैं।

अस्याधिकरणमपि कथ्यते । अधिकरण द्विविध आभ्यतर बाह्य च। आभ्यतर स्वामिसबधार्ह एवात्मा 'विवक्षात कारक-प्रवृत्ते ' बाह्य लोकनाडी। सा कियती। एकरज्जुविष्कभा चतुर्दशरज्ज्वायामा। स्थितिरप्यस्य कथ्यते। औपशमिकस्य जघन्योत्कृष्टा चातर्मौहूर्तिकी। क्षायिकस्य ससारिण जघन्यातर्मौहूर्तिकी उत्कृष्टा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सातर्मुहूर्ताष्टवर्षहीनपूर्वकोटीद्वयाधिकानि। मुक्तस्य सादिरप्यपर्यवसाना। क्षायोपशमिकस्य जघन्यातर्मौहूर्त्तिकी उत्कृष्टा षट्षष्ठिसागरोपमाणि॥ विधानमप्यस्य। विधान सामान्यादेक सम्यग्दर्शन द्वितय निसर्गजाधिगमजभेदात्। त्रितय औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकभेदादेव सख्येया विकल्पा असख्येया अनताश्च भवति श्रद्धातृश्रद्धातव्यभेदात्। इत्युक्तलक्षणा नानाविधा सूत्रोक्तय सति अत्र तूपदेशो मुख्यवृत्त्या मनुष्यगतौ कथ्यते तद्भवमुक्तिसाधनत्वात्।

---

अब **अधिकरण** का कथन करते हैं-

बाह्य और अतरग के भेद से अधिकरण के दो भेद हैं। आभ्यन्तर अधिकरण आत्मा ही है क्योकि आत्मा मे ही सम्यग्दर्शन है अत स्वामी-सबध के योग्य आत्मा ही है। केवल विवक्षा से कारक की प्रवृत्ति होती है।

बाह्य अधिकरण १४ राजू लम्बी १ राजू चौडी त्रस नाली है। क्योकि त्रसनाली मे रहने वाले पचेन्द्रिय सैनी पर्याप्त जीवो को ही सम्यग्दर्शन होता है, अन्य को नहीं।

सम्यग्दर्शन की **स्थिति** का कथन करते हैं- स्थिति दो प्रकार की होती है- जघन्य और उत्कृष्ट। औपशमिक सम्यग्दर्शन की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है। अन्तर्मुहूर्त के बाद वह सम्यग्दर्शन छूट जाता है।

ससारी जीवो के क्षायिक सम्यग्दर्शन की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है अर्थात् अन्तर्मुहूर्त्त में वह मुक्तिपद को प्राप्त कर लेता है। उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त सहित आठ वर्ष कम दो कोटि पूर्व अधिक तैंतीस सागर प्रमाण है। इतने काल के भीतर वह आत्मा निश्चय से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। मुक्तात्मा की अपेक्षा क्षायिक सम्यग्दर्शन की स्थिति सादि और अनन्त है।

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है अर्थात् यह सम्यग्दर्शन उत्पन्न होकर अन्तर्मुहूर्त में छूट सकता है। इसकी उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागर प्रमाण है अर्थात् ६६ सागर के बाद यह सम्यग्दर्शन या तो क्षायिक सम्यग्दर्शन रूप परिणत हो जाता है या फिर छूट कर मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाता है।

अब सम्यग्दर्शन के **विधान (भेद)** का कथन करते हैं-

सामान्य से सम्यग्दर्शन एक प्रकार का है। विशेष रूप से निसर्गज और अधिगमज के भेद से दो प्रकार का है। औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक के भेद से तीन प्रकार का है। आज्ञा सम्यक्त्व, उपदेश सम्यक्त्व आदि के भेद से १० प्रकार का है। इस प्रकार श्रद्धातृ[१] और श्रद्धातव्य[२] के भेद से सख्यात, असख्यात और अनन्त प्रकार का भी सम्यग्दर्शन होता है।

इस प्रकार उपरि कथित लक्षण वाला सम्यग् दर्शन नाना प्रकार के सूत्र से कथित है। परन्तु इस ग्रन्थ में मुख्य रूप से मनुष्यभव की अपेक्षा कथन है- क्योकि मानव ही आराधना की आराधना कर उसी भव से मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

---

१ श्रद्धान करने वाले को श्रद्धाता कहते हैं।

२ श्रद्धान करने योग्य वस्तु को श्रद्धातव्य कहते हैं।

मूढत्रयादिपचविंशतिमलपरिहारेण हेयस्य त्यागेनोपादेयस्योपादानेन जीवादितत्त्वश्रद्धान विधीयते यत्र सा व्यवहारसम्यग्दर्शनाराधना सा च क्षपकेणाप्रमत्तेनाराधनीया भवतीति तात्पर्य।

---

आठ मद, शका आदि आठ दोष, तीन मूढता और छह अनायतन, ये सम्यग्दर्शन के २५ दोष हैं।

१ क्षायोपशमिक क्षणध्वसी ज्ञान को प्राप्त कर मदोन्मत्त हो जाना, अपने स्वरूप को भूल जाना **ज्ञान मद** है। २ सासारिक सम्मान प्राप्त कर मान के पर्वत पर चढ जाना, निज निधि को भूलकर बाह्य मे रमण करना **पूजा मद** है। ३ स्वकीय पैतृक पक्ष को उत्तम मानकर दूसरो की अवज्ञा करना, अपने को उत्तम मानना **कुल मद** है। ४ मातृक पक्ष मे मामा आदि को मत्री पद आदि मे स्थापित देखकर 'मेरे मामा राजा हैं, मत्री है' आदि प्रकार से घमण्ड करना, ये सब क्षणिक हैं, विनाशशील हैं, इस विचार से शून्य हो जाना **जातिमद** है। ५ विनाशीक शारीरिक शक्ति को प्राप्त कर उस शक्ति का अभिमान करना **बलमद** है। ६ धन, सम्पदा आदि सासारिक वैभव प्राप्त कर 'मेरे समान धनवान, ऐश्वर्यशाली कोई नहीं है,' ऐसा विचार कर वस्तु के स्वरूप को भूल जाना, ऐश्वर्य वा **ऋद्धि मद** है। ७ अनशन आदि बाह्य तपश्चरण करके अपने को महान् मानना, 'मेरे समान उपवास आदि करने वाला कोई नहीं है' ऐसा विचार करना **तप मद** है। ८ स्वकीय शारीरिक सौन्दर्य का घमण्ड करना **शरीर मद** है। ये आठो मद सम्यग्दर्शन के घातक हैं।

जिनेन्द्रकथित तत्त्व मे शका करना, सासारिक भोगो की वाञ्छा करना, जिनधर्म मे प्रीति नहीं करना, तत्त्व-अतत्त्व, देव-कुदेव, गुरु-कुगुरु आदि की पहिचान नहीं करना, किसी कारण से धर्म मे दूषण लगाने वाले धर्मात्मा के दोषो का आच्छादन न करके उनके दोषो को बाह्य मे प्रगट करना, किसी कारण से दर्शन और चारित्र से च्युत होते हुए को सम्बोधन करके स्थिर नहीं करना, धर्मात्माओ के प्रति वात्सल्य भाव नहीं होना और धर्म की प्रभावना नहीं करना ये शकादि आठ दोष हैं।

गगादि नदियो मे स्नान करने को धर्म मानना वा लौकिक जनो की देखा-देखी करना **लोक मूढता** है। रागी, द्वेषी देवो को आप्त मानकर उनकी पूजा करना **देव मूढता** है।

**शंका** - पद्मावती, धरणेन्द्र, यक्ष आदि रागी-द्वेषी है, उनकी पूजा करना देवमूढता है कि नहीं?

**उत्तर** - पद्मावती, धरणेन्द्र आदि को साधर्मी समझकर वा धर्म के रक्षक समझकर उनका सत्कार करना देवमूढता नहीं है। परन्तु उनको आप्त मानकर पूजना देवमूढता है। क्योकि उनको वस्तु के स्वरूप का भान है, परन्तु जिनको वस्तुस्वरूप का ज्ञान नहीं है, वे ही मूढ होते हैं।

पॉच पापो मे लीन, घोर परिग्रही एव आरम्भ करने वाले पाखण्डी जनो का सत्कार करना, उसको **पाखण्ड मूढता** कहते हैं।

कुगुरु, कुदेव, कुधर्म और उनके भक्त जनो का सत्कार करना छह **अनायतन** है। ये सारी क्रियाएँ सम्यग्दर्शन की घातक हैं। हे क्षपक! सम्यग्दर्शन के इन २५ दोषो का त्यागकर आठ अग सहित सम्यग्दर्शन को धारण कर। निर्मल सम्यग्दर्शन को धारण करना ही **दर्शन आराधना** है।

**येनेदं त्रिजगद्वरेण्यविभुना प्रोक्तं जिनेन स्वयं,**
**सम्यक्त्वाद्भुतरत्नमेतदमलं चाभ्यस्तमप्यादरात्।**
**भंक्त्वा स प्रसभं कुकर्मनिचयं शक्त्या च सम्यक् पर-**
**ब्रह्माराधनमद्भुतोदितचिदानंदं पदं विदते ।।**

इति सम्यग्दर्शनाराधनालक्षणप्रतिपादनेन चतुर्थगाथासूत्र गतं ।।४।।

---

हे क्षपक ! तू यदि अपना हित चाहता है तो जिनमत मे तथा आत्मतत्त्वके स्वरूप मे कभी शका-सशय मत कर। मृत्यु का भय मत कर। **(नि.शकित अंग)**।

ये सासारिक भोग विनाशशील हैं, आत्मा के शत्रु हैं, अतृप्ति के कारण हैं, अत सासारिक भोगों की वा सासारिक भोगो के लिए अन्य धर्म की वाञ्छा वा उसकी प्रशसा मतकर। **(नि:काक्षित अंग)**।

हे क्षपक ! किसी भी प्रकार की आपत्ति या भय के कारणो के उपस्थित होने पर भी धर्म से ग्लानि नहीं करना वा दिगम्बर साधुओ के शरीर को देखकर हृदय मे जुगुप्सा नहीं करना। क्योकि यह भावना धर्म की घातक है। **(निर्विचिकित्सा अंग)**

हे क्षपक ! तू तत्त्व-कुतत्त्व की पहिचान कर। कुमार्ग और कुमार्गगामियो की वचन से स्तुति, मन से प्रशसा और काय से सराहना मत करना। अपने चित्त की धारा को विक्षिप्त मत करना। **(अमूढदृष्टि अंग)**

हे क्षपक ! धर्मात्माओ के दोषो को प्रगट करने की भावना मत कर। स्वकीय धर्म को वृद्धिंगत करने का प्रयत्न कर। अन्य के दोषो को प्रकट करने की भावना सम्यग्दर्शन की घातक है। **(उपगूहन अंग)**

हे क्षपकराज ! सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र से च्युत होने वाले स्वकीय मन को अपने मे स्थिर करने का प्रयत्न कर। यदि प्रमाद वा अज्ञान से तेरा मन क्वचित् विकृत होगा, वा सम्यग्दर्शन और चारित्रसे च्युत होगा तो तेरा कुमरण होगा और तुझे दुर्गतियो मे भ्रमण करना पडेगा। **(स्थितीकरण अग)**

हे आराधक ! तू शिवसुख के कारणभूत 'अहिंसा परमो धर्म ' मे प्रीति कर। निष्कपट भावों से धर्मात्माओं के साथ वात्सल्य भाव रख। **(वात्सल्य अग)**

हे गुणाधिप ! रत्नत्रयरूपी अग्नि के द्वारा अपनी आत्मा को निर्मल कर तथा दान, तप, जिनपूजा के द्वारा जिनधर्म का प्रचार-प्रसार कर। **(प्रभावना अग)**

हे क्षपकराज! प्रमाद को छोडकर जो जीवादि पदार्थ हेय (आस्रव, बध) हैं उनका हेय रूप से श्रद्धान कर और उपादेय (सवर, निर्जरा और मोक्ष) का उपादेय रूप से श्रद्धान कर। यह **व्यवहार सम्यग्दर्शन आराधना** है।

चिदानद चैतन्य स्वरूप अपनी आत्मा की आराधना करना, स्वकीय आत्मा की रुचि, प्रतीति **निश्चय आराधना** है।

**सम्यग्दर्शन आराधना का फल**

तीन जगत् में श्रेष्ठ, जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कथित सम्यग्दर्शन से उत्पन्न इस निर्मल रत्न का आदर-पूर्वक अभ्यास करो। हे क्षपक। इस सम्यग्दर्शन का अभ्यास करने वाले महानुभाव शीघ्र ही अपनी शक्ति से कर्मों के समूह का नाश कर परम ब्रह्म की आराधना कर चिदानद चैतन्य स्वरूप परमात्म पद को प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन नामक आराधना के लक्षण का वा दर्शन आराधना का प्रतिपादन करने वाली चौथी गाथा पूर्ण हुई।।४।।

अथ व्यवहारज्ञानाराधना प्रतिपादयति-

**सुत्तत्थभावणा वा तेसिं भावाणमहिगमो जो वा।**
**णाणस्स हवदि एसा उत्ता आराहणा सुत्ते॥५॥**

सूत्रार्थभावना वा तेषा भावानामधिगमो यो वा।
ज्ञानस्य भवत्येषा उक्ता आराधना सूत्रे॥५॥

**हवदि** भवति। कासौ। **आराहणा** आराधना। कस्य। **णाणस्य** ज्ञानस्य। कासावाराधना। **एसा** एषा। किंविशिष्टा। **उत्ता** उक्ता प्रोक्ता। कस्मिन्। **सुत्ते** सूत्रे परमागमे। एषेति का। **सुत्तत्थभावणा** वा सूत्रार्थभावना परमागमभावना। अथवा जो य इति क । **अहिगमो** अधिगम सम्यक् परिज्ञान केषा। **भावाणं** भावाना। **तेसि** तेषा पूर्वोक्तानामिति योजनिकाद्वार । सूत्रार्थभावाना वा तेषा भावना यो वा अधिगम एषा सूत्रे उक्ता ज्ञानस्याराधना भवतीति सक्षेपान्वयद्वार ।

---

अब व्यवहार ज्ञान-आराधना का प्रतिपादन करते हैं-

**''उन जीवादि नौ पदार्थों का जो अधिगम होता है उसको जिनागम मे ज्ञान की भावना कहा है और उसी को परमागम मे ज्ञान की आराधना कहा है अर्थात् यह सूत्रार्थ भावना ही परमागम मे ज्ञान की आराधना वा ज्ञानकी भावना है। ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार सूत्र मे ज्ञान आराधना कही है॥५॥**

अक्षर[१] शुद्ध पढना, अर्थ शुद्ध[२] पढना, दोनो शुद्ध[३] पढना, काल[४] मे पढना, विनय[५] से पढना, बहुमान[६] से पढना, उपधान से पढना[७] और गुरु का नाम नहीं छिपाना[८], यह आठ प्रकार का ज्ञानाचार है।

शास्त्रो का पठन करते समय अक्षर, विराम, विसर्ग, रेफ आदि को शुद्ध पढना चाहिए। क्योंकि अक्षर को शुद्ध नहीं पढने से अर्थ का अनर्थ हो जाता है, जैसे चिंता में एक अनुस्वार छोड देने से चिता अर्थ हो जाता है। यदि विराम पर ध्यान नहीं दिया तो ''जाने दो मत रोको'' इसके दो अर्थ होते हैं जाने दो, मत रोको। जाने दो मत, रोको। अत विराम पर ध्यान रखकर उसको शुद्ध पढना भी आवश्यक है।

वाचक शब्दो को शुद्ध पढकर उनका वाच्य अर्थ भी शुद्ध पढना चाहिए। क्योकि एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं- जैसे सैंधव का अर्थ घोडा भी है और सैंधा नमक भी। अर्थ प्रकरणवश किया जाता है, भोजन करते समय सैधव का अर्थ नमक और कहीं बाहर घूमने जाना हो तो घोडा।

अज का अर्थ बकरा, ब्रह्मा, जिसमे उत्पन्न होने की शक्ति नहीं है ऐसा शालि धान्य, आदि अनेक अर्थ हैं। शब्दो का अर्थ करते समय पाठक को ध्यान रखना पडता है कि इस समय इस शब्द का क्या अर्थ करना चाहिए। शब्दो के अर्थों का ध्यान नहीं रखने से पशुओं के घातरूप यज्ञ की प्रवृत्ति चली। ''अजैर्यष्टव्य'' अज का अर्थ है जिसमे अकुर पैदा होने की शक्ति नहीं है, ऐसा धान्य। परन्तु अज का अर्थ बकरा करके ही पर्वत ने यज्ञ मे पशुओ को होमने की प्रथा चलाई थी। इसी प्रकार जितने मत-मतान्तर चले हैं, वे अर्थ की विपरीतता से ही चले हैं।

काले विणये उवहाणे बहुमाणे तहेव णिण्हवणे।
वंजण अत्थे तदुभय णाणाचारो दु अट्ठविहो॥

इति गाथाकथितलक्षणाष्टविनयादिना ज्ञानमाराधनीयमिति भावार्थ ॥

सिद्धांते जिनभाषिते नवलसत्तत्त्वार्थभावाद्धुते,
भाव यो विदधीत वाधिगमनं कुर्वीत तस्यानिशं।
भक्त्या स प्रसभं कुकर्मनिचय भंक्त्वा च सम्यक्पर-
ब्रह्माराधनमद्भुतोदितचिदानंदं पदं विदते॥५॥

---

वाचक (शब्द) वाच्य (अर्थ) दोनो को शुद्ध पढना उभय शुद्ध कहलाता है।

शास्त्र पढने के लिए जो काल निषिद्ध है उसमे शास्त्र नहीं पढना चाहिए, सूर्योदय के दो घडी (४८ मिनट) पूर्व और दो घडी पश्चात्, मध्याह्न १२ बजे के दो घडी पूर्व और दो घटिका पश्चात्, सूर्यास्त के दो घटिका पूर्व और दो घटिका पश्चात् तथा अर्धरात्रि के दो घटिका पूर्व और दो घटिका पश्चात् तक का काल स्वाध्याय के लिए निषिद्ध है। इन कालो को छोडकर स्वाध्याय करना चाहिए।

शास्त्रो का पठन-पाठन विनय से करना चाहिए। अर्थात् हाथ-पैर धोकर चौकी बिछाकर, श्रुत भक्ति और आचार्य-भक्ति बोलकर विधिपूर्वक कायोत्सर्ग करके शास्त्र पढना चाहिए।

बार-बार नमस्कार करके अति भक्ति से शास्त्र पढना बहुमान है। विनय सामान्य है वह वाचनिक और कायिक भी हो सकती है, परन्तु बहुमान विशेष मानसिक अनुराग है।

शास्त्रपठन के प्रारम्भ मे कुछ नियम धारण करना, हृदय मे अर्थ की अवधारणा करना उपधान है।

जिस गुरु के समीप ज्ञान की आराधना की है, ज्ञान प्राप्त किया है, जिस गुरु ने ज्ञानदान दिया है उसका नाम नहीं छिपाना अनिह्नव है। एक अक्षर पढाने वाले को भी भूलना महापाप है और जो आत्म-कल्याणकारी ज्ञान देने वाले को भूल जाता है, उसके बराबर कोई पाप नहीं है।

हे क्षपक ! इस प्रकार आठ अग सहित ज्ञान की आराधना कर। यह ज्ञानाराधना ही तेरे अज्ञान का नाश करने वाली है और मुक्तिपद देने वाली है। इस प्रकार जिनभाषित आठ अग सहित ज्ञान की आराधना करनी चाहिए।

नव पदार्थो से लसत्, तत्त्वार्थ भाव से उत्पन्न, जिनभाषित सिद्धान्त मे कथित जो पदार्थ हैं, उनका जो भक्ति से श्रद्धान करता है, रात-दिन उनका अधिगमन करता है, अभ्यास, मनन, चितन करता है वह शीघ्र ही कुकर्मो के समूह का नाश कर समीचीन प्रकार से परम ब्रह्म की आराधना से उत्पन्न चिदानन्द रूप परम पद को प्राप्त करता है॥५॥

ज्ञानाराधना व्याख्याय चारित्राराधना प्रतिपादयति-

**तेरहविहस्स चरणं चारित्तस्सेह भावसुद्धीए।**
**दुविहअसंजमचाओ चारित्ताराहणा एसा ॥६॥**

त्रयोदशविधस्य चरण चारित्रस्येह भावशुद्ध्या।
द्विविधासयमत्यागश्चारित्राराधना एषा ॥६॥

---

ज्ञानाराधना की व्याख्या करके अब चारित्र आराधना का प्रतिपादन करते हैं-

**यहाँ पर भावशुद्धि पूर्वक तेरह प्रकार के चारित्र का आचरण करना और दो प्रकार के असंयम का त्याग करना यह चारित्र आराधना है ॥६॥**

पच महाव्रत, पच समिति और तीन गुप्ति का पालन करना तेरह प्रकार का चारित्र कहा है।

जो महापुरुषों (महाशक्तिशाली पुरुषों) के द्वारा धारण करने योग्य हैं वे महाव्रत कहलाते हैं। वे महाव्रत पॉच होते हैं।

**अहिसा महाव्रत-** हिंसा दो प्रकार की है भाव और द्रव्य। प्रमाद के वशीभूत होकर एकेन्द्रिय आदि प्राणियो का घात करना द्रव्यहिंसा है और आत्मा में रागद्वेष का प्रादुर्भाव होना भावहिंसा है। दोनों प्रकार की हिंसा का त्याग करना अर्थात् मन-वचन-कायसे किसी भी जीव की विराधना नहीं करना तथा आत्मा को कर्मों से कसने वाली, दु ख देने वाली वा आत्मा को दुर्गति में ले जाने वाली विभाव परिणति रूप जो कषाय है, उसका त्याग करना, कषाय के आधीन नहीं होना **अहिसा महाव्रत** है।

प्रमाद वा कषाय के वशीभूत होकर जो कुछ कहा जाता है वह असत्य है। उस असत्य के चार भेद हैं। 'है' उसको नहीं कहना, 'नहीं है' उसको 'है' कहना, वस्तु का विपरीत कथन करना और अप्रिय, निन्दनीय एव सावद्य कथन करना।

अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से जो वस्तु है, उसका निषेध करना प्रथम असत्य है। जैसे आत्मा स्वकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव से अस्ति रूप है उसका निषेध करना कि आत्मा है ही नहीं। पृथ्वी जल, अग्नि और वायु इन चार भूतों के सयोग से चेतना शक्ति उत्पन्न होती है तब आत्मा उत्पन्न हुआ ऐसा कहा जाता है और इनका नाश होता है तब आत्मा का भी नाश हो जाता है, न परलोक है, न नरक है, न स्वर्ग है, न पुण्य-पाप है और न पुण्य-पाप का भोक्ता आत्मा नाम की वस्तु ही है। इस प्रकार का कथन करना, अस्ति का निषेध करने वाला असत्य है।

जो वस्तु नहीं है, उसका अस्ति रूप से कथन करना दूसरा असत्य है- जैसे मोक्षपद को प्राप्त हुए जीव कभी ससार में लौटकर नहीं आते, उनका ससार मे लौटना कहना, इत्यादि नास्त्यात्मक असत्य है।

वस्तु का विपरीत कथन करना, जैसे वस्तु अनेक धर्मात्मक है उसका एकान्त रूप से कथन करना विपरीत असत्य है। साख्य मत के अनुसार आत्मा को सर्वथा नित्य कहना, बौद्ध मतानुसार वस्तु को सर्वथा अनित्य कहना, इत्यादि रूप से वस्तु का कथन करना विपरीत असत्य है।

जिस बात को कहने से जीवो की हिंसा होती है, जिसको सुनकर श्रोता पापो में प्रवृत्ति करता है, विपरीत आचरण करता है वह सावद्य असत्य है। जैसे किसी को कहना 'तुम खेती करो', 'कारखाना खोल लो', 'नाली साफ करो', इत्यादि वचनो से जीवहिंसा मे वृत्ति करता है, वह सावद्य असत्य है।

अत्र भवतीति क्रिया अध्याहार्या। भवति। कासौ। **चारित्ताराहणा** चारित्राराधना। का। **एसा** एषा। एषेति का। **चरणं** चरण अनुष्ठान। कस्य। **चरित्तस्स** चारित्रस्य। कतिविधस्य। **तेरहविहस्स** त्रयोदशविधस्य त्रिभिरधिका दश तस्य पचमहाव्रतपचसमितित्रिगुप्तिलक्षणस्य। उक्त च-

---

'इसका नाक काट लो', 'यह पापी है' 'दुष्ट है' 'तू मर जा' इत्यादि कठोर वचनो का उच्चारण करना अप्रशसनीय निंदनीय वचन है। इन चारों प्रकार के असत्य का त्याग करने से **सत्य महाव्रत** होता है।

बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण नहीं करना अचौर्य महाव्रत है। वा जिनेन्द्रकथित मार्ग के अनुसार चलना, उसके कथन को नहीं छिपाना **अचौर्य महाव्रत** है। मन, वचन, काय, कृत-कारित-अनुमोदना से स्त्री मात्र का त्याग करके स्वकीय परम ब्रह्म आत्मा में रमण करना **ब्रह्मचर्य महाव्रत** है।

दु ख वा आकुलता के कारण, वैर-विरोध को बढाने वाले, दुर्गति में ले जाने वाले परिग्रह का त्याग करना, पिच्छिका, कमण्डलु एव शास्त्र के सिवाय सब वस्तुओं का त्याग करना **अपरिग्रह महाव्रत** है।

सम् सम्यक्प्रकार की 'इति' प्रवृत्ति रूप क्रियाओं को समिति कहते हैं। ससारी जीवों की प्रवृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं। चलना, बोलना, खाना, किसी वस्तु को उठाना-रखना और शरीर का मैल, मल, मूत्र, नाक का मल, नख, केश आदि का क्षेपण करना।

इन क्रियाओं के कारण प्रवृत्तियों के पाँच नाम हैं जिनको **समिति** कहते है।

**ईर्या समिति** - 'ईर्' धातु गमन करने के अर्थ मे आती है। चार हाथ जमीन देखकर 'किसी जीव का घात न हो' ऐसी भावना के साथ कारुण्य हृदय से गमन करना।

**भाषा समिति** - हित, मित और प्रिय वचन बोलना। सर्व प्रथम तो मौन से ही रहना चाहिए। अर्थात् परम सत्य आत्म स्वभाव की एकाग्रता में रहकर बोलने का विकल्प नहीं होने देना चाहिए। यदि बोलने के विकल्प को नहीं रोक सके तो ऐसे वचन बोलने चाहिए जो स्वपर का हित करने वाले हों, प्रिय हों, अमृत के समान मधुर हों और सक्षिप्त हों।

मूलाचार आदि आचारग्रन्थों में कथित ४६ दोषों को टालकर शुद्ध परिमित भोजन करना **एषणा समिति** है। यद्यपि भोजन करना साधुओं का उत्सर्गमार्ग है, राजमार्ग नहीं है तथापि तपश्चरण के कारण-भूत शरीर को स्थिर रखने के लिए अनासक्ति पूर्वक आवश्यकतानुसार शुद्ध आहार करना एषणा समिति है।

कारुण्य भावों से जीवों की रक्षा करते हुए पुस्तक, कमण्डलु आदि वस्तु को रखते-उठाते समय सावधानी रखना, किसी जीव की विराधना न हो ऐसे भावों से जमीन देखकर कोमल वस्त्र या मयूर पिच्छिका से झाडकर वस्तु को उठाना, रखना **आदाननिक्षेपण समिति** है। इस समिति का पालन करने के लिए चर्म चक्षु के साथ ज्ञान चक्षु की भी आवश्यकता है।

शारीरिक मल-मूत्र, कफ, नाक मैल, नख, केश आदि को निर्जन्तु शुद्ध भूमि पर चर्मचक्षु और ज्ञानचक्षु से देखकर क्षेपण करना **व्युत्सर्ग समिति** है।

सम्यक् प्रकार से मन, वचन, काय का निरोध करना **गुप्ति** हे। समिति प्रवृत्ति रूप है और **गुप्ति** निवृत्ति रूप है।

स्वकीय मन को शुभाशुभ विकल्पों से रहित कर अपने (आत्म) स्वरूप मे स्थिर करना वा मन को एकाग्र करके तत्त्वों का चिन्तन करना **मनोगुप्ति** है।

वचन बोलने के विकल्प को छोडकर स्व-स्वरूप में रमण करना **वचन गुप्ति** है।

कायिक हलन-चलन क्रियाओं को रोक कर शरीर को स्थिर करके आत्मा का ध्यान करना, आत्मगुणों का चिन्तन करना **काय गुप्ति** है।

इस प्रकार पाँच समिति, तीन गुप्ति और पच महाव्रत रूप तेरह प्रकार के चारित्र का भावशुद्धि से पालन करना चारित्र आराधना है। सो ही कहा है-

**महाव्रतानि पंचैव पंचैव समितीस्तथा।**
**गुप्तीस्तिस्रश्च चारित्रे त्रयोदशविधे विदुः ।।**

क्व। इह इहाराधनाया। कया। **भावसुद्धीए** भावशुद्ध्या भावश्चित्तानुरागस्तस्य शुद्ध्या नैर्मल्येन तामतरेण चारित्र गगनारविंदमकरदवत्प्रतिभासते। यदुक्तम्-

**भावशुद्धिमबिभ्राणाश्चारित्रं कलयति ये।**
**त्यक्त्वा नाव भुजाभ्यां ते तितीर्षति महार्णवम् ।।**

इति। अस्य त्रयोदशविधस्य चारित्रस्य यथावदनुष्ठान कदा करिष्यामीति चित्तोल्लासेन शीतवातादिजनितशरीरखेदे सति मनस सक्लेश-रहितत्वेनेत्यर्थ । न केवल चारित्रस्य चरण चारित्राराधना भवति अन्यदपीत्याह। **दुविहअसजमचाओ** द्विविधासयमत्याग । द्वौ भेदौ प्रकारौ यस्यासौ द्विविध द्विविधश्चासावसयमश्च द्विविधासयम द्विविधासयमस्य त्याग द्विविधासयमत्याग । द्विविधासयमस्य किं

---

"पच महाव्रत, पच समिति और तीन गुप्ति के पालन करने को १३ प्रकार का चारित्र कहा है।" हे क्षपक ! इस चारित्र का निरतिचार पालन करना चारित्र आराधना है, इसको हृदय मे धारण करो।

चित्त के अनुराग को भावशुद्धि कहते है। उस भावशुद्धि से चारित्र का पालन करना चारित्र आराधना है। भावशुद्धि के बिना, बाह्य चारित्र का पालन करना आकाश के फूल के मकरद के समान असत् रूप प्रतिभासित होता है। अर्थात् जैसे आकाश के फूल ही नहीं है, तो फिर उसमे मकरन्द (पराग) कहाँ से हो सकती है, उसी प्रकार हे क्षपक ! भावशुद्धि के बिना चारित्र आराधना नहीं हो सकती। सो ही कहा है-

"भावशुद्धि के बिना जो चारित्र को धारण करते हैं वे निश्छिद्र नौका को छोडकर भुजाओ से महासमुद्र को तैरना चाहते है।"

हे क्षपक ! "इस तेरह प्रकार के चारित्र का यथावत् जिनेन्द्रकथित शास्त्र के अनुसार पालन कब करूगा" इस प्रकार मानसिक उल्लास (अनुराग) से शीत, वात आदि जनित शारीरिक कष्ट होने पर मनको सक्लेश युक्त नहीं करना ही वास्तविक चारित्र आराधना है।

हे क्षपक ! केवल तेरह प्रकार के चारित्र का पालन करना ही चारित्र आराधना नहीं है, अपितु चारित्र के साथ दो प्रकार के असयम का भी त्याग करना चारित्र आराधना है।

**प्रश्न** - दो प्रकार के असयम का लक्षण क्या है?

**उत्तर** - इन्द्रिय असयम और प्राणी असयम के भेद से असयम दो प्रकार का है।

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण और मन की स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति को नहीं रोकना, इन्द्रिय असयम है और पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पतिरूप पॉच स्थावर और दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और सैनी-असैनी रूप पचेन्द्रिय स्वरूप त्रस जीवो की प्रमाद के वश हो विराधना करना प्राणी-असयम है। सो ही कहा है-

लक्षण। एकस्तावदिद्रियासयम अन्य प्राणासंयम। द्वयोर्लक्षण निरूप्यते। य स्पर्शनरसनघ्राणचक्षु श्रोत्रलक्षणाना मनसश्च स्पर्शरसगधवर्णशब्दलक्षणेषु स्वकीयविषयेषु स्वेच्छाप्रचार स इद्रियासयम· कथ्यते। यच्च पृथिव्यप्तेजो-वायुवनस्पतिलक्षण-पचस्थावराणा द्वींद्रियत्रींद्रियचतुरिद्रियपचेद्रियलक्षणत्रसाना च प्रमादचारित्रत्वाज्जीवितव्यपरोपण स प्राणासयम। यदुक्त-

**मनसश्चेन्द्रियाणां च यत्स्वस्वार्थे प्रवर्तनम्।**
**यदृच्छयेव तत्तज्ज्ञा इंद्रियासंयमं विदुः॥**

**स्थावराणां त्रसाना च जीवानां हि प्रमादतः।**
**जीवितव्यपरोपो यः स प्राणासंयमः स्मृतः॥**

तस्य द्विविधासयमस्य त्याग परिहार इतियोजनिकाद्वार। त्रयोदशविधस्य चारित्रस्य इह भावशुद्ध्याचरणम् द्विविधासयमत्याग, एषा चारित्राराधना भवतीति सक्षेपान्वयद्वार। एवमसयम परिहृत्य पचेद्रियनिरोधसकलप्राणिदयालक्षणे सयमे स्थित्वा त्रयोदशविध चारित्रमाराधनीयमिति भावार्थ॥

**द्वेधासंयमवर्जितं गुरुपदद्वंद्वाब्जसंसेवना-**
**दाप्तं यश्चिनुते त्रयोदशविधं चारित्रमत्यूर्जितम्।**
**भक्त्या स प्रसभं कुकर्मनिचयं भंक्त्वा च सम्यक् पर-**
**ब्रह्माराधनमद्भुतोदितचिदानंदं पदं विदते॥६॥**

---

पॉच इन्द्रिय और मन को अपने-अपने स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द और चिन्तन में इच्छानुसार प्रवृत्ति करना, इन्द्रियोको और मन को अपने विषयो से नहीं रोकने को केवली भगवान ने इन्द्रिय असयम कहा है और प्रमाद के वश हो त्रस एव स्थावर जीवो का घात करना, उनके प्राणो का व्यपरोपण करना प्राणी असयम है। इन दोनो प्रकार के असयम का त्याग करना (सयम को धारण करना)। इस प्रकार भावशुद्धि से तेरह प्रकार के चारित्र को धारण करना और दो प्रकार के असयम का त्याग करना चारित्र आराधना है।

हे क्षपक! आत्मकल्याण करने के लिए तू असयम का परिहार करके पचेन्द्रिय-निरोध लक्षण इन्द्रिय सयम और सर्व प्राणियो पर दया करना लक्षण प्राणिसयम मे स्थित होकर तेरह प्रकार के चारित्र की आराधना कर। सो ही कहा है-

हे क्षपक! जो भव्यात्मा दो प्रकार के असयम का त्याग करके गुरु के चरण-कमल से प्राप्त श्रेष्ठ चारित्र को भक्तिपूर्वक स्वीकार करता है, वह शीघ्र ही कुकर्मो के समूह का नाशकर सम्यक् परम ब्रह्म की आराधना से उत्पन्न चिदानन्द चैतन्य स्वरूप पद को प्राप्त करता है॥६॥

चारित्राराधना व्याख्याय तप आराधना प्रतिपादयति-

**बारहविहतवयरणे कीरइ जो उज्जमो ससत्तीए।**
**सा भणिया जिणसुत्ते तवम्मि आराहणा णूणं॥७॥**

द्वादशविधतपश्चरणे क्रियते य उद्यम स्वशक्त्या।
सा भणिता जिनसूत्रे तपसि आराधना नूनम्॥७॥

---

इस प्रकार चारित्र आराधना का व्याख्यान करके अब तप आराधना का प्रतिपादन करते हैं-

**बारह प्रकार के तपश्चरण में जो अपनी शक्ति के अनुसार उद्यम करता है, निश्चय से उसे जिनसूत्र में तप आराधना कहा है॥७॥**

आभ्यन्तर और बाह्य के भेद से तप दो प्रकार का है। **बाह्य तप के** छह भेद हैं-

**अनशन** - स्वाद्य, खाद्य, लेह्य और पेय रूप चार प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन है।

**अवमौदर्य** - भूख से कम खाना अवमौदर्य है।

**व्रतपरिसंख्यान** - आहार को जाते समय कुछ-न-कुछ नियम लेना।

**रस परित्याग** - इन्द्रियो को वश में करने के लिए घी, तेल, नमक, दूध, दही और मीठा (चीनी, गुड आदि) इन छहों रसों का त्याग करना।

**विविक्त शय्यासन** - मन को स्थिर करने के लिए, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने के लिए और स्वाध्याय की सिद्धि के लिए एकान्त में बैठना-सोना।

**कायक्लेश** - उपसर्ग और परिषहों को सहन करने की शक्ति प्राप्त करने के लिए सर्दी, गर्मी, भूख-प्यास आदि सहन करना।

ये छह प्रकार के बाह्य तप मिथ्यादृष्टि भी तपते हैं और बाह्य में दृष्टिगोचर भी होते हैं अत ये बाह्य कहलाते हैं। दशलक्षण, सोलहकारण आदि जितने भी व्रतों का कथन किया है वे सब बाह्य तप हैं।

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह **अतरग तप** हैं।

**प्रायश्चित्त** - प्रमाद और अज्ञान के कारण व्रतों में लगे हुए दोषों का प्रमार्जन करने के लिए विनय पूर्वक प्रायश्चित्त लेना (दण्ड लेना)।

**विनय** - दर्शन, ज्ञान, चारित्र और उपचार के भेद से विनय चार प्रकार का है वा तप के भेद से पाँच प्रकार का भी है। सम्यग्दर्शन का विनय करना, अर्थात् जीवादि पदार्थो के अस्तित्व में और आत्मतत्त्व मे रुचि रखना **दर्शन विनय** है। वा व्यवहार में सम्यग्दर्शन की पूजा करना, उसके पच्चीस दोषों का निराकरण भी दर्शन विनय है। सम्यग्ज्ञान के साधनभूत जिनेन्द्रकथित शास्त्रो का विनय करना, उनकी पूजा करना और शास्त्रज्ञों का सत्कार करना **ज्ञान विनय** है। तेरह प्रकार के चारित्र का विनय करना, चारित्र धारण करने का उत्साह रखना "वह समय कब आयेगा जिस दिन मैं दिगम्बर मुद्रा धारण कर आत्मकल्याण करूँगा" ऐसी भावना रखना **चारित्र विनय** है। १२ प्रकार के तपश्चरण करने का अनुराग रखना, तपश्चरण करने में उत्साह रखना **तप विनय** है।

सम्यक्चारित्रधारी मुनिराज के आने पर उठकर खडे होना, चलने पर उनके पीछे-पीछे चलना, परोक्ष में उनको नमस्कार करना, उनकी आज्ञा का पालन करना ये सब **उपचार विनय** हैं।

**भणिया** भणिता प्रतिपादिता। कासौ। **आराहणा** आराधना। क्व। **तवम्मि** तपसि। कस्मिन् भणिता। **जिणसुत्ते** जिनसूत्रे सर्वज्ञागमे। कथ। **णूणं** नूनं निश्चित। का। **सा** आराधना। सा इति का। **कीरइ** क्रियते कासौ। **जो** य· । य इति क । **उज्जमो** उद्यम· उपक्रम । कस्मिन्। **बारसविहतवयरणे** द्वादशविधतपश्चरणे षड्बाह्यषडभ्यतरलक्षणे। कया। **ससत्तीए** स्वशक्त्या शक्त्या विना हि क्रियमाणतपोनिषेधत्वात्। तदुक्त-

---

**वैयावृत्य**-आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, कुल, गण, सघ, साधु और मनोज्ञ इन दश प्रकार के महानुभावो की सेवा करना वैयावृत्य नामका तप है।

जो भव्य जीवो को मोक्षमार्ग की शिक्षा देते हैं, दैगम्बरी दीक्षा प्रदान करते हैं, प्रमाद वा अज्ञान से लगे हुए दोषों का निराकरण करने के लिए प्रायश्चित्त देते हैं वे चतुर्विध सघ के नायक **आचार्य परमेष्ठी** कहलाते हैं।

जो ११ अग और चौदह पूर्व के पाठी होते हैं, जो सघ मे सबको पठन-पाठन कराते हैं, वे **उपाध्याय परमेष्ठी** कहलाते हैं।

जो अनशन आदि घोर तपश्चरण करते हैं, वे **तपस्वी** कहलाते हैं।

जो सघ में रहकर ज्ञानार्जन करते हैं, ज्ञान-ध्यान में लीन रहते हैं वे **शैक्ष्य** कहलाते हैं।

वृद्ध रोगी साधु **ग्लान** कहलाते हैं। अपने गुरुओ के द्वारा दीक्षित वा गुरु-परम्परा मे दीक्षित **कुल** कहलाते हैं। साधुओं के समूह को **गण** कहते हैं। मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका के समूह को **संघ** कहते हैं।

जो वाग्मी हैं, तत्त्ववेत्ता हैं, जिनसे धर्मप्रभावना होती है, समाज पर जिनका प्रभाव पडता है ऐसे मुनि, व्रती वा असयमी विद्वान् मनोज्ञ कहलाते हैं। इनकी आगत आपत्तियो को दूर करना, इनके पैर दबाना वैयावृत्य नामक तप है।

**स्वाध्याय** - शास्त्रो का पठन (वाचना) करना, अपने सशयको दूर करने के लिए गुरुजनो से पूछना (पृच्छना), पठित ग्रन्थो के अर्थ का मन मे चिंतन करना (अनुप्रेक्षा), पठित पाठ को बार-बार दुहराना (आम्नाय) और प्रथमानुयोग आदि का भव्यों को अर्थ समझाना, उनको तत्त्व का ज्ञान कराना (धर्मोपदेश) ऐसे पाँच प्रकार का स्वाध्याय करना, स्वाध्याय नामका तप है।

**व्युत्सर्ग** - बाह्य मे परिग्रह ममत्व का त्याग करना और शरीर के ममत्व का और कषायो का त्याग करना व्युत्सर्ग नामका तप है।

**ध्यान**-मन को एकाग्र करके अपने आप में स्थिर करना, सारे विकल्पो को दूर करके निर्विकल्प समाधि में लीन होना ध्यान है।

हे क्षपक ! इस प्रकार, जिनेन्द्रदेव कथित बारह प्रकार के तपश्चरण को अपनी शक्ति के अनुसार धारण करो। क्योंकि शक्ति का उल्लघन करके तपश्चरण करने से मन और इन्द्रियाँ विक्षिप्त हो जाते हैं एव आर्त्तध्यान की उत्पत्ति होती है। सो ही कहा है-

तं चि तवो कायव्वो जेण मणोऽमंगलं ण चिंतेइ।
जेण ण इंदियहाणी जेण य जोगा ण हायंति ॥

तत्रानशनावमौदर्यवृत्तिपरिसख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा वाह्य तपः, प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरमाभ्यतर तप· इति द्वादशविधतपश्चरणे य. उद्यम· सा तपस्याराधना भवति। इयमपि दर्शनज्ञानचारित्राराधनातावदाराधनीयैव यतो नैनामतरेण निकाचितकर्मभ्यो मोक्ष ॥ यदुक्त-

निकाचितानि कर्माणि तावद्भस्मीभवति न।
यावत्प्रवचनप्रोक्तस्तपोवह्निर्न दीप्यते॥

तथा च निश्चयनय जिज्ञासुनापि पाक्षिकेण पूर्वमप्रमत्तेनेय व्यवहाराराधना सम्यगुपास्या यतो नैना विना निश्चयनये प्रवृत्ति । यदुक्त-

जीवोऽप्रविश्य व्यवहारमार्गं न निश्चयं ज्ञातुमुपैति शक्तिम्।
प्रभाविकाशेक्षणमंतरेण भानूदयं को वदते विवेकी॥

---

"तपश्चरण ऐसा करना चाहिए जिससे मन अमगल का चिंतन न करे (आर्त्त ध्यान मे न जाये), जिससे इन्द्रियो की हानि न हो और मन, वचन, काय रूप योग विकल न हो।

इस प्रकार अन्तरग और बहिरग तप मे प्रवृत्ति करना, तपश्चरण मे अनुराग रखना, तप आराधना है।

जो भव्य प्राणी इस ससार से छूटना चाहता है उसको सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपश्चरण रूप चार प्रकार की आराधना करनी चाहिए। क्योकि आराधना के बिना निकाचित कर्मों का विनाश नहीं होता। सो ही कहा है-

"जब तक जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित तपश्चरण रूपी अग्नि हृदय मे प्रज्वलित नहीं होती है, तब तक निकाचित कर्म भस्म नहीं होते है।"

हे क्षपक ! निश्चय नय के जिज्ञासु पाक्षिक को पूर्व मे अप्रमादी होकर इस व्यवहार आराधना की उपासना भली प्रकार करनी चाहिए क्योकि व्यवहार आराधना की उपासना के बिना निश्चय नय में (निश्चय आराधना मे) प्रवृत्ति नहीं होती है। जैसे तन्दुल का बाह्य छिलका निकाले बिना, भीतर की लालिमा नहीं निकल सकती। सो ही कहा है-

"व्यवहार मार्ग मे प्रवेश किये बिना जीव निश्चय मार्ग को जानने मे वा निश्चय मे प्रवेश करने में समर्थ नहीं होता है। जैसे सूर्य की प्रभा और उसके विकास को देखे बिना कौन विवेकी सूर्य के उदय को कह सकता है, जान सकता है।"

एव चतुर्विधाराधना भव्येनाराधनीयेति तात्पर्यार्थ ।

षोढाभ्यतरषड्विधोत्तरतपस्यर्हद्वरैर्भाषिते
शक्तिं स्वामनुपेक्ष्य यो वितनुते चारित्रपात्रोद्यम।
भक्त्या स प्रसभ कुकर्मनिचय भक्त्वा च सम्यक् पर-
ब्रह्माराधनमद्भुतोदितचिदानद पद विदते ॥७॥

व्यवहाराराधनास्वरूप प्रतिपाद्य निश्चयाराधनास्वरूप प्रतिपादयति-

**सुद्धणये चउखंधं उत्तं आराहणाइ एरिसियं।**
**सव्ववियप्पविमुक्को सुद्धो अप्पा णिरालंबो॥८॥**

शुद्धनये चतु स्कधमुक्त आराधनाया ईदृशम्।
सर्वविकल्पविमुक्त शुद्ध आत्मा निरालब· ॥८॥

**उत्तं** प्रोक्त। किं तत्। **चउखंधं** चतु स्कध चतुर्णां सम्यग्दर्शनादीना समुदाय । कस्या.। **आराहणाए** आराधनाया । कस्मिन्। **सुद्धणये** निश्चयनये। कीदृशमुक्त। **एरिसिय** ईदृश। ईदृशमिति कीदृश। **अप्पा** आत्मा जीव । कथभूत । **सव्ववियप्पविमुक्को** सर्वविकल्पविमुक्त सर्वे च ते विकल्पाश्च कर्तृकर्मादयस्तैर्विमुक्त विशेषेण मुक्तो रहित । पुन कथभूत । शुद्ध कर्ममलकलकविवर्जित । पुनरपि कथभूत । **णिरालंबो** निरालब पचेद्रियविषयसुखाद्यालबनरहित । किन्तु चिच्चमत्कारशुद्धपरमात्मस्वरूपालबन इत्यर्थ इति विशेष· ॥८॥

---

इस प्रकार इन चार प्रकार की व्यवहार आराधनाओं की भव्यो को आराधना करनी चाहिए ऐसी जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा है।

जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कथित बाह्याभ्यतर दो प्रकार (१२ प्रकार) के तपश्चरण में अपनी शक्ति के अनुसार जो भक्तिपूर्वक प्रवृत्ति करता है, चारित्र को निर्मल करने वाले तपश्चरण मे उद्यमी रहता है, वह शीघ्र ही कुकर्मों के समूह का नाश करके सम्यक् प्रकार से की गई परम ब्रह्म की आराधना से उत्पन्न चिदानन्द पद को प्राप्त करता है ॥७॥

इस प्रकार **देवसेन आचार्य** निश्चय आराधना की कारणभूत व्यवहार आराधना का कथन करके अब निश्चय आराधना का प्रतिपादन करते हैं-

**शुद्ध निश्चयनय से यह आत्मा सर्व विकल्पों से रहित, इन्द्रिय-विषयो के अवलम्बन को छोडकर निरालम्ब होकर शुद्धात्मा की आराधना करता है, उसे ही चार प्रकार की आराधना कहा है ॥८॥**

शुद्ध निश्चय नय से आत्मा मे कर्त्ता-कर्म, राग-द्वेष आदि कोई विकल्प नहीं है अत आत्मा सर्व विकल्पों से रहित है। निश्चय नय से आत्मा कर्म-कलक से रहित है अत शुद्ध है। निश्चय नय से आत्मा पचेन्द्रियो के विषय-व्यापार और तत्सम्बन्धी सुखाभिलाषाओं से रहित है अत निरालम्ब है।

निश्चय नय से चित् चमत्कार, अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य, अनन्त चतुष्टय का धारी आत्मा है, उसमें रमण करना ही चार प्रकार की आराधना है।

तस्या निश्चयाराधनाया विशेषमुपदर्शयन्नाह-

**सद्दहइ सस्सहावं जाणइ अप्पाणमप्पणो सुद्धं।**
**तं चिय अणुचरइ पुणो इंदियविसए णिरोहित्ता ॥९॥**

श्रद्धधाति स्वस्वभाव जानाति आत्मानमात्मन. शुद्धम्।
तमेवानुचरति पुनरिंद्रियविषयान्निरुध्य ॥९॥

**सद्दहइ** श्रद्धधाति प्रत्येति। क। **सस्सहाव** स्वस्वभाव शुद्धात्मान। यदा स्वस्वभाव परमात्मस्वरूप श्रद्धत्ते तदा दर्शन भण्यते। पुन किं करोतीत्याह। **जाणइ** जानाति। क। **अप्पाणं** आत्मान। कथभूत। **सुद्धं** रागादिमलरहित। कस्मात् सकाशात्। **अप्पणो** आत्मन निजात्मस्वरूपात्। यदा तु आत्मन सकाशात् आत्मान जानाति तदा ज्ञान भण्यते **पुणो** पुन पश्चात् **तं चिय** तमेव **अणुचरइ** अनुचरति तमेव शुद्धात्मानमनुचरति पुन. पुनराचरति अनुतिष्ठतीत्यर्थ । यदा तु तमेव शुद्धपरमात्मानमनुचरति तदा चारित्र भण्यते। किं कृत्वा। **णिरोहित्ता** निरुध्य। कान्। **इंदियविसए** इद्रियविषयान् पचेंद्रियाणा विषया गोचरा सप्तविंशतिसख्याता·। तत्र स्पर्शनेद्रियस्य अष्टौ विषया भवति। ते के गुरुलघुस्निग्धरूक्षशीतोष्णमृदुकर्कशलक्षणा । रसनाया कटुकतीक्ष्णमधुराम्लक्षारा पच। घ्राणस्य सुगधदुर्गन्धौ। चक्षुषो श्वेतपीतरक्तनीलकृष्णा पच। श्रोत्रस्य निषादर्षभगाधारषड्जमध्यमधैवतपचमलक्षणा· सप्त स्वरा इति सर्वे मिलित्वा सप्तविंशतिविषया भवति तानिंद्रियविषयान्निरुध्य सकोच्य। एतेन तपोप्यात्मैवेत्युक्त स्यात् ॥९॥

---

उस निश्चय आराधना का विशेषरूप से विभाजन करके आचार्यदेव कथन करते हैं-

अपनी शुद्धात्मा के स्वस्वभाव का श्रद्धान करना दर्शनाराधना है। अपनी शुद्धात्मा के स्वस्वभाव को जानना ज्ञानाराधना है और पचेन्द्रिय विषयाभिलाषाओं को रोककर (छोड़कर) निज शुद्ध स्वभाव में आचरण करना, रमण करना चारित्राराधना और तपाराधना कहलाती है॥९॥

हे क्षपक ! जब यह ससारी आत्मा परमात्मस्वरूप निज शुद्ध आत्मा का श्रद्धान करता है, प्रतीति करता है, दृढ़ विश्वास करता है कि "मैं सिद्ध स्वरूप हूँ, वास्तव में (द्रव्यार्थिक नय से) सिद्ध और मुझ में कोई अन्तर नहीं है, ऐसी दृढ़ प्रतीति होती है आतरिक (मात्र वचनात्मक नहीं) तब उसे सम्यग् दर्शन (दर्शनाराधना) कहते हैं। जब निज शुद्ध आत्मस्वरूप का ज्ञान होता है, शुद्धात्मा को जानता है तब वह ज्ञानाराधना कहलाती है और जब पचेन्द्रियों के विषयों की अभिलाषाओं का त्याग करके अपने निज शुद्ध स्वरूप में रमण करता है, वही चारित्र और तप आराधना है।

**शका** - चारित्र में तप आराधना कैसे गर्भित हो सकती है ?

**उत्तर** - हल्का-भारी, रूखा-चिकना, शीत-उष्ण, मृदु और कर्कश ये आठ स्पर्शन इन्द्रिय के विषय हैं। कषायला, तीक्ष्ण (तिक्त), मधुर, खट्टा और खारा (कटु) ये पाँच रसना इन्द्रिय के विषय हैं। सुगन्ध और दुर्गन्ध ये दो घ्राण इन्द्रिय के विषय हैं। श्वेत (सफेद), पीत (पीला), लाल, नीला और काला ये पाँच चक्षु इन्द्रिय के विषय हैं। निषाद, ऋषभ, गाधार, षड्ज, मध्यम, धैवत और पचम ये सात कर्ण इन्द्रिय के विषय हैं। ये सब मिलकर पचेन्द्रियों के सत्ताईस विषय हैं।

इन पाँच इन्द्रियों के विषयों का त्याग कर अपने में रमण करना तप है क्योंकि पाँच इन्द्रियों की अभिलाषा (इच्छा) का परित्याग करना तप है। पाँच इन्द्रियों के विषयों का त्याग किये बिना चारित्र की आराधना नहीं होती, अत इन्द्रियनिरोध रूप तप चारित्र में गर्भित हो जाता है। जिस प्रकार आत्मा में रमण करना निश्चय चारित्र है, वैसे ही निज शुद्धात्मा में तपना तप है॥९॥

इदमेव दर्शयति-

**तम्हा दंसण णाणं चारित्तं तह तवो य सो अप्पा।**
**चइऊण रायदोसे आराहउ सुद्धमप्पाणं॥१०॥**

तस्माद्दर्शन ज्ञान चारित्र तथा तपश्च स आत्मा।
त्यक्त्वा रागद्वेषौ आराधयतु शुद्धमात्मानम्॥१०॥

भवतीत्यध्याहार्य व्याख्यायते। भवति। कोसौ। **सो अप्पा** स. पूर्वोक्त विश्वविख्यातो वा आत्मा। कि भवतीत्याह। **दंसण णाणं चरित्तं तह तवो य** दसणेति प्राकृतत्वादनुस्वारलोप·। दर्शन ज्ञान चारित्र तथा तपश्च तस्माद्दर्शनज्ञानचारित्रतपोमयकारणात् क्षपक **आराहउ** आराधयतु। क। **अप्पाण** आत्मान। कथभूत। शुद्ध रागादिमलमुक्त। किं कृत्वा। **चइऊण** त्यक्त्वा परित्यज्य। कौ। **रायदोसे** रागद्वेषौ रागश्च द्वेषश्च रागद्वेषौ तौ रागद्वेषौ-

**णवि तं कुणइ अमित्तो सुट्ठुवि सुविराहिओ समत्थोवि।**
**जं दोयं अणिगाहिय करंति रागो य दोसो य॥**

स आत्मा दर्शनज्ञानचारित्रतपोमय· कथमिति चेदुच्यते। यदायमात्मा त परमात्मान श्रद्दधाति तदा दर्शन यदा जानाति तदा ज्ञान यदानुचरति तदा चारित्र यदा परद्रव्याभिलाष परिहरति तदा तप ॥ यदुक्त-

---

वही दर्शाते हैं-

**दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप रूप आत्मा ही है इसलिए राग-द्वेष का त्याग करके निज शुद्धात्मा की आराधना करनी चाहिए॥१०॥**

प्राकृत व्याकरण के अनुसार दर्शन शब्द के अनुस्वार (न) का लोप हो जाता है।

वह विश्वविख्यात आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप मय है। क्योकि दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप आत्मा को छोडकर अन्यत्र नहीं पाये जाते हैं, अत इनका कारण आत्मा ही है। इसलिए हे क्षपक ! राग-द्वेष का त्याग कर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपोमय निर्मल शुद्धात्मा की आराधना करो।

जो रागद्वेष का त्याग न करके तपश्चरण में प्रवृत्ति करते हैं वे भली प्रकार से आत्मा की आराधना करने में समर्थ नहीं होते हैं अत हे क्षपक ! आत्माराधना करने के लिए हृदय का मथन करने वाले राग द्वेष को हृदय से निकाल कर फेक दो।

यह आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपोमय क्यो है? इसी का कथन करते हैं। जब यह आत्मा शुद्ध नित्य निरजन आत्मा का श्रद्धान करता है, तब दर्शनमय हो जाता है। वही आत्मा जब अपने आपको जानता है, अपने आप का अनुभव करता है तब ज्ञानमय हो जाता है। जब वही आत्मा, राग-द्वेष का परित्याग कर निज शुद्धात्मा मे रमण करता है तब चारित्रमय कहलाता है और जब वही आत्मा पर-द्रव्य की अभिलाषाओ का त्याग कर स्व में तपन करता है, रमण करता है तब तपोमय कहलाता है। क्योकि दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप रूप परिणमन ज्ञान ही करता है और ज्ञान ही आत्मा का निज स्वरूप है अत दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपोमय आत्मा ही है। सो ही कहा है-

विशुद्धे स्वस्वभावे यच्छ्रद्धानं शुद्धिबुद्धितः।
तन्निश्चयनये सम्यग्दर्शनं मोक्षसाधनं॥

आत्मानमात्मसभूत रागादिमलवर्जितं।
यो जानाति भवेत्तस्य ज्ञानं निश्चयहेतुजं॥

तमेव परमात्मानं पौनःपुन्यादयं यदा।
अनुतिष्ठेत्तदा त्वस्य ज्ञानं चारित्रमुत्तमं॥

परद्रव्येषु सर्वेषु यदिच्छाया निवर्त्तन।
ततः परममात्मान तन्निश्चयनयस्थितैः॥

इति निश्चयाराधनास्वरूप परिज्ञाय क्षपकेण ससारशरीरभोगेभ्यो विरज्य शुद्धात्मस्वरूपमेवाराधनीयमिति तात्पर्यार्थ· ॥१०॥

ननु भगवन् निश्चयाराधनायात्मात्मस्वरूपे आराधिते आराधनाराध्याराधकफलमिति चत्वारो भेदा कथ घटत इति पृष्ट स्पष्टमाचष्टे आचार्य -

---

"निर्मल बुद्धि से विशुद्ध निर्मल आत्मस्वभाव का जो श्रद्धान होता है, प्रतीति होती है, निश्चयनय से वही मोक्ष का साधन सम्यग्दर्शन कहलाता है।"

जब आत्मा (ससारी जीव) राग-द्वेष मल से रहित निर्मल आत्मा से उत्पन्न ज्ञानमय अपनी आत्मा को जानता है, अनुभव करता है तब निश्चय कारण से उत्पन्न आत्मा का ज्ञान ही ज्ञानाराधना है। जब आत्मा पुन पुन परमात्मा-स्वरूप अपनी आत्मा का अनुष्ठान करता है तब उस आत्मा का ज्ञान ही उत्तम चारित्र रूप हो जाता है।

जब यह आत्मा सर्व पर-द्रव्यो की अभिलाषाओ का त्याग कर परमात्म स्वरूप अपनी आत्मा मे तपन करता है, तब आत्मा का ज्ञान ही निश्चय नय से तपोमय हो जाता है। अत निश्चय नय से यदि अभेदात्मक कथन किया जाता है तो चार आराधनात्मक एक आत्मा ही है इसलिए हे क्षपक ! तू सारे विकल्पो को छोडकर निज शुद्धात्मा का ध्यान कर।

इस प्रकार निश्चय आराधना के स्वरूप को जानकर समाधिमरण के इच्छुक क्षपक को ससार, शरीर और भोगो से विरक्त होकर स्वकीय शुद्धात्मा की ही आराधना करनी चाहिए॥१०॥

"हे भगवन् ! निश्चय आराधना मे शुद्ध आत्मस्वरूप की आराधना होने पर आराधना, आराध्य, आराधक और आराधनाफल ये चार भेद कैसे घटित होते हैं" ऐसा शिष्य के द्वारा पूछने पर आचार्यदेव स्पष्ट करते हुए कहते है-

**आराहणमाराहं आराहय तह फलं च जं भणियं।**
**तं सव्वं जाणिज्जो अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥११॥**

आराधनमाराध्य आराधकस्तथा फल च यद्भणितम्।
तत्सर्वं जानीहि आत्मान चैव निश्चयत ॥११॥

हे क्षपक **जाणिज्जो** जानीहि। किं तत्। **तं सव्व** तत्सर्वं पूर्वोक्त निखिल । क। **अप्पाणं चेव** आत्मानमेतत् शुद्धात्मानमेव। कस्मात् **णिच्छयदो** निश्चयत· परमार्थत । तत् किमित्याह। **जं भणियं** यद्भणित यत् उक्त। कि स्वरूप। **आराहण आराहं आराहय तह फलं च** आराधन सम्यग्दर्शनादिचतुष्टयोद्योतनोपायरूप आराध्यं सम्यग्दर्शनादिक आराधक पुरुषविशेष क्षपक. तथा फल च सकलकर्मप्रक्षयो मोक्ष· सवरनिर्जरे च, चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थ·। कथमिति चेत्। आराधन उद्योतनोपायरूप स एवात्मा जीव आराध्य च तदेव परमात्मस्वरूप आराधकश्च स एव जीव फल च यस्मिन् काले तस्यैव परमात्मस्वरूपस्योपलब्धि· स्यात्तदेव फलमिति भावार्थ·। तथा च-

**आराध्यश्चित्स्वरूपो यदयमयमुपायायितस्तस्य सम्य-**
**ग्बोधे चाराधन च स्फुटं तदनुचरीभूत आराधकोऽयम्।**
**कर्मप्रध्वंसभावाच्छिवपदमयितोयं च काम्यं फलं तत्**
**ह्याराध्याराधनाराधकफलमखिलं प्रोक्त आत्मैक एव ॥११॥**

---

**आत्मा स्वयं आराधक है, स्वयं ही आराधना है, स्वय ही आराध्य है और स्वय आराधना का फल है अत: निश्चय नय से हे क्षपक ! ये सारे भेद एक आत्मा के ही समझो। अर्थात् निश्चय नय से इन चारों को आत्मा ही जानो ॥११॥**

क्योंकि आराधना करने वाले सम्यग्दृष्टि पुरुष क्षपक को आराधक कहते हैं। जिसकी आराधना की जाती है ऐसे सम्यग्दर्शनादि को आराध्य कहते हैं। आराधना का फल कर्मों का नाश या स्वात्मोपलब्धि है और उस फल का उपाय सम्यग्दर्शन आदि आराधना है।

निश्चय नय की अपेक्षा सम्यग्दर्शनादिचार आराधना का आराधक विशुद्धात्मा ही है। सम्यग्दर्शन आदि चार आराधना का आधार आत्मा होने से आत्मा ही आराध्य है। आत्मा के द्योतन प्रकाशन का उपाय (सम्यग्दर्शनादिरूप) आत्मा ही है अत आत्मा ही आराधना है और सवर-निर्जरा सर्व कर्मों का नाश हो स्वात्मोपलब्धि की प्राप्ति आत्मा मे ही होती है वा आत्मस्वरूप ही है अत आराधना का फल भी आत्मा ही है। अर्थात् जिस काल मे परमात्म-स्वरूप की उपलब्धि होगी - वह आत्मा की ही परिणति होगी। अत आराधना के फलस्वरूप आत्मा ही है। सो ही कहा है- चैतन्य आत्मा का स्वरूप आराध्य है। चैतन्य स्वरूप की प्राप्ति का उपाय रूप सम्यग्दर्शनादि स्वरूप आत्मा मे लीनता आराधना है। सम्यग्दर्शन आदि की आराधना करने वाला अनुचरीभूत आत्मा ही आराधक है और कर्मों के नाश से उत्पन्न शिवपद की प्राप्ति रूप इच्छित फल आत्मा ही है क्योकि शिवपद की प्राप्ति आत्मा को ही होती है। इसलिए आराध्य आराधक, आराधना, आराधना का फल एक आत्मा ही है ॥११॥

ननु निश्चयाराधनाया सत्या किमनया व्यवहाराराधनया साध्यमिति वदत प्रत्याह-

**पज्जयणयेण भणिया चउव्विहाराहणा हु जा सुत्ते।**
**सा पुणु कारणभूदा णिच्छयणयदो चउक्कस्स ॥१२॥**

पर्यायनयेन भणिता चतुर्विधाराधना हि या सूत्रे।
सा पुन कारणभूता निश्चयनयतश्चतुष्कस्य ॥१२॥

हे क्षपक **भणिया** भणिता। कासौ। **जा आराहणा** या आराधना। क्व। **सुत्ते** सूत्रे परमागमे। केन कारणभूतेन। **पज्जयणयेण** पर्यायनयेन पर्यायो भेद स चासौ नयश्च तेन पर्यायनयेन। कथभूता। **चउव्विहा** चतुर्विधा चतस्रो विधा प्रकारा यस्या· सा चतुर्विधा दर्शनज्ञानचारित्रतपोरूपा। कथ। हु खलु **सा पुणु** सा पुन । अत्र पुन:शब्द एवार्थे अव्ययानामनेकार्थत्वात्। तत सैव आराधना **कारणभूदा** कारणभूता हेतुरूपा। कस्य। **चउक्कस्स** चतुष्कस्य आराधनाचतुष्कस्य। कस्मात्। **णिच्छयणयदो** निश्चयनयत शुद्धनयात् अर्थान् समीलिते तु निश्चयनयाराधनाचतुष्कस्य। ननु चतुष्कस्य इत्युक्ते आराधनापद कुतो लभ्यते। प्रसगत्वात्। अत्र तावदाराधनाया प्रसग पूर्वोक्तत्वात्। तथाहि। कश्चिद्द्रव्य प्राथमिकावस्थाया

---

निश्चय नय की आराधना हो जाने पर व्यवहार नय की आराधना से क्या प्रयोजन है ? ऐसा कहने वालोंके प्रति आचार्य कहते हैं-

**जिनेन्द्रदेव कथित सूत्र मे पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा जो व्यवहार आराधना कही है,वह द्रव्यार्थिक नय से कही गई निश्चय आराधना चतुष्क की कारण है ॥१२॥**

पर्यायार्थिक नय भेद रूप है, वा व्यवहार नय कारण है वा भेदरूप है और द्रव्यार्थिक नय निश्चयनय अभेद रूप है वा कार्य है, ऐसा परमागम मे कहा है।

इस गाथा मे जो 'पुणु' शब्द है वह अव्यय है।

**शंका** - गाथा मे निश्चय नय से चार आराधना न कहकर केवल 'चउक्कस्स' शब्द दिया है। इससे चार आराधना कैसे ग्रहण की जाती है?

**उत्तर** - व्यवहार मे भेदरूप कथन है इसलिए चार प्रकार की आराधना कही है, परन्तु निश्चय नय से चारो का समुदाय एक ही आराधना है। उसमे ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप का भेद नहीं है अत· एक समुदाय के लिए चतुष्क कह दिया गया है। अथवा शब्दो का अर्थ प्रसगवश होता है। यहाँ पर आराधना का प्रकरण है अत चार आराधना का ग्रहण 'चउक्कस्स' शब्द से होता है।

जब कोई भव्यजीव प्राथमिक अवस्था मे निश्चय आराधना मे स्थिति (स्थिरता) प्राप्त नहीं कर पाता है तब आत्मकल्याण की साधनभूत चार प्रकार की व्यवहार आराधना का अवलम्बन लेता है। पश्चात् व्यवहार आराधना के आश्रय से मन की स्थिरता को प्राप्त कर अभेद रूप निश्चय आराधना का अवलम्बन लेकर अपने आप मे रमण करता है। हे आत्मन् ! तू भी व्यवहार आराधना के बल पर निश्चय आराधना

निश्चयाराधनाया स्थितिमलभमानस्तावद्व्यवहाराराधनामाराधयति पश्चान्मनसो दार्ढ्यं प्राप्य क्रमेण निश्चयाराधनामाराधयतीत्यभिप्राय ॥१२॥

ननु भगवन् क्षपक कथ भव मुचतीति पृष्टे सत्याचार्य आह-

**कारणकज्जविभागं मुणिऊणं कालपहुदिलद्धीए।**
**लहिऊण तहा खवओ आराहओ जह भवं मुवइ॥१३॥**

कारणकार्यविभाग मत्त्वा कालप्रभृतिलब्धी.।
लब्ध्वा तथा क्षपक आराधयतु यथा भव मुचति॥१३॥

आराधयतु ध्यायतु। कोसौ। **खवओ** क्षपक । क। अर्थात् परमात्मानमेव। कथ। **तहा** तथा तेन प्रकारेण **जह** यथा येन प्रकारेण **मुवइ** मुचति त्यजति। क। **भवं** ससार। किं कृत्वाराधयतीत्याह। **मुणिऊण** मत्त्वा ज्ञात्वा। क। **कारणकज्जविभागं** कारणकार्यविभाग विभजन विभाग कारण च कार्यं च कारणकार्ये तयोर्विभाग· कारणकार्यविभागस्त कारणकार्यविभाग। कारणकार्ये हि पूर्वोत्तरगुणवैशिष्ट्यापेक्षयोत्पद्येते यथा कारण व्यवहाराराधना कार्यरूपनिश्चयाराधनाया उत्पादकत्वात्। कार्य निश्चयाराधना कारणरूपव्यवहाराराधनाया उत्पाद्यत्वात्। तथा कारण निश्चयाराधना कार्यरूपमोक्षस्योत्पादकत्वात्। कार्य मोक्ष· कारणरूपनिश्चयाराधनाया उत्पाद्यत्वात्। तथा कारण मोक्ष

---

को प्राप्त करने का प्रयत्न कर क्योकि निश्चय आराधना की उपासना के विना आत्मविशुद्धि वा स्वस्वभाव की प्राप्ति नहीं होती॥१२॥

"भगवन् ! क्षपक ससार का नाश कैसे कर सकता है?" ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं-

**हे क्षपक ! काल आदि लब्धियो को प्राप्त कर और कार्य-कारण विभाग को जानकर चार आराधना की आराधना करो जिससे ससार के वास से छूट जाओ॥१३॥**

कालादि लब्धि का सक्षेप से कथन पूर्व मे किया है। उस कालादि लब्धि को प्राप्त कर ही यह जीव आराधना का आराधक होता है।

व्यवहार और निश्चय आराधना मे कार्य-कारण भाव है अर्थात् व्यवहार आराधना कारण है ओर निश्चय आराधना कार्य है। क्योकि व्यवहार आराधना निश्चय आराधना रूप कार्य की उत्पादक है और व्यवहार रूप कारण आराधना के द्वारा निश्चय आराधना उत्पाद्यमान है क्योकि पूर्व उत्तर गुण वैशिष्ट्य की अपेक्षा कारण कार्य उत्पन्न होता हे अत पूर्ववर्त्ती कारण होता है और उत्तरवर्ती कार्य होता है।

मोक्ष रूप कार्य की उत्पादक होने से व्यवहार आराधना कारण है और मोक्षरूप कार्य की उत्पत्ति रूप निश्चय आराधना उत्पाद्य (कार्य) हे।

अथवा- कार्य रूप मोक्ष की उत्पादक होने से निश्चय आराधना कारण है और कारणरूप निश्चय आराधना से उत्पन्न होने से मोक्ष कार्य हे।

कार्यरूपानतचतुष्टयस्वरूपशुद्धपरमात्मोत्थातीदियानतसुखस्योत्पादकत्वात्। न केवल कारण-कार्यविभाग ज्ञात्वा। कि च लहिऊण लब्ध्वा प्राप्य। का। कालपहुदिलद्धीए कालप्रभृतिलब्धी कालादिलब्धी । ननु कारणकार्यविभागे ज्ञाते किमेताभि कालप्रभृतिलब्धिभिः। मेव वादी । कारणकार्यविभागजा कालप्रभृति लब्धि कारणद्वयसाध्यस्य मोक्षकार्यस्यान्यथानुपपत्ते । यदुक्त –

कारणद्वयसाध्यं न कार्यमेकेन जायते।
द्वन्द्वोत्पाद्यमपत्य किमेकेनोत्पद्यते क्वचित्॥

यदा क्षपक क्षपितकर्मा भव्य कारणकार्यविभाग ज्ञात्वा कालप्रभृतिलब्धीश्च लब्ध्वा शुद्धपरमात्मानमाराधयति तदा सकलकर्मप्रक्षय कृत्वा मोक्ष गच्छतीत्यभिप्राय ॥१३॥

ननु यद्यात्मानमाराधयितु न लभते जीवस्तदा किं करोतीत्याशक्याह-

**जीवो भमइ भमिस्सइ भमिओ पुव्वं तु णरयणरतिरियं।**
**अलहंतो णाणमई अप्पाआराहणा णाउं॥१४॥**

---

अथवा-कार्य रूप अनन्त चतुष्टय स्वभाव शुद्ध परमात्मा से उत्पन्न अतीन्द्रिय सुख का उत्पादक होने से मोक्ष कारण हे ओर अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति वा स्वात्मोपलब्धि रूप सिद्धि कार्य है, क्योंकि वह उत्पाद्य हे। इस प्रकार कार्य-कारण, उत्पाद्य-उत्पादक, जन्य-जनक के विभाग को जानकर चार आराधना की आराधना करनी चाहिए। मोक्ष की सिद्धि मे कार्य-कारण भाव के विभाग को जानना और काललब्धि की प्राप्ति की क्या आवश्यकता हे? ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योकि कार्य-कारण और काललब्धि इन दो कारणो के द्वारा साध्य मोक्ष रूप कार्य कभी एक कारण से नहीं हो सकता। सो ही कहा है-

"दो कारणो से साध्य कार्य एक कारण से उत्पन्न नहीं हो सकता। दो कारणो से (माता-पिता सयोग से) उत्पद्यमान पुत्ररूप कार्य एक कारण से नहीं हो सकता।" इसलिए कर्मो के नाश का इच्छुक भव्य क्षपक जब कारण-कार्य विभाग को जानकर और कालादि लब्धि के सयोग को प्राप्त कर, निश्चय और व्यवहार इन दोनो आराधनाओ के बल से निज शुद्ध परमात्मा की आराधना करता है, तब सकल कर्मों का नाशकर मोक्षपद को प्राप्त करता है। इसलिये हे क्षपक ! तू निश्चय और व्यवहार रूप दोनो आराधनाओ की अतरग भावना से आराधना कर॥१३॥

**शंका** - यदि यह ससारी आत्मा निज शुद्ध आत्मा की आराधना नहीं करता है, तो क्या होता है? इस शका का **समाधान** करते हुए आचार्य कहते हें-

यह जीव ज्ञानमय निज शुद्ध आत्मा की आराधना करने मे वा शुद्धात्मा को जानने मे समर्थ नही है, वा शुद्धात्मा को नही जानता है अत· इसने भूत काल मे नरक-मानव-तिर्यंच और देव इन चारो गतियो मे भ्रमण किया है, वर्तमान मे भ्रमण कर रहा है और भविष्य मे भी भ्रमण करता रहेगा। अर्थात् ससारवास को छोड नही सकता॥१४॥

जीव भ्रमति भ्रमिष्यति भ्रात पूर्व तु नरकनरतिर्यक्।
अलभमानो ज्ञानमयीमात्माराधना ज्ञातुम्॥१४॥

**भमइ** भ्रमति। कोसौं। **जीवो** जीव वर्तमानकालापेक्षया चतुर्गतिससार पर्यटति तथा भविष्यत्कालापेक्षया **भमिस्सइ** भ्रमिष्यति पर्यटिष्यति। ननु कथ भ्रमति भ्रमिष्यतीति सभाव्यते। तदेवाह। **पुव्वं तु** पूर्व तु **भमिओ** भ्रात । यदि पूर्व भ्रातो नाभविष्यत् तदा वर्तमान भाव्य च भ्रमण नाकरिष्यत् पूर्व भ्रातश्चाय तस्मात् वर्तमाने भाविनि काले च भ्रमण सिद्धमेवास्य। अलमिति विस्तरेण। यदुक्त-

**कालास्त्रयोप्यतीताद्या तानपेक्ष्य मिथोप्यमी।**
**प्रवर्तेरन् यतो नैकः केवलं क्वापि दृश्यते॥**

क्व। **णरयणरतिरियं** नरकनरतिर्यग्गतौ अर्थत्वादनुक्तोऽपि गतिशब्दो लभ्यते सुखाववबोधार्थ। यद्वा शब्दस्य लाक्षणिकत्वादपि, यथा गगाया घोष इत्युक्ते तटो लभ्यते। तथा नरक इत्युक्ते नरकगति नर इत्युक्ते नरगति एव सर्वत्र उपलक्षणाद्देवगतौ च। किकुर्वाण । **अलहंतो** अलभमान अप्राप्नुवन्। का। आत्माराधना शुद्धात्मध्यान। कि कर्तु। **णाउं** ज्ञातु **मंतुं** अनुभवितुमित्यर्थ । कथभूतामात्माराधना। णाणमई ज्ञानमयीं

---

यह जीव वर्तमान काल की अपेक्षा चारो गतियो मे भ्रमण कर रहा है और भविष्य मे भी भ्रमण करेगा।

**शंका -** भ्रमण कर रहा है और भविष्य मे भी भ्रमण करेगा, इसकी सभावना कैसे हो सकती है?

**उत्तर -** पूर्व मे भ्रमण किया था क्योकि जिसने पूर्व मे भ्रमण नही किया, वह वर्तमान मे भ्रमण नहीं कर सकता ? पूर्व मे भ्रमण किया है, इसलिये वर्तमान और भविष्य काल का भ्रमण इस जीवके सिद्ध होता है। क्योकि जीव का सत्त्व अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेगा। न तो असत् का उत्पाद होता है और न सत् का विनाश होता है, अधिक कहने से क्या प्रयोजन है। सो ही कहा है-

''अतीत (भूत) आदि तीन काल हैं। उन तीनो कालो की परस्पर अपेक्षा रख कर ही प्रवृत्ति होती है। अर्थात् तीनो काल परस्पर सापेक्ष है। भविष्यत्काल ही वर्तमान बनता है और वर्तमान ही भूत बनता है। क्योकि एक काल कहीं भी दृष्टिगोचर नही होता।

नरक, नर, तिर्यञ्च शब्द मे गति शब्द का उच्चारण न होने पर भी उपलक्षण[१] से सरलता से समझने हेतु गति का ग्रहण हो जाता है।

अथवा, शब्द के लाक्षणिकत्व है, उसका अर्थ प्रकरणवश होता है। जैसे 'नदी मे घोष (ग्राम) है', ऐसा कहने पर 'नदी के तट पर ग्राम' ऐसा अर्थ होता है। उसी प्रकार 'नरक' ऐसा कहने पर 'नरक गति' का ज्ञान होता है। उसी प्रकार नर से नर गति, तिर्यच से तिर्यञ्च गति का ग्रहण होता है। तथा देवगति का गाथा मे उल्लेख नहीं होने पर भी उपलक्षण[१] से देवगति का ग्रहण होता है।

---

१ सदृशग्राही को उपलक्षण कहते है।

चिन्मयीं। अनादिकाले हि अय जीव अनतज्ञानमयनिश्चयाराधनालक्षण परमात्मस्वरूपमलभमान सन् ससाराटव्या भ्रात भ्रमति भ्रमिष्यति च इति मत्वा क्षपकेण निजशुद्धात्मस्वरूपमाराधनीयमिति भावार्थ ॥१४॥

ननु भगवन् पूर्वं कि विधाय सा निश्चयाराधनाराधनीयेति पृष्टे आचार्य अनुशास्ति-

**संसारकारणाइं अत्थि हु आलंबणाइ बहुयाइं।**
**चइऊण ताइं खवओ आराहओ अप्पयं सुद्धं॥१५॥**

ससारकारणानि सति हि आलबनानि बहुकानि।
त्यक्त्वा तानि क्षपक आराधयतु आत्मान शुद्धम्॥१५॥

**अत्थि** अस्तीत्यव्ययक्रियापद सत्यर्थे बह्वर्थ प्रतिपादयति। उक्त च। सदृश त्रिषु लिंगेषु। सर्वासु च विभक्तिषु। वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययमिति॥ अस्ति सति। कानि। **आलंबणाइ** आलबनानि स्रक्चदनवनितागीतनृत्यवादित्रादीनि। **बहुयाइं** बहुकानि प्रचुराणि। कथभूतानि। **संसारकारणाइं** ससारकारणानि नरकतिर्यग्मनुष्यदेव-चतुर्गतिनिबद्धस्य ससारस्य कारणानि हेतुभूतानि। कथ। हु निश्चित **ताइ** तानि

---

जो मानव चिन्मयी - शुद्ध आत्मध्यान, शुद्ध आराधना को जानने के लिए, उसका अनुभव करने के लिए समर्थ नहीं है, शुद्ध आत्मा का जब तक अनुभव नहीं करता है, स्वात्मोन्मुखी प्रवृत्ति नहीं करता है,तब तक वह ससार अटवी मे भ्रमण करता रहता है।

हे क्षपक ! यह ससारी आत्मा अनत ज्ञानमय, निश्चय आराधना लक्षण, परमात्म-स्वरूप निज शुद्धात्मा की आराधना नहीं करता है, इसलिए अनादि काल से इसने भव-वन मे भूतकाल मे भ्रमण किया है, वर्तमान काल मे भ्रमण कर रहा है और भविष्यत् काल मे भ्रमण करेगा। ऐसा जानकर क्षपक को निज शुद्ध आत्मस्वरूप की आराधना करनी चाहिए ॥१४॥

भगवन् ! पूर्व मे क्या करके उस निश्चय आराधना की आराधना करनी चाहिए, ऐसा पूछने पर आचार्यदेव कथन करते हैं-

**हे क्षपक ! संसारभ्रमण के मिथ्यादर्शनादि अनेक कारणो के बहुत प्रकार के अवलम्बन हैं- उनको छोडकर निज शुद्धात्मा की आराधना करो॥१५॥**

अत्थि (अस्ति) यह अव्यय क्रियापद है जो बहु अर्थ को प्रतिपादित करता है। सो ही कहा है-

''जो सर्व वचन मे, सर्व विभक्तियो मे और पुरुष आदि तीनो लिंगों मे सदृश रहता है अपने स्वरूप को नहीं छोडता है उसको अव्यय कहते हैं।''

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र आदि ससार-भ्रमण के अनेक कारण हैं। अथवा-नरक तिर्यंच गति आदि ससार के कारण है। ससार के इन कारणो के माला, चन्दन, स्त्री, गीत, नृत्य, वादित्र आदि बहुत से अवलम्बन हैं।

आलबनानि **चइऊण** त्यक्त्वा **आराहउ** आराधयतु। कोसौ। **खवओ** क्षपक·। क। **अप्पयं** आत्मान किंविशिष्ट। **सुद्धं** रागादिमलमुक्त। अनादिकाले हि स्रक्चदनवनितागीतनृत्याद्यनेकविधपचेद्रियविषयसुखाभिलाषुकेण निजशुद्धात्मोत्पन्नातींद्रियसुखात्पराङ्मुखेन जीवेन ससाराटव्या पर्यटित सप्राप्त ससारशरीरभोगवैराग्यभावनाबलेन तानि विषयसुखानि निरस्य निश्चयाराधनारूप निजपरमात्मतत्त्वमाराधनीयमिति भावार्थ ॥१५॥

ननु निश्चयाराधनैव मोक्षसाधिका किमनया भिन्नया चतुर्विधया व्यवहाराराधनया साध्यमिति वदत प्रत्याह;-

**भेयगया जा उत्ता चउव्विहाराहणा मुणिंदेहिं।**
**पारंपरेण सावि हु मोक्खस्स य कारणं हवइ ॥१६॥**

भेदगता या उक्ता चतुर्विधाराधना मुनीन्द्रै ।
पारपर्येण सापि हि मोक्षस्य च कारण भवति ॥१६॥

**हवइ** भवति। किं। **कारणं** कार्यस्य साधन कारणमित्युच्यते। कस्य। **मोक्खस्स** मोक्षस्य कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षस्वरूपस्य च। पुन का। **सावि** सापि। सापीति का। **चउव्विहाराहणा** चतुर्विधाराधना चतस्रो विधा प्रकारा यस्या सा चतुर्विधा चतुर्विधासावाराधना च चतुर्विधाराधना

---

हे क्षपक ! मिथ्यादर्शन के वशीभूत माला, चन्दन, स्त्री, गीत-नृत्यादि अनेक पचेन्द्रिय विषयसुखो के इच्छुक और निज शुद्धात्मा से उत्पन्न अतीन्द्रिय सुख से पराङ्मुख हुए इस ससारी जीव ने अनादि काल से जन्म-मरणादि हिंसक पशुओ से व्याप्त ससार अटवी मे भ्रमण किया है। हे भव्यात्मा क्षपक ! इस समय ससार, शरीर और भोगो की विरक्त भावना के बल से विषयसुख का परित्याग कर निश्चय आराधना स्वरूप निज परमात्मतत्त्व की आराधना करनी चाहिए॥१५॥

"निश्चय आराधना ही मोक्षसाधिका है तो अन्य भिन्न चार प्रकार की व्यवहार आराधना से क्या प्रयोजन है?" ऐसा कहने वाले शिष्य को आचार्य उत्तर देते हैं-

**जिनेन्द्र भगवान ने भेदगत चार प्रकार की जो आराधना कही है, वह भी परम्परा से मोक्ष का कारण होती है॥१६॥**

सम्पूर्ण कर्मो का नाश है लक्षण जिसका ऐसे मोक्षरूप कार्य की कारण सम्यग्दर्शनादि चार प्रकार की व्यवहार आराधना है। जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कथित सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तपरूप चार आराधना उद्योतन स्वरूप है, भेदगत है तथा परम्परा से मोक्ष का कारण है। जिस प्रकार निश्चय आराधना साक्षात् मोक्षफल रूप कार्य की साधिका है, वैसे व्यवहार आराधना साक्षात् मोक्षफल की

सम्यग्दर्शनादिचतुष्टयोद्योतनोपायस्वरूपा चतुर्विधाराधनैव। का। या। किं कृत्वा। **उत्ता** उक्ता प्रतिपादिता। कै । **मुणिदेहिं** मुनींद्रै मुनीनामिद्रा मुनींद्रा सर्वज्ञास्तै मुनींद्रै । किंविशिष्टा। **भेयगया** भेदगता सम्यग्दर्शनादीन् चतुरो भेदान् गता प्राप्ता हु खलु स्फुट। केन करणेन भूतेन मोक्षस्य कारण भवति। **पारंपरेण** पारपर्येण अनुक्रमेण। कुत । यथा निश्चयाराधना साक्षान्मोक्षफलरूपकार्यसाधिका भवति तथैव या न भवति किंतु बीजत्वात्। बीजो हि क्रमेण वृक्षफलत्वापन्नो दृष्ट । कश्चिद्द्रव्यजीव काललब्धि समवाप्य कर्मण क्षयोपशमत्वात् गुरुचरणकमलसमीप सप्राप्योपदेश लब्ध्वा आराधयितु प्रवृत्त प्रथम भेदाराधनया अभ्यास विधाय पश्चादभेदेन परमात्मान सम्यग्दर्शनादिचतुष्टयमय समाराध्य घातिकर्मचतुष्टयक्षय कृत्वा केवलज्ञान समुत्पाद्य मोक्ष गच्छतीत्यभिप्राय ॥१६॥

नन्वाराधक पुमान् किंलक्षण कियत्काल कृत्वा समाराधयतीति वदत प्रत्याह-

**णिहयकसाओ भव्वो दंसणवंतो हु णाणसंपण्णो।**
**दुविहपरिग्गहचत्तो मरणे आराहओ हवइ॥१७॥**

निहतकषायो भव्यो दर्शनवान् हि ज्ञानसपन्न ।
द्विविधपरिग्रहत्यक्तो मरणे आराधको भवति॥१७॥

**हवइ** भवति। कोसौ। **आराहओ** आराधक ध्याता पुरुष । कथभूत । **णिहयकसाओ** निहतकषाय निहता कषाया येनासौ कदाचिदपि कषायैराविष्टो न भवतीत्यर्थ । पुन कथभूत । **भव्वो** भव्य मुक्तियोग्य । पुन कथभूत । **दंसणवतो** दर्शनवान् सम्यग्दर्शनविराजमान । पुन किंविशिष्ट ।

---

साधिका नहीं है अपितु परम्परा से मोक्ष की साधिका है क्योकि व्यवहार बीज है, जैसे बीज क्रम (परम्परा) से वृक्ष फल को प्राप्त हुआ देखा जाता है, साक्षात् नहीं।

कोई निकट भव्य जीव कर्मों के क्षयोपशम से काललब्धि को प्राप्त कर, गुरुदेव के चरण-कमलो के समीप जाकर उनसे देशना लब्धि प्राप्त करता है, पश्चात् आराधना करने मे प्रवृत्ति करता है। सर्व प्रथम भेद आराधना का अभ्यास करता है। तत्पश्चात् अभेद रूप (सम्यग्दर्शनादि भेदगत विकल्पो को छोडकर) से सम्यग्दर्शनादि चतुष्टयमय परमात्मा की आराधना कर घातिचतुष्टय कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान को प्राप्तकर मोक्ष को प्राप्त करता है॥१६॥

"आराधक पुरुष का लक्षण क्या है? और वह किस काल मे आराधक होता है?" ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं-

**मन्द कषायी, सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञान सम्पन्न और दो प्रकार के परिग्रह से रहित भव्य जीव मरण समय मे आराधक होता है॥१७॥**

आराधक पुरुष का पहला लक्षण है कि कितने ही उपसर्ग आदि कष्ट आने पर भी वह कषाय के उद्रेक से अनुरजित न होवे।

**णाणसंपण्णो** ज्ञानसपन्न शुद्धपरमात्मपदार्थविलक्षणानि परद्रव्याणि हेयरूपाणि जानाति समस्तदेहादिपरद्रव्येभ्यो विविक्त परमात्मन स्वरूपमुपादेय मनुते इति स्वसवेदनज्ञानसपन्न । पुन कथभूत । **दुविहपरिग्गचत्तो** द्विविधपरिग्रहत्यक्त· द्विविधेन बाह्याभ्यतरलक्षणपरिग्रहेण त्यक्तो रहित । क्व। मरणे मरणपर्यन्त अत्र अभिव्याप्यार्थे सप्तमी निर्दिष्टा तिलेषु तैलवत्। कथ। हु खलु निश्चयेन एवगुणविशिष्ट पुरुषो मरण-कालपर्यन्तमाराधको भवतीति तात्पर्यार्थ ॥१७॥

नन्वाराधकपुरुषस्येमान्येव लक्षणानि किमन्यान्यपि भविष्यति वा इति पृष्टे अपराण्यपि सतीत्याह-

**संसारसुहविरत्तो वेरग्गं परमउवसमं पत्तो।**
**विविहतवतवियदेहो मरणे आराहओ एसो॥१८॥**

ससारसुखविरक्तो वैराग्य परमोपशम प्राप्त ।
विविधतपस्तप्तदेहो मरणे आराधक एष ॥१८॥

अत्र क्रियाया अध्याहार । भवति। कोसौ **आराहओ** आराधक । क । **एसो** एष । कि लक्षण । **संसारसुहविरत्तो** ससारसुखविरक्त ससारे यानि निर्मलचिदानदानुभवनोत्थानुपमानिद्रियसुखविलक्षणानि केवलमाकुलत्वोत्पादकत्वाद्दु खरूपाणि इद्रियविषयोत्पादितसुखानि तेषु विरक्त अभिलाषरहित । पुन

---

दूसरा लक्षण है कि वह सम्यग्दर्शन से युक्त हो क्योकि सम्यग्दर्शन के बिना स्वरूप का भान नहीं होता है और ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं होता है।

तीसरा लक्षण है कि वह ज्ञानसम्पन्न शुद्ध परमात्म-पदार्थ से विलक्षण समस्त पर द्रव्य को हेय समझता हो। समस्त देहादि पर द्रव्य से भिन्न परमात्म स्वरूप शुद्धात्मा को उपादेय मानता हो और स्वसवेदन ज्ञान से सम्पन्न हो।

चतुर्थ लक्षण है-दस प्रकार के बाह्य और १४ प्रकार के अभ्यन्तर रूप इन दोनो परिग्रहो का त्यागी हो। ऐसा भव्य जीव मरण के समय आराधक (क्षपक) होता है। अर्थात् निश्चय से उपर्युक्त गुण विशिष्ट पुरुष ही मरणकाल पर्यन्त आराधक होता है, ऐसा समझना चाहिए॥१७॥

आराधक पुरुष के इतने ही लक्षण है कि और भी कोई है? ऐसा पूछने पर आचार्य अन्य लक्षणो का कथन करते हैं-

**जो ससार-सुख से विरक्त है, परम वैराग्य और उपशम भाव को प्राप्त है और जिसने विविध तपों से अपने शरीर को तपाया है, ऐसा भव्य प्राणी ही मरण काल मे आराधक होता है॥१८॥**

इस गाथा में ''होता है'' यह क्रिया ऊपर से लेनी चाहिए।

निर्मल चिदानन्द शुद्धात्मा के अनुभव से उत्पन्न अनुपम अतीन्द्रिय सुख से विलक्षण आकुलता उत्पादक होने से वास्तव में दु ख रूप, इन्द्रियविषयो से उत्पन्न ससार-सुख से विरक्त पुरुष आराधक होता है। अर्थात् इन्द्रियसुख का अभिलाषी आराधना का आराधक नहीं होता।

किंविशिष्ट·। **पत्तो** प्राप्त । कि। **वेरग्गं** वैराग्य शरीरादौ परस्मिन्निष्टवस्तुनि प्रीतिरूपो राग विनष्टो रागो। यस्यासौ विराग विरागस्य भावो वैराग्य ससारशरीरभोगेषु निर्वेदलक्षण। न केवल वैराग्य प्राप्त **परमउवसमं** परमोपशम च। अत्र रागादिपरिहारलक्षणमुपशम आगमभाषया तु अनतानुबधिचतुष्टयमिथ्या-त्वत्रयस्वरूपाणा मोहनीयकर्मण सप्तप्रकृतीनामुपशमनादुपशम परमश्चासौ उपशमश्च परमोपशम त परमोपशम समुद्रे वाता नाववत् स्वभावे रागिणो रागादिजनितविकल्पोत्पत्तेरभावलक्षण। पुन कथभूत । **विविहतवतवियदेहो** विविधतपस्तप्तदेह विविधैर्वीतरागसर्वज्ञागमप्रतिपादितैर्बाह्याभ्यतरलक्षणैर्मूलगुणोत्तरविशेषैर्नाना-विधैस्तपोभिस्तप्तो देह शरीर यस्यासौ विविध-तपस्तप्तदेह । क्व। मरणे मरणपर्यन्त। एव गुणविशिष्टलक्षण आराधको मरणपर्यन्त भवतीति तात्पर्यार्थ ॥१८॥

उक्तानि कानिचिदाराधकलक्षणानि इदानीमन्यान्यपि वर्णयितुकाम आचार्य आह-

**अप्पसहावे णिरओ वज्जियपरदव्वसंगसुक्खरसो।**
**णिम्महियरायदोसो हवई`आराहओ मरणे॥१९॥**

आत्मस्वभावे निरतो वर्जितपरद्रव्यसगसौख्यरस ।
निर्मथितरागद्वेषो भवत्याराधको मरणे॥१९॥

---

शरीर आदि पर-द्रव्य रूप इष्ट वस्तु से प्रीति (राग) का अभाव विराग है और विराग का भाव वैराग्य है। अर्थात् ससार, शरीर और पचेन्द्रियजन्य विषयो से विरक्त होना वैराग्य है। यह वैराग्य भाव आराधना का साधन है।

रागादि का अभाव उपशम कहलाता है वा आगम भाषा मे अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ रूप चारित्रमोहनीय की चार, मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति दर्शनमोहनीय की तीन ऐसी मोहनीय कर्म की इन सात प्रकृतियों के उपशमन को उपशम भाव कहते हैं। वा रागादि विभाव भावो का मन्द हो जाना उपशम भाव कहलाता है। जैसे वायु के द्वारा अकम्पित (चचल नहीं होने वाले) समुद्र से नौका पार हो जाती है। यदि समुद्र वायु से चचल है तो नौका डूब जाती है, वैसे ही जिस क्षपक का मन रागद्वेष आदि कल्लोलों से चचल नहीं है वही अपनी आराधना रूपी नौका को अपने इष्ट स्थान पर ले जा सकता है। इसलिए आराधक के मन का रागद्वेष की कल्लोलो से चचल नहीं होना ही परमोपशम भाव है। अर्थात् रागादिजनित विकल्पों के अभाव लक्षण रूप प्रशम भाव भी आराधक पुरुष का लक्षण है।

सर्वज्ञ वीतराग देव के द्वारा प्रतिपादित बाह्य अभ्यन्तर वा मूलगुण एव उत्तर गुण रूप तपश्चरण के द्वारा जिसने अपने शरीर को तपाया है,वही पुरुष मरणकाल में आराधना का आराधक होता है॥१८॥

इस प्रकार आराधक के लक्षणो का कथन करके आराधक के अन्य भी लक्षणो का कथन करने के इच्छुक आचार्य कहते हैं-

**जो निज स्वभाव में लीन है, जिसने परद्रव्य के सयोग से उत्पन्न सुख रस का त्याग कर दिया है और जिसने राग-द्वेष का मथन कर दिया है, अर्थात् राग द्वेष का नाश कर दिया है, ऐसा भव्य जीव मरण समय आराधना का आराधक होता है॥१९॥**

**हवई** भवति। कोसौ। **आराहओ** आराधक । किंविशिष्ट । **णिरओ** निरत.। तत्पर.। क्व। **अप्पसहावे** आत्मस्वभावे निर्मलतरपरमचिदानदलक्षणे स्वस्वरूपे। पुन कथभूत । **वज्जियपरदव्वसंगसुक्खरसो** वर्जितपरद्रव्यसगसौख्यरस· वर्जितो .• निराकृत· सकलसगरहितपरमात्मपदार्थविलक्षणाना परद्रव्याणा सगेन सयोगेन यानि पचेद्रियविषयोद्भवानि सुखानि तेषा रसोभिलाषो येन। पुन कथभूत । **णिम्महियरायदोसो** निर्मथितरागद्वेष आत्मसमानसमस्तजीवराशिविलोकनतया निर्मथितौ स्फेटितौ रागद्वेषौ इष्टानिष्टयो प्रीत्यप्रीतिलक्षणौ येन। क्व। **मरणे** मरणपर्यन्त। एवगुणविशिष्टो मरण मर्यादीकृत्य आराधयतीति तात्पर्यार्थ ॥१९॥

ननु रत्नत्रितयमयमात्मान मुक्त्वा परद्रव्यचिंता करोति य· कथभूतो भवतीति पृच्छत प्राहु-

**जो रयणत्तयमइओ मुत्तूणं अप्पणो विसुद्धप्पा।**
**चिंतेइ य परदव्वं विराहओ णिच्छयं भणिओ॥२०॥**

यो रत्नत्रयमय मुक्त्वात्मनो विशुद्धात्मानम्।
चितयति च परद्रव्य विराधको निश्चित भणित ॥२०॥

**भणिओ** भणित प्रतिपादित । केन। **णिच्छयं** निश्चयेन परमार्थलक्षणेन। कोसौ। **विराहओ** विराधक हेयोपादेयवस्तुपरिज्ञानविकल्पतया यथोक्तलक्षणाराधक· पुरुषविलक्षण स पुरुषो विराधको भवतीत्यर्थ । य· कि करोति। जो **चिंतेइ** यश्चिन्तयति। किं तत्। **परदव्वं** परद्रव्य निजात्मनो भिन्न यद्वस्तुस्वरूप इह निजात्मन एवोपादेयत्वात्। ननु निजात्मन एवोपादानेन पचपरमेष्ठिनामप्याराधको विराधक

---

जो भव्यात्मा, निर्मलतर परम चिदानन्द एकलक्षण निज स्वभाव मे लीन रहता है, जिसने स्वभाव से विलक्षण, पर-द्रव्य के सयोग से उत्पन्न, पचेन्द्रिय विषय सुख रस की अभिलाषा का त्याग कर दिया है, अपनी आत्मा के समान समस्त जीवराशि का अवलोकन करने से जिनके हृदय से, इष्ट एव अनिष्ट पदार्थों में होने वाली प्रीति (राग), अप्रीति (द्वेष) नष्ट हो गयी है, ऐसे प्राणी मरण की मर्यादा करके आत्मा की आराधना कर सकते हैं, अन्य में आराधना करने की क्षमता नहीं है॥१९॥

रत्नत्रयमय शुद्धात्मा की भावना को छोडकर अन्य द्रव्य की चिंता करने वाले का क्या होता है? ऐसा पूछने वाले को आचार्य कहते हैं-

**जो प्राणी रत्नत्रयमय, निज शुद्धात्मा के ध्यान को छोडकर परद्रव्य का चिन्तन करता है वह निश्चय से आराधना का विराधक (घातक) होता है॥२०॥**

जिसको हेय और उपादेय वस्तु का ज्ञान है वह आराधक कहलाता है। जिसको हेय उपादेय का ज्ञान नहीं है वह विराधक कहलाता है। अथवा निज आत्मा से भिन्न पर-द्रव्य का चिन्तन करने वाला विराधक होता है। क्योकि निज आत्मा को उपादेय मानने वाला ही आराधक है।

**शका** - यदि पर-द्रव्य का चिन्तन करने वाला विराधक है और शुद्धात्म द्रव्य का चिन्तन करने वाला आराधक है क्योंकि शुद्धात्मा ही उपादेय है तो फिर पच परमेष्ठी का ध्यान करने वाला आराधक कैसे हो सकता है? क्योंकि पच परमेष्ठी भी परद्रव्य हैं।

स्यात् निजात्मभिन्नात्म-द्रव्यत्वादिति चेत्सत्य। य कश्चिद्यथावद्वस्तुस्वरूप परिज्ञाय स्वशुद्धात्मानमाराधयितु प्रवृत्तोपि अदृष्टाश्रुताननुभूतत्वात्तत्राशु स्थितिमलभमान सन् तन्निमित्त विषयकषायवचनार्थ च तदाराधकाना भिन्नात्मस्वरूपाणा।

पचपरमेष्ठिना स्वरूपमाराधयन्न विराधक। कुत इति चेत्। आत्मस्वरूपसाधकत्वात्। ससारपरिभ्रमणहेतुभूतैहलौकिकपारलौकिकख्यातिपूजालाभ-भोगेद्रियविषयजन्यसुखाभिलाषाभावात्। यस्तु इतर। निजात्मस्वरूपस्यानुपादानेन निदाने नवग्रैवेयकसुखपर्यंतविपुलर्धिदायिविशिष्टपुण्यकारण पचपरमेष्ठिस्वरूपमाराधयन्नपि विराधक पुनरपि ससारकारणत्वात्। यत्तु ससारकारण तत्पुण्यमपि न भव्य।

**मं पुणु पुण्णइ भल्लाइ णाणिय ताइ भणंति।**
**जीवहं रज्जइ देवि लहु दुक्खइं जाइ जणंति।**

परमात्मप्रकाशे इत्युक्तत्वात्। उक्त च-

**तेनापि पुण्येन कृत कृत यज् जतोर्भवेत् ससृतिवृद्धिहेतु.।**
**तच्चार्वपीच्छेन्ननु हेम को वा क्षिप्तं श्रुती त्रोटयते यदाशु।**

किं कृत्वा विराधको भवति। मुत्तूण मुक्त्वा परित्यज्य। क। विसुद्धप्पा विशुद्धात्मान विशुद्धो रागादिरहित आत्मा त। कथभूत। रयणत्तयमइओ रत्नत्रयमय विषयभेदेन सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रितयेन निर्वृत। कुत। अप्पणो आत्मन निजात्मस्वरूपापादानभूतत्वात्। एव ज्ञात्वा समस्तपरद्रव्य विमुच्य भो भव्या निजदेहे निवसत परमात्मानमाराधयतु इति तात्पर्यार्थ ॥२०॥

---

**उत्तर** - यद्यपि तुम्हारा कहना सत्य है, फिर भी जो कोई भव्य यथावद् वस्तु के स्वरूप को जानकर स्व शुद्धात्मा की आराधना करने में प्रवृत्त होता है परन्तु अदृष्ट, अश्रुत और अननुभूत होने से उस शुद्धात्म ध्यान मे शीघ्र ही स्थिर नहीं हो पाता है इसलिए उस स्थिरता की प्राप्ति के लिए तथा विषय-कषायो से बचने के लिए, शुद्धात्म ध्यान में निमित्तभूत पच परमेष्ठियो के स्वरूप की आराधना करता है, भले ही वे पचपरमेष्ठी उसके आत्मस्वरूप से भिन्न हैं। उनकी आराधना करता हुआ भी वह जीव विराधक नहीं है क्योकि पच परमेष्ठी आत्मस्वरूप के ही साधक हैं अर्थात् उनकी आराधना करने से आराधक का लक्ष्य आत्मस्वरूप की ओर ही सन्मुख होता है।

इसके सिवाय पञ्चपरमेष्ठी की आराधना मे ससार परिभ्रमण के कारणभूत इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी ख्याति, पूजा, लाभ, भोग तथा इन्द्रिय विषय से उत्पन्न होने वाले सुख की अभिलाषा भी तो नहीं है। हॉ, इसके सिवाय जो निजात्म स्वरूप को ग्रहण न कर निदान रूप से नवग्रैवेयक सम्बन्धी सुख पर्यन्त की विपुल ऋद्धि को देने वाले विशिष्ट पुण्य का लक्ष्य बनाकर पञ्चपरमेष्ठियो के स्वरूप की आराधना भी कर रहा है वह विराधक है क्योकि उसका यह कार्य ससार का कारण है। जो ससार का कारण है वह पुण्य भी अच्छा नहीं है क्योकि **परमात्मप्रकाश** मे कहा है- **म पुणु** इति-ज्ञानी जीव उस पुण्य को भी भला नहीं कहते जो जीव को राज्यादिक दे कर फिर शीघ्र ही दु ख उत्पन्न कराता है और भी कहा है-**तेनापीति**-जो किये जाने पर जीव के ससार की वृद्धि का हेतु होता है ऐसा पुण्य भी निरर्थक है। जो पहिनने पर शीघ्र ही कानों को तोड देता है ऐसे सुवर्ण की, उत्तम होने पर भी कौन इच्छा करता है ? अर्थात् कोई नहीं। इस प्रकार आराधक और विराधक का लक्षण जानकर हे भव्य जीवो ! निज देह मे निवास करने वाले परमात्मा की आराधना करो यह तात्पर्य है॥२०॥

ननु भगवन् परमात्मान मुक्त्वा परद्रव्य चितयति य स मया विराधको ज्ञात यस्तु आत्मान परमपि न बुध्यते तस्याराधना घटते न वेति पृष्टे आचार्य प्राह -

**जो णवि बुज्झइ अप्पा णेय परं णिच्छयं समासिज्ज।**
**तस्स ण बोही भणिया सुसमाहीराहणा णेय॥२१॥**

य नैव बुध्यते आत्मान नैव पर निश्चय समासृत्य।
तस्य न बोधि भणिता सुसमाधिराराधना नैव॥२१॥

**णवि बुज्झइ** नैव बुध्यते न जानाति। कोसौ। **जो** य कश्चिदपि पुरुषविशेष । क। **अप्पा** आत्मान सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि अततीति आत्मा त। न केवल आत्मान बुध्यते। **णेय पर** पर नैव आत्मनो विलक्षण देहादिपरद्रव्य नैव। किं कृत्वा। **समासिज्ज** समासृत्य अवलब्य। क। **णिच्छयं** निश्चय परमार्थं **तस्स ण भणिया** तस्य न भणिता आत्मपरभेदपरिज्ञानशून्यस्य न प्रतिपादिता। कासौ। **बोही** बोधि । बोधे किं लक्षण। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामप्राप्तिप्रापण बोधि । न केवल बोधि । **सुसमाही** सुसमाधिश्च। सुसमाधे किं लक्षण। तस्यैव बोधेर्निर्विघ्नेन भवातरावाप्तिरिति समाधि॰। न केवल सुसमाधि । **आराहणा** आराधना नैव पूर्वोक्तलक्षणा। उक्त च-

**भेदविज्ञानत॰ सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।**
**तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥**

---

आगे कोई शिष्य पूछता है कि हे भगवन् ! परमात्मा को छोडकर जो परद्रव्य का चिन्तन करता है वह विराधक है ऐसा मैने जान लिया। परन्तु जो न आत्मा को जानता है और न पर को जानता है उसके आराधना हो सकती है या नहीं, ऐसा पूछे जाने पर आचार्य कहते है-

**जो पुरुष निश्चय नय का आलम्बन कर आत्मा को नही जानता है और पर को नही जानता है उसके न बोधि कही गई है, न सुसमाधि कही गई है और न आराधना ही कही गई है॥२१॥**

**टीका -** 'अतति इति आत्मा' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र को प्राप्त हो वह आत्मा है। आत्मा से भिन्न शरीरादिक पर द्रव्य है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की अपूर्व प्राप्ति होना बोधि है, बोधि का निर्विघ्नरूप से भावान्तर मे प्राप्त होना समाधि है तथा आराधना का लक्षण पहले कहा जा चुका है। जो जीव निश्चयनय के अनुसार न आत्मा को जानता है और न पर को जानता है उसे न बोधि की प्राप्ति होती है, न समाधि की प्राप्ति होती है, और न आराधना की ही प्राप्ति होती है। जैसा कि कहा है-

आत्मपरावबोधरहितस्य बोधि समाधिराराधना न भवतीत्येव बुद्ध्वा यथोक्तलक्षणनिजात्मद्रव्यपरद्रव्यस्वरूप परिज्ञाय तत्र परद्रव्य हेयमात्मद्रव्यमुपादेयमिति तात्पर्यार्थ· ॥२१॥

एवमाराधकविराधकयो· स्वरूप प्रकाश्येदानीं अरिह इत्यादिसप्तभि· स्थलै कर्मरिपु हतुकामस्य क्षपकस्य वक्ष्यमाणसामग्रीं मेलयित्वा कर्माणि हतु भवान् इति शिष्य प्रयच्छन्नादौ तेषा सप्तस्थलाना गाथाद्वये नामानि प्रकटयन्नाह-

**अरिहो संगच्चाओ कसायसल्लेहणा य कायव्वा।**
**परिसहचमूण विजओ उवसग्गाणं तहा सहणं॥२२॥**
**इंदियमल्लाण जओ मणगयपसरस्स तह य संजमणं।**
**काऊण हणउ खवओ चिरभवबद्धाइ कम्माइं॥२३॥**

**भेदविज्ञानत:-** आज तक जो कोई सिद्ध हुए हैं वे भेदविज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और जो आज तक बन्धन मे बद्ध हैं वे उसी भेदविज्ञान के अभाव से बद्ध हैं।

निश्चय नय से ज्ञान दर्शन स्वभाव युक्त जीव को ही आत्मा कहा गया है। तथा द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म रूप जो द्रव्य आत्मा के साथ लग रहा है वह पर द्रव्य है। इस तरह निज और पर को जानने से ही बोधि आदि की प्राप्ति होती है। गाथा की उत्थानिका मे शिष्य ने प्रश्न किया था कि जो आत्मा और पर को नहीं जानता उसके आराधना होती है या नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य ने कहा है कि ऐसे जीव के आराधना तो होती ही नहीं है किन्तु उसकी पूर्ववर्तिनी समाधि और समाधि की पूर्ववर्तिनी बोधि भी नहीं होती।

आत्मा और पर के ज्ञान से रहित जीव के बोधि, समाधि तथा आराधना नहीं होती है, ऐसा समझकर यथोक्त लक्षण वाले निजात्म द्रव्य और शरीर आदि पर-द्रव्य के स्वरूप को जानकर निजशुद्धात्मा को उपादेय और परद्रव्य को हेय समझना चाहिए ॥२१॥

इस प्रकार आराधक और विराधक के स्वरूप का कथन करके इस समय **'अरिहो'** इत्यादि सात गाथाओ के द्वारा कर्म-शत्रुओ का सहार करने के इच्छुक क्षपक को आगे कही जाने वाली सामग्री को प्राप्त कर 'आप कर्मों का नाश करो' इस प्रकार शिष्य को सम्बोधित करके आचार्यदेव सामग्री के नामो का उल्लेख करते हैं-

**''अर्ह (योग्य), परिग्रह का त्यागी, कषायो को कृश करने वाला, परिषह रूपी सेना को जीतने वाला, उपसर्गों को सहन करने वाला, इन्द्रिय रूपी मल्लो पर विजय प्राप्त करने वाला और मनरूपी हाथी के प्रसार को रोकने वाला, क्षपक चिरकाल के बँधे हुए कर्मों का क्षय करता है॥२२-२३॥**

अर्ह. सगत्याग कषायसल्लेखना च कर्तव्या।
परिषहचमूना विजयमुपसर्गाणा तथा सहनम्॥२२॥

इन्द्रियमल्लाना जय मनोगतप्रसरस्य तथा च संयमनम्।
कृत्वा हतु क्षपक. चिरभवबद्धानि कर्माणि॥२३॥ युग्मम्।

**हणउ** हतु निराकरोतु। कोसौ। खवओ क्षपक. कर्मक्षपणशील। किंविशिष्ट:। **अरिहो** अर्ह सन्यासयोग्य.। कानि। कम्माइ कर्माणि ज्ञानावरणादिलक्षणानि। किंविशिष्टानि। चिरभवबद्धानि पूर्वोपार्जितानि। किमारभ्य। काऊण कृत्वा **संगच्चाओ** सगत्याग। इहार्षेयत्वात्कर्मस्थाने प्रथमाया न दोष·। बाह्याभ्यतरपरिग्रहलक्षण· सगस्तस्य त्याग: परित्यजन त। न केवल सगत्याग। कृत्वा **कसायसल्लेहणा** य कषायसल्लेखना च कषाया क्रोधमानमायालोभक्षणास्तेषा सल्लेखना सन्यास सर्वथा परिहार· ता कषायसल्लेखना। किंविशिष्टा। **कायव्वा** कर्तव्या मुमुक्षुभिरवश्यमेव करणीया तदकरणे साध्यसिद्धेरभावात्। न केवल कर्तव्या कषायसल्लेखना च। कृत्वा। **विजओ** विजयमभिभव। कासां। **परिसहचमूण** परीषहचमूना बुभुक्षादि-द्वाविंशतिपरीषहसेनाना। न केवल परीषहचमूना विजय। कृत्वा **सहणं** सहन मर्षण क्षमणामिति यावत्। केषा। **उवसग्गाणं** उपसर्गाणा सचेतनाचेतनेभ्य समुत्पन्नोपप्लवाना। कथ। **तहा** तथा। न केवल उपसर्गाणा सहन **जओ** जय विजयलक्षण। केषा। **इंदियमल्लाण** इद्रियमल्लाना स्पर्शनादिलक्षणानि

---

कर्मों का क्षय करने मे जो तत्पर है, उसे क्षपक कहते हैं।

जो क्षपक बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करता है, कषाय-सल्लेखना (आत्मपरिणामो की घातक क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषाय का त्याग करता है) अर्थात् आराधना के इच्छुक क्षपक को कषायो को कृश अवश्य करना चाहिए। क्योकि कषायो को कृश किये बिना साध्य (समाधि) की सिद्धि नहीं हो सकती।

क्षपक को भूख, प्यास आदि बावीस परीषह रूपी सेना को भी सहन करना चाहिए। निज शुद्धात्म भावना द्वारा परीषहो को जीतना चाहिए।

चेतन कृत और अचेतन कृत, दो प्रकार के जो उपसर्ग हैं उनको भी सम भाव के द्वारा सहन करना चाहिए।

स्पर्शनादि पचेन्द्रियो को अपने-अपने विषयो से रोकना चाहिए। ये पचेन्द्रियॉ महासुभट हैं, मानव को कुमार्ग मे पटक देती है अत इनके आधीन नहीं होना चाहिए। स्वेच्छा से विषय रूपी वन मे भटकने वाले मनरूपी हाथी को अपने वश मे करना चाहिए।

अर्ह, परिग्रह का त्यागी, कषायो का शमन करने वाला, परीषह को सहन करने वाला, चेतनकृत अचेतन कृत उपसर्ग आने पर भी स्वकीय स्वभाव से विचलित नहीं होने वाला, इन्द्रिय रूपी सुभटों को

पचेद्रियाणि तान्येव महासुभटास्तेषा। न केवल इद्रियमल्लाना जय। **संजमणं** सयमन सकोचन। कस्य। **मणगयपसरस्स** मनोगजप्रसरस्य मनश्चित्त तदेव गजो हस्ती तस्य प्रसर स्वेच्छापरिभ्रमण तस्य प्रथममर्हो भूत्वा सगत्याग करोति तदनु कपायसल्लेखना करोति पुन परीषहसेना जयति तथा उपसर्गान् सहते इन्द्रियमल्लाना च जय करोति मनोगजप्रसर च निरोधयति। एव सामग्रीं समील्य क्षपक कर्माणि क्षपयतु। इति सप्तमस्थलसमुदायसूचनाया गाथाद्वय गत ॥२२॥२३॥

इदानीमादावेव निर्दिष्टस्यार्हस्य लक्षणमाह अस्यैव ज्येष्ठत्वात्-

**छंडियगिहवावारो विमुक्कपुत्ताइसयणसंबंधो।**
**जीवियधणासमुक्को अरिहो सो होइ सण्णासे॥२४॥**

त्यक्तगृहव्यापार विमुक्तपुत्रादिस्वजनसबन्ध ।
जीवितधनाशामुक्त अर्ह स भवति सन्यासे॥२४॥

**होइ** भवति। कोसौ। **अरिहो** अर्ह योग्य । क्व। **सण्णासे** सन्यासे अयोग्यहानयोग्योपादानलक्षणसन्यास तस्मिन्। **सो** स किंविशिष्टो भवति। **छंडियगिहवावारो** त्यक्तगृहव्यापार त्यक्ता अनतससारकारणकारिव्यापारावारपारगसहजशुद्धचिच्चमत्काररसास्वादविशेषव्यापृतपरमात्मपदार्थविलक्षणा असिमसिकृषिपशुपाल्यवाणिज्यादयो गृहव्यापारा येनासौ।

---

जीतने वाला, स्वकीय मन रूपी हाथी को सयम की साकल से बॉधने वाला क्षपक ही सन्यास धारण (समाधि-मरण) करने योग्य होता है। इस प्रकार का क्षपक ही अनादि काल से आत्मा के साथ एकक्षेत्रावगाही होने वाले ज्ञानावरणादि कर्मों का नाश कर सकता है। इस प्रकार सप्त स्थल सूचक दो गाथाएँ पूर्ण हुईं॥२२-२३॥

अब सर्वप्रथम निर्दिष्ट (कथित) 'अर्ह' का लक्षण कहते है, क्योकि अर्ह ही सर्व मे श्रेष्ठ है। अर्थात् सन्यास ग्रहण करने के योग्य पुरुष को अर्ह कहते हैं, उसका कथन करते है।

**''जिसने गृह सम्बन्धी व्यापार छोड दिया है, पुत्र-पौत्रादिक के सम्बन्ध से जो विमुक्त है और जीवित (जीवन) एव धन की आशा से रहित है, ऐसा क्षपक ही सन्यास ग्रहण करने के योग्य होता है॥२४॥**

अयोग्य का त्याग करना और योग्य को ग्रहण करना सन्यास कहलाता है।

अनन्त ससार के कारणभूत व्यापार से रहित सहज शुद्ध चित्- चमत्कार के रसास्वादन से युक्त परमात्म पदार्थ से विलक्षण असि (तलवार का काम अर्थात् युद्ध करना), मसि (लेखन का काम करना), कृषि (खेती करना, पशुपालन), वाणिज्य (व्यापार) आदि जो गृहस्थ की आजीविका के साधन हैं उनको गृहव्यापार कहते हैं। इस गृहव्यापार को छोडने वाला मानव ही सन्यास के योग्य होता है।

पुन· कथभूत । **विमुक्कपुत्ताइसयणसंबंधो** विमुक्तपुत्रादिस्वजनसबध **जीवियधणासमुक्को** जीवितधनाशामुक्त स्वकीये काये ममत्वपरिणामवशादिद मदीयमनेन सार्ध मम विघटन माभूदित्यभिलाषो जीविताशा इत्युच्यते। निजनिरजनशुद्धबुद्धैकस्वभावस्वसवेदनज्ञानैकधनविलक्षण-धनधान्यसुवर्णादिपरिग्रहग्रहाभिलाषो धनाशा इत्युच्यते इत्युक्तलक्षणाभ्या जीवितधनाशाभ्या मुक्त परित्यक्त । आदौ गृहव्यापारान् परित्यज्य पुत्रादिस्वजनसबध मुचति तदनु जीवितधनाशाद्वय निरस्य सन्यासार्हो भवतीत्यर्थ ॥२४॥

एवमर्हस्वरूप निरूप्य बाल्ययौवनवार्धक्यावस्थात्रये कस्यामवस्थायामुत्तमस्थानस्यार्ह सपद्यते इति पृच्छत प्रति गाथाचतुष्कमाह-

**जरवग्घिणी ण चंपइ जाम ण वियलाइ हुंति अक्खाइं।**
**बुद्धी जाम ण णासइ आउजलं जाम ण परिगलई॥२५॥**

**आहारासणणिद्दाविजओ जावत्थि अप्पणो णूणं।**
**अप्पाणमप्पणोण य तरइ य णिज्जावओ जाम॥२६॥**

**जाम ण सिढिलायंति य अंगोवंगाइ संधिबंधाइं।**
**जाम ण देहो कंपइ मिच्चुस्स भएण भीउव्व॥२७॥**

---

पुत्र-पौत्रादि स्वजन, पुरजन, परिजन की ममता सन्यास मे बाधक होती है अत स्वजनादि के ममत्व का त्याग करने वाला सन्यास के योग्य होता है।

"यह शरीर मेरा है, इसने आज तक मेरा साथ निभाया है, इसका विघटन (नाश) नहीं होवे" ऐसा विचार जीवित-आशा है।

निज निरजन शुद्ध बुद्ध एक (अद्वितीय) स्वभाव रूप स्वसवेदन ज्ञान रूपी धन से विलक्षण धन (गाय, भैस आदि), धान्य, सुवर्ण आदि परिग्रह की अभिलाषा को धन-आशा कहते है।

इन दोनो प्रकार की अभिलाषाओ से जो रहित है, जिसके हृदय मे जीवित-आशा और धन-आशा नहीं है, वही क्षपक सन्यास के योग्य होता है ॥२४॥

सर्वप्रथम जो घर के व्यापार को छोडकर पुत्र-पौत्रादि के सम्बन्ध को छोडता है, तत्पश्चात् जीवित आशा और धनाशा को छोडकर सन्यास के योग्य होता है। इस प्रकार सन्यास के योग्य मानव का कथन करके "बाल्य, यौवन और वार्धक्य इन तीनो अवस्थाओ मे से कौनसी अवस्था मे सन्यास ग्रहण करना उत्तम है?" ऐसा पूछने पर आचार्यदेव चार गाथाओ मे उत्तर देते हैं-

**"जब तक जरा रूपी व्याघ्री आक्रमण नही करती है, इन्द्रियाँ शिथिल नही हुई है, जब तक बुद्धि नष्ट नही हुई है, जब तक आयु रूपी जल गलित नही हुआ है, जब तक यह अपने आहार, आसन और निद्राका विजयी है, जिसके आत्मा को तारनेवाले निर्यापकाचार्य का संयोग**

**जा उज्जमो ण वियलइ संजमतवणाणझाणजोएसु।**
**तावरिहो सो पुरिसो उत्तमठाणस्स संभवई॥२८॥ कलावयं।**

जराव्याघ्री न चपते यावन्न विकलानि भवति अक्षाणि।
बुद्धिर्यावन्न नश्यति आयुर्जल यावन्न परिगलति॥२५॥

आहारासननिद्राविजयो यावदस्ति आत्मनो नूनम्।
आत्मानमात्मना च तरति च निर्यापको यावत्॥२६॥

यावत् न शिथिलायते अगोपागानि सधिबधाश्च।
यावन्न देह कपते मृत्योर्भयेन भीत इव॥२७॥

यावदुद्यमो न विगलति सयमतपोज्ञानध्यानयोगेषु।
तावदर्ह स पुरुष उत्तमस्थानस्य सभवति॥२८॥ कलापक।

**संहवइ** सभवति सपद्यते। कोसौ। स पूर्वोक्तलक्षण **पुरिसो** पुरुष। कथभूत। **अरिहो** अर्ह। कस्य। उत्तमस्थानस्य बाह्याभ्यतरसगसन्यासलक्षणविशेषस्य। कथ **ता** तावत्। तावदिति कियत्काल। **जाव** यावत् यावत्काले **ण चंपेइ** न चपते नाक्रमति। कासौ। **जरवग्घिणी** यौवनद्विपदर्पदलनत्वात् जराव्याघ्री। न केवल जराव्याघ्री यावन्नाक्रामति। **जाम ण हुंति** यावत् च न भवति कानि। **अक्खाइं** अक्षाणि स्पर्शरसगधवर्णशब्दग्रहणदक्षाणि इद्रियाणि। किंविशिष्टानि यावच्च न भवति। **वियलाइं** विकलानि स्वकीयस्वकीयविषयसौष्ठवास्पष्टकारीणि। न केवल विकलानींद्रियाणि यावन्न भवति **जाम** यावच्च **ण**

---

**है, जब तक अंगोपांग और शरीर की सन्धियाँ शिथिल नही हुई है, जिसका शरीर मृत्यु के भय से कम्पित नही हो रहा है जब तक संयम, तप, ज्ञान, ध्यान योग मे उद्यम नष्ट नही हुआ है। ऐसा पुरुष ही उत्तम स्थान (संन्यास) के योग्य होता है अर्थात् बाह्य अभ्यन्तर परिग्रहत्याग लक्षण वाला ही संन्यास धारण करने योग्य होता है॥२५-२६-२७-२८॥**

यौवन रूपी हाथी के मद का मर्दन करने वाली होने से जरा (बुढापा) को व्याघ्री कहा है। जब तक बुढापे ने आक्रमण नहीं किया है, जब तक इन्द्रियाँ विकल नहीं हुई हैं- अर्थात् स्पर्श, रस, गध, वर्ण शब्द रूप अपने-अपने विषय को ग्रहण करने मे समर्थ हैं, जब तक बुद्धि नष्ट नहीं हुई है अर्थात् अवस्था विशेष से इन्द्रियो और मन के विकल हो जाने से हेयोपादेय पदार्थ के परिज्ञान से शून्य हो अपने स्वरूप को छोडकर विपर्यय रूप को ग्रहण करती है वा विपरीत अर्थ को ग्रहण कर अदृश्य हो जाती है, वह बुद्धि का विनाश कहलाता है। अर्थात् जब तक बुद्धि विकल नहीं हुई है, स्मृति नष्ट नहीं हुई है, हेयोपादेय के ज्ञान से शून्य नहीं हुई है, जब तक आयु रूपी जल (स्वकीय आयुनिषेक फल देकर) नष्ट नहीं हुआ है, अर्थात् आयु रूपी जल समाप्त नहीं हुआ है।

**णासइ** न नश्यति। कासौ। बुद्धिः नश्यतीति कोर्थ। अवस्थाविशेषेण सा इद्रियमनोविकलतया हेयोपादेयपदार्थपरिज्ञानशून्यत्वेनात्मीय स्वरूप मुक्त्वा विपर्यस्तरूपमादाय अदृश्या भवति। न केवल यावद्बुद्धिर्न नश्यति। **जाम** यावच्च **ण परिगलइ** न परिगलति। किं तत्। **आउजल** आयुर्जल निजोपार्जितकर्मबधसामर्थ्येन सवत्सरायनर्तुमासपक्ष-दिवसघटिकादिविशेषैर्यावत्परिमाण भवस्थित्या एकस्मिन् देहे प्राणधारण-लक्षणमायुरिति आयुरूप जल आयुर्जल। जलत्वेनायुर्निर्देशस्य किं प्रयोजन। यथा सच्छिद्रकराजलौ प्रक्षिप्त जल समयादिसहकारित्वेन सकल परिगलति तथा आयुरपि समयघटिकादिवत् पक्षमासादिभि कृत्वा समस्त परिगलति। इदमत्र तात्पर्यं। न केवल आयुर्जल यावन्न परिगलति। **जावत्थि** यावदस्ति च। कोसौ। **आहारासणणिद्दाविजओ** आहारासननिद्रा-विजय आहारश्च आसन च निद्रा च आहारासननिद्रास्तासामाहारासन-निद्राणा विजय आहारासननिद्राविजय। आहारासननिद्राणा किं लक्षण इति चेत्। निर्विकारपरमाह्लादकारिसहजस्वभावसमुद्भवसर्वकालसतर्पण- हेतुभूतस्वसवेदनज्ञानानदामृत-रसप्राग्भारनिर्भरपरमाहारविलक्षणो निजोपार्जितासद्वेदनीयकर्मोदयेन तीव्रबुभुक्षावशाद्व्यवहारनयाधीनेनात्मना यदशनपानादिकमाद्रियते तदाहार। निश्चयेनात्मन अनन्येवस्थान यत् तदासनमित्युच्यते। लोकव्यवहारेण तदवस्थानसाधनागत्वेन यमनियमाद्यष्टागेषु मध्ये शरीरालस्यग्लानिहानाय नानाविधतपश्चरणभारनिर्वाहक्षम भवितु तत्पाटवोत्पादनाय यन्निर्दिष्ट पर्यंकार्धपर्यंकवीरवज्रस्वस्तिकपद्मकादिलक्षणमासनमित्युच्यते। एतेषा प्रत्येक लक्षणमाह-

---

निज उपार्जित कर्मबन्ध के सामर्थ्य से सवत्सर[१] अयन[२] ऋतु[३] मास[४] पक्ष[५] दिवस[६] और घटिका[७] आदि विशेषो के द्वारा भवस्थिति से एक देह मे प्राण धारण करना एक शरीर मे रहना आयु है।

आयु को जल क्यों कहा है? जिस प्रकार छिद्र सहित हाथ मे रखा हुआ जल समय (काल) की सहायता से नष्ट हो जाता है, नीचे गिर जाता है उसी प्रकार आयु भी समय, घटिका, मासादि के द्वारा प्रतिक्षण नष्ट होकर पूर्ण नष्ट हो जाती है। अत जब तक आयु पूर्णतया नष्ट नहीं हुई है, तब तक इस मानव मे आहार, आसन और निद्रा पर विजय प्राप्त करने का सामर्थ्य है।

शुद्ध निश्चय नय से निर्विकार परम आह्लाद (आनन्द) कारी सहज स्वभाव से समुद्भूत, सर्व काल में सतृप्ति के कारणभूत स्वसवेदन ज्ञान के आनन्द रूपी अमृत रस का आस्वादन है, वही परम निर्भर आहार है क्योकि वहीं आत्मा को पुष्ट करने वाला है।

शुद्धात्मा के आस्वादन रूप आहार से विलक्षण, व्यवहार नय से स्वकीय भावों से उपार्जित असाता वेदनीय कर्म के उदय से उत्पन्न तीव्र भूख-प्यास के कारण उसके आधीन होकर आत्माके द्वारा जो अन्न-पानी आदि ग्रहण किये जाते है, उसको आहार कहते हैं।

निश्चय नय से आत्मा का अपने स्वभाव में स्थिर होना ही आसन है परन्तु जब स्वकीय स्वभाव मे स्थिर रहने मे समर्थ नहीं होता है, तब लोकव्यवहार मे स्वकीय स्वभाव मे स्थिर होने के निमित्तभूत यम, नियम आदि आठ अगो के मध्य मे शरीर की ग्लानि (थकावट) और आलस्य को दूर करने के लिए, नाना प्रकार के तपश्चरण के भार को वहन करने मे समर्थ करने के लिए तथा स्वमे स्थिरता लाने की पाटव (चतुरता) उत्पन्न करने के लिए, शास्त्र में निर्दिष्ट (कथित) पर्यकासन, अर्ध पर्यकासन, वीरासन, वज्रासन, स्वस्तिकासन, पद्मासन आदि अनेक प्रकार के आसन कहे है।

**स्याज्जंघयोरधोभागे पादोपरि कृते सति।**
**पर्यंको नाभिगोत्तानदक्षिणोत्तरपाणिकः॥**

अयमेवैक जघाया अधोभागे पादोपरि कृतेऽर्धपर्यक ।

**वामोघ्रिर्दक्षिणोरूर्ध्वं वामोरूपरि दक्षिणः।**
**क्रियते यत्र तद्वीरोचितं वीरासनं स्मृत॥**

**पृष्ठे यत्राकृतीभूतदोर्भ्यां वीरासने सति।**
**गृह्णीयात् पादयोर्यत्रांगुष्ठौ वज्रासनं हि तत्॥**

**जघाया मध्यभागेषु सश्लेषो यत्र जंघया।**
**पद्मासनमिति प्रोक्तं तदासनविचक्षणै॰॥**

इत्यादि। निद्रालक्षण कि। सर्वदोन्निद्रकेवलज्ञानदर्शननेत्रपरमात्मपदार्थविलक्षणनिद्रादर्शनावरणकर्मोदयेन स्वापलक्षणा निद्रा। यावदाहारस्य विजय , आसनस्य विजय , निद्राया विजय । आहारादीना विजय इति। कोर्थ इति चेत्। यथा यौवनावस्थाया पुमान् अनशनावमौदर्यादिभिस्तीव्रतपोविशेषैराहारजय तथा आसनविजय निद्राविजय करोति तथा वृद्धावस्थाया कर्तुं न शक्नोति इति तात्पर्यं। कुत आहारासननिद्रादीना विजयोस्ति। **अप्पणो** आत्मन आत्मन. सकाशात्। कथ। **णूणं** नून निश्चयेन। न

---

दोनो जघाओं के अधोभाग मे दोनो पैरो को ऊपर करके नाभिके समीप बायें हाथ के ऊपर दाहिना हाथ रखना यह **पर्यंक आसन** कहलाता है। इसी प्रकार एक जघा के अधोभाग में एक पैर को ऊपर रखना **अर्ध पर्यंक आसन** कहलाता है। जिसमें वाम (बाये) पैर के ऊपर दाहिना पैर और दाहिने पैर पर बॉया पैर रखा जाता है, उसको वीरो के लिए उचित **वीरासन** कहा जाता है। वीरासन से बैठकर दाये बाये हाथो को करके जो दोनो हाथो से पैरो के अगूठे पकडे जाते है उसको **वज्रासन** कहते है। दोनो जघाओ के मध्य भाग का स्पर्श करके जो दोनो पैर जघा के ऊपर रखे जाते हैं और उसके ऊपर दोनो हाथ रखे जाते हैं उसको आसनों के जानने वाले महापुरुषो ने **पद्मासन** कहा है।

**निद्रा** का लक्षण- सदा काल के लिए खुल गये हैं केवलज्ञान और केवलदर्शन रूपी नेत्र जिनके ऐसे परमात्म-पदार्थ से विलक्षण निद्रा दर्शनावरण कर्म के उदय से स्वाप (सोना) लक्षण निद्रा कहलाती है। अर्थात् जिसमे पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को ग्रहण करने मे असमर्थ हो जाती हैं उसको निद्रा कहते हैं। आहारविजय, आसनविजय और निद्राविजय करने वाले को आहार-आसन-निद्रा विजयी कहते हैं।

मानव अनशन-अवमौदर्य आदि तप विशेष के द्वारा युवावस्था मे जैसा आहार विजयी होता है, आसनविजयी और निद्राविजयी होता है, वैसा आहारविजयी, निद्राविजयी, आसनविजयी वृद्धावस्था में नहीं हो सकता। अत आहार, आसन और निद्रा विजयी मानव सन्यास के योग्य होता है।

केवल आहारासननिद्राणा विजयोस्ति। **जाम ण तरइ य** यावन्न तरति च। कोसौ। **णिज्जावओ** निर्यापक शास्त्रोक्तलक्षण । केन। **अप्पणेण य** आत्मनैव। क। **अप्पाणं** आत्मान आचारशास्त्रोक्ताष्टचत्वारिंशन्निर्यापकाननपेक्ष्य आत्मनैव निर्यापको भूत्वा आत्मान तरति यावत्। न केवलमात्मनैव निर्यापको भूत्वा आत्मान यावत्तरति। **जाम ण सिढिलायति य** यावन्न शिथिलायते यावत्काल शिथिल इव नाचरति। कानि। अगोपागानि। अगानि शिरोभुजादिलक्षणानि। एतेभ्य अवशेषाणि उपागानि। उक्त च-

**चरणयुग बाहुयुगं पृष्ठकटी मस्तकादि वक्षश्च।**
**एतान्यंगान्यष्टौ देहे शेषाण्युपागानि। इति।**

न केवल अगोपागानि शिथिलायते **संधिबंधाइ** सधिबधाश्च शरीरेऽस्थ्ना सधय सधानानि तेषा बध शिरास्नायुजालेन परस्परजडीकरणानि। न केवलमगोपागसधिबधा शिथिलायते। **जाम ण कंपइ** यावच्च न कपते। कोसौ। **देहो** देह शरीर। कस्मात्। **भयेण** भयात्। कस्य। **मिच्चुस्स** मृत्यो । देहात् प्राणसमुदायविघटनसामर्थ्ययुक्तनिजार्जितायु कर्म-भवस्थितिपरिसमापक समयलक्षणकालस्य। क इव।

---

सन्यास की विधि मे शास्त्रोक्त लक्षण से युक्त अडतालीस सहायक मुनियो के साथ स्व और पर के तारक निर्यापक आचार्य का होना भी परम आवश्यक है। क्योकि केवल आत्मा ही निर्यापकाचार्य होकर आत्माको तार नहीं सकता अत शास्त्रविधि को जानने वाले निर्यापकाचार्य का सान्निध्य भी समाधि के लिए आवश्यक है।

जब तक अग, उपाग, हड्डियो के सन्धि-बन्धन शिथिल नहीं हुए है, तब तक यह शरीर सन्यास के योग्य है। सिर, भुजा आदि अग कहलाते हैं और कान, नाक, ऑख, अगुली आदि उपाग कहलाते है। सो ही कहा है-

"दो चरण, दो हाथ, पीठ, मस्तक, कटि (कमर) और वक्षस्थल ये आठ अग हैं और शरीर के शेष अवयव उपाग है। ये अग-उपाग शिथिल नहीं हुए हैं तब तक ही मानव सन्यास के योग्य होता है।

शरीर मे जो हड्डियो का जोड है उसको सधि-सधान कहते हैं। उन सधियो के सधान का शिरा, स्नायु, जाल आदि के द्वारा परस्पर सघटन होता है, मजबूती आती है, उसको सधिबधन कहते हैं। हे क्षपक! जब तक सधिबधन ढीले नहीं पडे है, शिथिल नहीं हुए है तब तक तू सन्यास के योग्य है।

प्राण समुदाय (पॉच इन्द्रिय, मन, वचन, काय रूप तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये दश प्राण है- इन प्राणो के समुदाय) का विघटन करने मे (नाश करने मे) समर्थ, निज भावो से उपार्जित आयु कर्म से उत्पन्न भवस्थिति के परिपाक (नाश) का समय मृत्यु कहलाती है, अर्थात् आयु की समाप्ति हो जाने से प्राणो का विघटन हो जाना ही मृत्यु है। जैसे अति क्रूर सिह, व्याघ्र आदि को देखकर प्राणी भय से कॉपने

**भीउच्च** भीत इव त्रासयुक्त इव। यथा कश्चन अतिरौद्ररूपसिंहव्याघ्रताडनमारणादिकारणेभ्यो भीत कपते तथाय देहो मरणभयात्कपते, वृद्धावस्थाया हि शरीरे स्वय कप· सजायते। यावदीदृगवस्थाकारिणी वृद्धावस्था न समायाति तावद्यौवनमध्यावस्थाया सत्या स सन्यासार्हो भवतु इत्यग्रे वक्ष्यतीति तात्पर्यं। न केवल देहो मृत्योर्भयात् कपते। **जाम ण वियलइ** यावन्न विगलति। कोसौ। उज्जमो उद्यम कार्यारभाय समुत्साहलक्षण । केषु। **संजमतवणाणझाणजोएसु** सयमतपोज्ञानध्यानयोगेषु। तत्र सयम इद्रियप्राणादिसयमनलक्षण , तप अनशनावमौदर्यादिलक्षणैर्बहुप्रकार , ज्ञान श्रुतज्ञान, ध्यान धर्मशुक्लरूप, योग· यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधिलक्षण । सयमश्च तपश्च ज्ञान च ध्यान च योगश्च सयमतपोज्ञानध्यानयोगास्तेषु। वृद्धावस्थाया हि सयमादिविषये उद्यम स समय समय विगलति एव। यथा यौवनावस्थाया समुत्साहस्तेषु समुदयति तथा न भवतीति। यावद्वृद्धावस्था न समायाति तावत्स पुरुष उत्तमस्थानस्यार्ह सपद्यते इति तात्पर्यं। उक्त च-

---

लगता है, उसी प्रकार कायर मानव का शरीर मृत्यु के भय से कम्पित हो जाता है। अथवा वृद्ध अवस्था आ जाने पर शरीर स्वभाव से ही कॉपने लग जाता है। अत जब तक शरीर और मन मजबूत है, कम्पायमान नहीं है और जब तक ऐसी अवस्था को करने वाली वृद्धावस्था नहीं प्राप्त हुई है, युवावस्था है तब तक ही यह मानव सन्यास के योग्य होता है, ऐसा आगे कहेगे।

प्राणी सयम (छह काय के जीवो की रक्षा करना) और इन्द्रिय सयम (स्पर्शनादि पॉचो इन्द्रियों को अपने-अपने विषयो से रोकना) के भेद से दो प्रकार का सयम है। अथवा कषायो का निग्रह, इन्द्रियो पर विजय, काय की कुटिल प्रवृत्ति का त्याग तथा अहिंसादि व्रतो का पालन करना सयम है। अनशन, अवमौदर्य आदि १२ प्रकार का तप है। श्रुत का अभ्यास ज्ञान कहलाता है। धर्मध्यान और शुक्लध्यान को यहॉ ध्यान कहा है क्योकि आर्त्त, रौद्र ध्यान सन्यास के विघातक हैं। अत उनका यहॉ ग्रहण नहीं है।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योग कहलाते हैं।

**विशेषार्थ-** हे क्षपक ! भोग्य और उपभोग्य वस्तुओ का जो जीवन पर्यन्त के लिए त्याग किया जाता है, वह यम कहलाता है। अथवा अहिंसा, सत्य,अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पॉच यम हैं। जिस प्रकार यम (मृत्युदेव) प्राणो का घात करता है उसी प्रकार अहिंसादि महाव्रत ससार के नाशक होने से यम कहलाते है।

अथवा मन वचन काय को स्थिर करना, चित्त को अपने मे जोडना योग कहलाता है। जब तक सयम, तप, ज्ञान, ध्यान और योग के प्रारम्भ मे उत्साह है, उद्यम है, इनमे प्रवृत्ति है तब तक यह मानव सन्यास के योग्य है। जैसा युवावस्था मे सयमादि विषयो मे उद्यम वा उत्साह रहता है वैसा उत्साह वृद्धावस्था मे नहीं रहता है, क्योकि वृद्धावस्था मे समय-समय उत्साह नष्ट होता है। अत जब तक वृद्धावस्था नहीं आती है तब तक यह पुरुष उत्तम स्थान के योग्य होता है। सो ही **ज्ञानार्णव** मे कहा है-

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा,
यावच्चेंद्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्
संदीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः'' ॥२५/२६/२७/२८॥

व्यवहारार्हलक्षण प्रपच्य इदानीं निश्चयार्हलक्षण कथयति-

**सो सण्णासे उत्तो णिच्छयवाईहिं णिच्छयणएण।**
**ससहावे विण्णासो सवणस्स वियप्परहियस्स॥२९॥**

स सन्यासे उक्त निश्चयवादिभिर्निश्चयनयेन।
स्वस्वभावे विन्यास श्रमणस्य विकल्परहितस्य॥२९॥

**उत्तो** उक्त कथित। कै। **णिच्छयवाईहि** निश्चयवादिभि। केन कृत्वा। **णिच्छयणएण** निश्चयनयेन। कोसौ। अर्ह अत्रास्याध्याहार अस्यैवाधिकारप्रतिपादनत्वात्। क्व। सन्यासे समाधिलक्षणे। क। **सो**। स इति क। यस्य **सवणस्स** श्रमणस्य आचार्यस्य अस्ति। कोसौ। **विण्णासो** विन्यास विन्यसन स्थापनमित्यर्थ। क्व विन्यास। **ससहावे** स्वस्वभावे समस्तदेहादिविभावपरिणामविल-क्षणसहजशुद्धचिदानदसदोहनिर्भरे स्वस्वरूपे। किं विशिष्टस्य श्रमणस्य। विकल्परहितस्य शरीर कलत्रपुत्रादिजनितसमस्तविकल्पवर्जितस्य विकल्परहितश्रमणस्य यस्य स्वस्वभावे विन्यास स निश्चयनयेन निश्चयवादिभि सन्यासार्ह उक्त इत्यन्वर्थ ॥२९॥

---

जब तक यह शरीर स्वस्थ है (नीरोग है), जब तक वृद्धावस्था ने इसका स्पर्श नहीं किया है, जब तक इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयो को ग्रहण करने मे असमर्थ नहीं हुई हैं, जब तक आयु का क्षय नहीं हुआ है, तब तक विद्वानों को आत्मकल्याणकारी कार्यों में महान् प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि घर मे अग्नि लग जाने पर कुआ खुदवाने से क्या प्रयोजन है ॥२५-२८॥

इस प्रकार आचार्यदेव ने व्यवहार नय से सन्यास की योग्यता का कथन किया है। अब निश्चय नय से सन्यास की योग्यता का लक्षण कहते हैं-

**विकल्परहित श्रमण का स्वकीय स्वभाव मे स्थिर हो जाना ही निश्चय नय के द्वारा निश्चयवादियो ने सन्यास कहा है॥२९॥**

निश्चय नय अभेद रूप कथन करता है अत इसकी अपेक्षा आधार और आधेय एक ही होता है, भिन्न-भिन्न नहीं ।

पुत्र-पौत्रादि मेरे है- यह ममकार है और मैं इनका पिता, स्वामी आदि हूँ- यह अहकार है, विकल्प जाल है। मन मे अनेक प्रकार के द्वन्द्व उठते हैं, वे विकल्प कहलाते हैं। उन विकल्पजालो से रहित को निर्विकल्प वा अविकल्प कहते हैं। सारे विकल्पो से रहित निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त मुनिराज जब सारे देहादि विभाव परिणामो से विलक्षण (रहित) सहज शुद्ध चिदानन्दमय स्वकीय स्वभाव में स्थिर होते हैं, लीन होते है, स्व-स्वभाव मे रमण करते हैं, तब निश्चय नय से निश्चयवादियों ने उस अवस्था को सन्यास का विन्यास वा सन्यास की योग्यता कहा है॥२९॥

इत्युक्तलक्षणार्हो भूत्वा पुमान् अन्यत् किं कृत्वा निरालबमात्मान भावयति इति पृष्टे खित्ता इत्याह-

**खित्ताइबाहिराणं अब्भिंतरमिच्छपहुदिगंथाणं।**
**चाए काऊण पुणो भावह अप्पा णिरालंबो॥३०॥**

क्षेत्रादिबाह्यानामभ्यतर मिथ्यात्वप्रभृतिग्रथानाम्।
त्याग कृत्वा पुनर्भावयतात्मान निरालबम्॥३०॥

**भावह** भावयत आराधयत। कथ। पुन । क। **अप्पा** आत्मान। कि विशिष्ट। **णिरालबो** निरालब केवलस्वस्वरूपावलबनत्वात्सकलपरद्रव्यचिंताजनितविकल्पपरित्यागेन निर्गतो विनष्ट पदस्थपिंडस्थरूपस्थरूपातीतादिरूपोप्यालबो यस्मात् स निरालब त निरालब। किं कृत्वा **चाय काऊण** त्याग कृत्वा मुक्तस्य वस्तुनच्छर्दितवत्पुनरादानाभावलक्षणस्त्याग त। केषा। **खित्ताइबाहिराण** क्षेत्रादिबाह्याना क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यभाडबाह्यपरिग्रहाणा। उक्त च-

**सयणासणघरछित्त सुवण्णधणधण्णकुप्पभंडाइ।**
**दुपयचउप्पय जाणसु एदे दस बाहिरा गंथा॥**

ननु खित्ताई बाहिराणमित्युक्ते ग्रथशब्दः कुतो लभ्यते। अग्रे प्रयुक्तत्वेनोपलक्षणत्वात्। न केवल क्षेत्रादिबाह्यग्रथाना त्याग कृत्वा। **अब्भतरमिच्छपहुदिगथाण** अभ्यतरमिथ्यात्वप्रभृतिग्रथाना अभ्यतरेऽशुद्धनिश्चयनय परित्यज्य शुद्धनिश्चयनयप्रवर्तित आत्मनि मिथ्यात्वप्रभृतिग्रथा मिथ्यात्ववेद-रागहास्यादिषड्दोषचतुष्कषायलक्षणाश्चतुर्दश परिग्रहास्तेषा। उक्त च-

**मिच्छत्तवेयराया हासादीया य तह य छद्दोसा।**
**चत्तारि तह कसाया अब्भतर चउदसा गथा॥**

बाह्याभ्यतरपरिग्रह त्यक्त्वा निरालबमात्मानमाराधय इति तात्पर्यम्॥३०॥

---

इस प्रकार के लक्षण वाली 'अर्हा' (योग्यता) को प्राप्त करने वाला मानव अन्य किन-किन कारणों को प्राप्त करके निरवलम्ब आत्मा के ध्यान योग्य होता है, ऐसा पूछने पर आचार्यदेव कहते है –

**सगत्याग प्रकरण जिसने क्षेत्रादि बाह्य और मिथ्यात्वादि अभ्यन्तर परिग्रह का त्याग कर दिया है, वही भव्यात्मा निरवलम्ब शुद्धात्मा का ध्यान करने के योग्य पात्र होता है॥३०॥**

केवल स्वरूप का अवलम्बन होने, पर-द्रव्य की चिंता के सभी विकल्पों का त्याग होने से और पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत रूप ध्यान का अवलम्ब नष्ट हो जाने से आत्मा में निरवलम्ब ध्यान होता है। क्षेत्र[१], वास्तु[२], हिरण्य[३], सुवर्ण[४], धन[५], धान्य[६], दासी[७], दास[८], कुप्य[९] और भाण्ड[१०]-ये दस बाह्य परिग्रह हैं। कहा भी है-शयन, आसन, घर, क्षेत्र, सुवर्ण, धन, धान्य, कुप्य, भाण्ड, द्विपद, चतुष्पद ये दश प्रकार के बाह्य परिग्रह हैं। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुसकवेद, क्रोध,मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व ये १४ अभ्यन्तर परिग्रह हैं।

इन चौबीस प्रकार के परिग्रह का त्याग करके हे क्षपक ! निरवलम्ब आत्मा का ध्यान करो। अथवा अभ्यन्तर में अशुद्ध निश्चय नय (रागादि भावों) का त्याग कर स्व में रमण करना परिग्रह का त्याग कहलाता है॥३०॥

---

१ जिसमें खेती की जाती है, उसे क्षेत्र कहते हैं। २ घर को वास्तु कहते हैं। ३ चादी को हिरण्य कहते हैं।

नन्वेतेन ग्रथपरित्यागेनात्मन· किं फल भवतीति वदत प्रत्याह-

**संगच्चाएण फुडं जीवो परिणवइ उवसमो परमो।**
**उवसमगओ हु जीवो अप्पसरूवे थिरो हवइ॥३१॥**

सगत्यागेन स्फुटं जीव परिणमति उपशम परमम्।
उपशमगतस्तु जीव आत्मस्वरूपे स्थिरो भवति॥३१॥

**परिणमइ** परिणमति प्राप्नोति। कोसौ। **जीवो** जीव· आत्मा। क। **उवसमो** उपशम रागादि-परिहारलक्षण। कथभूत। **परमो** परम उत्कृष्टकोटिप्राप्त। केन कारणेन। **संगच्चाएण** सगत्यागेन बाह्याभ्यतरसगपरित्यागेन **फुडं** स्फुट निश्चित। ननु उपशम प्राप्त आत्मा कथभूतो भवतीति प्रश्नोत्तरमाह। **हवइ** भवति। कोसौ। जीव । कथभूतस्तु। **उवसमगओ हु** उपशमगतस्तु उपशमगतोय जीव । **कथंभूतो** भवति। **थिरो** स्थिर प्रचालयितुमशक्य । क्व। **अप्पसरूवे** स्वकीये परमात्मस्वरूपे यत उपशमगतोयमात्मस्वरूपे स्थिरीभवति। उपशमस्तु सगत्यागेन जन्यते तत उपशमहेतुभूत सगत्याग विधाय परमात्मानमाराधयतेति तात्पर्यार्थ ॥३१॥

---

इस बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह के त्याग से आत्मा को क्या फल मिलता है? ऐसा पूछने पर आचार्य कहते है-

**हे क्षपक ! परिग्रह का त्याग करने पर ही यह जीव परम उपशम भाव को प्राप्त होता है और उपशम भाव को प्राप्त हुआ जीव आत्मस्वरूप मे स्थिर होता है॥३१॥**

रागादि विकार भावो का त्याग करना उपशम भाव है- उत्कृष्ट प्रशम भाव को परम उपशम भाव कहते हैं। बाह्य अभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करने पर ही उपशम भावो को प्राप्त होता है और उपशम भाव को प्राप्त हुआ जीव ही अपने आत्मस्वरूप मे स्थिर होने मे समर्थ होता है। परिग्रह के त्याग से उपशम उत्पन्न होता है। अत उपशम भाव के विघात मे कारणभूत परिग्रह का त्याग करके परमात्मस्वरूप स्व आत्मा की आराधना करनी चाहिए॥३१॥

---

४ सोने को सुवर्ण कहते हैं। गाय-भैस आदि चतुष्पद को धन कहते हैं।

५ गेहू, चावल, मूग आदि को धान्य कहते है।

६ स्त्री जाति मानवी को रखकर काम कराया जाता है, वह दासी कहलाती है

७ काम करने वाले पुरुष दास कहलाते हैं।

८ वस्त्र आदि कुप्य हैं।

९ बर्त्तन को भाण्ड कहते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में कुप्य शब्द से भाण्ड आदि सबको ग्रहण किया है।

१० जैसे वमन की हुई वस्तु के ग्रहण करने का भाव नहीं होता उसी प्रकार छोडी हुई वस्तु के ग्रहण करने का भाव नहीं होना ही त्याग है।

ननु ग्रंथवानप्यात्माराधको घटते चित्तनिर्मलीकरणत्वात् किं ग्रथपरित्यागविकल्पेनेत्याशक्याह-

**जाम ण गंथं छंडइ ताम ण चित्तस्स मलिणिमा मुचइ।**
**दुविहपरिग्गहचाए णिम्मलचित्तो हवइ खवओ॥३२॥**

यावन्न ग्रथ त्यजति तावन्न चित्तस्य मलिनिमान मुचति।
द्विविधपरिग्रहत्यागे निर्मलचित्तो भवति क्षपक ॥३२॥

**ण छंडइ** न त्यजति। कोसौ। स पूर्वोक्त आराधक । कथ। **जाव** यावत् यावत्काल। क। **गंथ**। ग्रथ परिग्रह **ताम ण मुयइ** तावत्काल न मुचति। क। **मलिणिमा** मलिनिमान मलिनत्व। कस्य। **चित्तस्स** चित्तस्य यावत्कालपरिमाण ग्रथ न त्यजति तावत्काल चित्तमलिनता न मुचति इत्यर्थ । द्विविधपरिग्रहत्यागी कथभूतो भवतीत्याह। हवइ भवति। कोसौ। **खवओ** क्षपक कर्मक्षपणशील । कथभूतो भवति। **णिम्मलचित्तो** निर्मलचित्त रागद्वेषादिजनितसकलकालुष्यरहितचेता । किं कृते सति। दुविहपरिग्गहचाए द्विविधपरिग्रहत्यागे बाह्याभ्यतरभेदाद् द्विविधपरिग्रहत्यागे कृते सति य कश्चिदात्मानमाराधयितुकाम स पूर्वं चित्तशुद्ध्यै चित्तकालुष्यहेतून् परिग्रहान् ममैते तेभ्य समाधान जायते इतीमा शकामपि विहाय परमात्मान भावयेति तात्पर्यम्॥३२॥

---

परिणामो की निर्मलता होने से परिग्रहवान भी आत्मा का ध्यान कर सकता है, क्योंकि बाह्य परिग्रह का सयोग निमित्त मात्र है अत इस परिग्रह के त्याग के विकल्प से क्या प्रयोजन है? ऐसा कहने वालो के प्रति आचार्य उत्तर देते है -

**"जब तक ग्रन्थ (परिग्रह) को नही छोडता है तब तक चित्त की (मानसिक) मलिनता नही छूटती है, नष्ट नही होती है। क्योकि परिग्रह का त्याग करने पर ही क्षपक निर्मलचित्त वाला होता है॥३२॥**

जब तक क्षपक बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्याग नहीं करता है, 'ये बाह्य पदार्थ मेरे है' इस प्रकार की भावना को नहीं छोडता है, तब तक चित्त रागद्वेषजनित सकल कालुष्य भाव रूप मलिनता का परित्याग नहीं करता है अर्थात् मन को मलिन करने वाले परिग्रह का त्याग किये बिना चित्त रागद्वेष रहित नहीं होता- जैसे तन्दुल का बाह्य छिलका निकाले बिना अभ्यन्तर की लालिमा नष्ट नहीं होती। बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करने पर क्षपक राग-द्वेष आदि सकल कालुष्य भाव रहित निर्मल चित्तवाला होता है। इसलिए जो कोई भव्यात्मा, आत्माराधना का इच्छुक है, उसे पूर्व मे चित्तकी कलुषता के हेतुभूत बाह्य परिग्रह का त्याग करके शुद्धात्मा का ध्यान करना चाहिए, परमात्मा का ध्यान करना चाहिए॥३२॥

ननु सामान्यनिर्ग्रंथलक्षणमवादि भवद्भिरिदानीं परमार्थनिर्ग्रथस्वरूप श्रोतुकामोऽह भगवन् श्रावयेति वदत प्रत्याह-

**देहो बाहिरगंथो अण्णो अक्खाण विसयअहिलासो।**
**तेसिं चाए खवओ परमत्थे हवइ णिग्गंथो ॥३३॥**

देहो बाह्यग्रथो अन्यो अक्षाणा विषयाभिलाष ।
तयोस्त्यागे क्षपक परमार्थेन भवति निर्ग्रंथ ॥३३॥

**हवइ** भवति। कोसौ। **खवओ** क्षपक । कथभूतो भवति। **णिग्गंथो** निर्ग्रथ ।

**एको मे शाश्वतश्चात्मा ज्ञानदर्शनलक्षण:।**
**शेषा बहिर्भवा भावा: सर्वे संयोगलक्षणा:॥**

इति श्लोकार्थाभिप्रायप्रवर्तनतया केवल निजात्मद्रव्योपादानत्वात्सर्वसगसन्यासी। केन। **परमत्थे** परमार्थेन निश्चयेन। किं कृते सति। **चाए** त्यागे कृते सति। कयो । **तेसि** तयो । तयोरिति तौ द्वौ प्रत्येक कथयति। भवति। कोसौ। **बाहिरगंथो** बाह्यग्रथ बाह्यपरिग्रह । क स । देह शरीर भवति च। कोसौ। **अण्णो** अन्य बाह्यादन्यत्वादन्य अभ्यतरग्रथ इत्यर्थ । स क । **विसयअहिलासो** विषयाभिलाष विषयवाछा। केषा। **अक्खाण** अक्षाणा इद्रियाणा परमार्थेन देह एव बाह्यग्रथ सर्वै प्रत्यक्षत्वात् परमार्थेनेद्रियाणा विषयाभिलाष अभ्यन्तरग्रथ अकायवाग्व्यापारे परेद्रियैरप्रत्यक्षत्वात्

---

हे भगवन् ! आपने सामान्य निर्ग्रन्थ के लक्षण का कथन किया। अब परमार्थ-निर्ग्रन्थ के स्वरूप को सुनने की इच्छा करने वाले मुझे परमार्थ-निर्ग्रन्थ का स्वरूप सुनाओ (समझाओ), ऐसा कहने वाले को आचार्य कहते है-

**शरीर बाह्य परिग्रह है और इन्द्रिय-विषयो की अभिलाषा अभ्यन्तर परिग्रह है। इन दोनो प्रकार के परिग्रह का त्याग करने वाला क्षपक परमार्थ से निर्ग्रन्थ होता है ॥३३॥**

"ज्ञान-दर्शन लक्षण वाला (ज्ञाता द्रष्टा), शाश्वत (नित्य निरजन) एक मै आत्मा हूँ। ज्ञान-दर्शन ही मेरा स्वरूप है। अन्य जितने भी भाव हैं वे पर-द्रव्य के सयोग से उत्पन्न हुए है अत मुझ से बाह्य हैं।" इस प्रकार विचार करके केवल निज आत्म द्रव्य को उपादान रूप से ग्रहण करता है- वही सर्व सग (सर्व परिग्रह) का त्यागी परमार्थ सन्यासी होता है।

वास्तव मे, शरीर ही बाह्य परिग्रह है, क्योकि क्षेत्र वास्तु आदि बाह्य परिग्रह के नहीं होने पर भी एकेन्द्रिय आदि जीव परिग्रहवान हैं। यह शरीर बाह्य इन्द्रिय-गोचर होने से सब के प्रत्यक्ष है अत बाह्य है। स्पर्शन आदि पचेन्द्रिय विषयो की अभिलाषा है, पचेन्द्रिय विषयो को ग्रहण करने की इच्छा है वह आभ्यन्तर परिग्रह है- क्योकि वह अभिलाषा काय और वचन व्यापार से रहित है तथा दूसरो की इन्द्रियो के प्रत्यक्ष नहीं है, दूसरो के द्वारा जानी नहीं जा सकती। इस प्रकार उपर्युक्त दोनो प्रकार के परिग्रह का त्याग करने वाला भव्यात्मा ही परमार्थ निर्ग्रन्थ होता है और वह परम निर्ग्रन्थ क्षपक ही स्वस्वरूप का आराधक

इत्युक्तलक्षणयोर्बाह्याभ्यतरग्रथयोस्त्यागे कृते सति परमार्थनिर्ग्रन्थो भवन् स्वस्वरूपाराधको भवतीत्यभिप्राय ॥३३॥ एव गाथाचतुष्टयेन सगत्यागो व्याख्यात , अधुना क्रमायाताया कषायसल्लेखनाया व्याख्यान गाथाषट्केन कृत्वा आचार्यो निरूपयतीति समुदायपातनिका॥३३॥

ननु कषायसल्लेखनाकारी क्षपको य स कथभूतो भवतीति वदत प्रत्याह-

**इंदियमयं सरीरं णियणियविसएसु तेसु गमणिच्छा।**
**ताणुवरिं हयमोहो मंदकसाई हवइ खवओ॥३४॥**

इद्रियमय शरीर निजनिजविषयेषु तेषु गमनेच्छम्।
तेषामुपरि हतमोहो मदकषायो भवति क्षपक ॥३४॥

**हवइ** भवति। कोसौ। **खवओ** क्षपक । कि भवति। **मंदकसाई** मदकषायी। किं विशिष्ट । क्षपक । **हतमोहो** हतमोह हतो निराकृतो मोहो मूर्छा ममत्वपरिणामो येन स हतमोह । क्व। **उवरिं** उपरि। केषा तेषा स्वस्वविषयाणा। तेषामुपरीति कि तदेवस्पष्टमाह। भवति तत् शरीर। किं भवति। **गमणिच्छा** गमनेच्छ गमने इच्छा यस्य तत् गमनेच्छ जिगमिषु। क्व। **णियणियविसएसु** निजनिजविषयेषु स्वकीयस्वकीय स्पर्शरसगधवर्णशब्दलक्षणेषु। विषयेषु इत्युक्ते शरीरादावतिन्याप्ति तन्निरासार्थं **इंदियमय**

---

होता है। अत बाह्य मे शरीर-धन-धान्य आदि का और अतरग मे पचेन्द्रिय विषयो की अभिलाषाओ का त्याग करके हे क्षपक ! निज आत्मा की आराधना करो, निजात्मा का अनुभव करो, स्व-स्वरूप मे रमण करने का प्रयत्न करो।

इस प्रकार समाधि की साधक 'अर्ह' 'सगत्याग' आदि सात कारणो मे कथित **'संगत्याग'** का चार गाथाओ के द्वारा कथन किया। अब आचार्यदेव छह गाथाओ के द्वारा क्रम से प्राप्त **कषाय-सल्लेखना** का कथन करते हैं और उसके स्वरूप का निरूपण करते हैं॥३३॥

कषाय-सल्लेखना करने वाला क्षपक कैसा होता है? ऐसा शिष्य के द्वारा प्रश्न करने पर आचार्यदेव कहते हैं-

**यह शरीर इन्द्रियमय है, निज-निज विषयो मे गमन (सेवन) करने की इच्छा (अभिलाषा) है। इन दोनो पर जो मोहरहित होता है, वह मन्दकषायी क्षपक कषाय-सल्लेखना वाला होता है॥३४॥**

यह शरीर स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र (कर्ण) रूप पॉच इन्द्रियो से निर्मित है, रचित है। इन्द्रियमय शरीर की जो पचेन्द्रिय विषयभोग की अभिलाषा है, इच्छा है, यही ससार-परिभ्रमण का कारण है अर्थात् शरीर और पचेन्द्रियो की अभिलाषा ससार का कारण है- कषाय-उत्पत्ति का हेतु है। जो क्षपक शरीर और इन्द्रियो की अभिलाषा का परित्याग करता है, शरीर और इन्द्रिय-विषयो के ममत्व परिणाम को, मूर्छा को छोड देता है वही मद कषायी होता है।

स्पर्शनादिलक्षणैरिंद्रियैर्निर्वृत इंद्रियमय। तथा च मदकषायी शब्दोत्र सज्ञात्वेन कल्पित· अन्यथा मदाश्च ते कषायाश्चेति कर्मधारय-समासे कृते मत्यर्थीयसमासो न घटते "न कर्मधारयान्मत्वर्थीय" इति निषेधसूत्रदर्शनात्। तस्मात्कषायाणा तीव्रोदयाभावादनतानुबधिचतुष्टयस्य क्षयात् क्षयोपशमाद्वा मदकषायत्व सकेतित। मदकषायो अस्यास्तीति मदकषायी। अथवा मदा कषाया यस्मिन् कर्मणि तत् मदकषाय तदस्यास्तीति। य एव कषायान् मदान् करोति स एव इंद्रियाणामुपरि हतमोहो भवति। एव ज्ञात्वा कषायान् जित्वा शरीरेंद्रियविषयेषु हतमोहो भूत्वा परमात्मानमाराधयेत्यर्थ ॥३४॥

ननु अजितकषायस्य बाह्ययोगेनैव शरीरस्यापि सन्यास कुर्वाणस्य मुने या सल्लेखना सा किं विफला चेति वदत प्रत्याह-

**सल्लेहणा सरीरे बाहिरजोएहि जा कया मुणिणा।**
**सयलावि सा णिरत्था जाम कसाए ण सल्लिहदि॥३५॥**

सल्लेखना शरीरे बाह्ययोगै या कृता मुनिना।
सकलापि सा निरर्था यावत्कषायान्न सल्लिखति॥३५॥

भवतीत्यध्याहार्य व्याख्यायते। भवति। कासौ। **सा सल्लेहणा** सा सल्लेखना। कि भवति। **णिरत्था** निर्गत सकलक्षयमोक्षलक्षणोर्थ प्रयोजनो यस्या सा निरर्था निष्फला। कथभूतापि। **सयलावि** सकलापि समस्तापि सेति का। या। का या। या कृता। केन। **मुणिणा** मुनिना महात्मना। कै कारणभूतै।

---

इस गाथा मे जो मन्द कषायी शब्द है उसमे कर्मधारय समास नही होता है, अत यहाँ पर अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ रूप चार कषायो के क्षय और क्षयोपशम से होने वाले परिणाम को मन्दकषायी कहा है। जो मदकषायी होता है वही भव्यात्मा शरीर और इन्द्रिय-विषयो के प्रति हतमोह होता है, इन्द्रिय-विषयो का त्याग कर सकता है। ऐसा जानकर कषायो को जीतकर और शरीर और इन्द्रिय विषयो मे हतमोह होकर परमात्मा की आराधना करो। हे क्षपक ! शरीर का ममत्व और इन्द्रिय-विषयो की अभिलाषा कषाय-सल्लेखना की घातक है॥३४॥

जिन्होने कषायो को नहीं जीता है अर्थात् जो कषायो के आधीन है, परन्तु इन्द्रिय-विषयो का परित्याग करके सल्लेखना करता है, तो क्या उसको कुछ भी फल नही मिलता, ऐसा कहने वालों के प्रति आचार्य कहते हैं-

**जब तक कषायें स्खलित (मन्द) नही होती है तब तक मुनि के द्वारा बाह्य योग से की गई सारी शरीर-सल्लेखना विफल है, व्यर्थ है। ॥३५॥**

इस गाथा मे 'भवति' क्रिया का अध्याहार किया गया है।

सम्पूर्ण कर्म-धर्म से उत्पन्न ससार-सताप के विनाश मे कारणभूत, समता भाव मे स्थित शुद्धपरमात्मा मे सलीनता लक्षण मनोयोग है, उस मनोयोग से विलक्षण (मानसिक परिणति का आत्मस्वभाव मे लीन होना) शीत, उष्ण वायु का सहना, सूर्य की तरफ मुख करके बैठना, अनेक प्रकार

ननु यावत्कषायवान् क्षपक कषायान्न हति तावत्कि-किं न स्यादित्याह-

**जाम ण हणइ कसाए स कसाई णेव संजमी होइ।**
**संजमरहियस्स गुणा ण हुंति सव्वे विसुद्धियरा॥३७॥**

यावन्न हति कषायान् स कषायी नैव सयमी भवति।
सयमरहितस्य गुणा न भवति सर्वे विशुद्धिकरा ॥३७॥

अत्रान्वयक्रमेण व्याख्यान। **स कसाई** स पूर्वोक्तलक्षण क्षपक कषायीभूत सन् **जाव** यावत्काल **कसाए** कषायान् क्रोधादिलक्षणान् **ण हणइ** न हति न निराकरोति तावदित्यध्याहार 'यत्तदोर्नित्यसबधमितिवचनात्' **ताव** तावत्काल सजमी सयमी सयमयुक्त ण होइ न भवत्येव एवेत्यत्र निचयार्थे। कुत **संजमरहियस्स** सयमरहितस्य पुरुषस्य **सव्वे गुणा** सर्वे गुणा सम्यग्दर्शनादयो गुणा **विसुद्धियरा** विशुद्धिकरा परिणामशुद्धिकारिणो **ण हुति** न भवति अत परिणामशुद्धये कषायविजयेन सयममूरीकृत्य परमात्मानमाराधयत इति तात्पर्यम्॥३७॥

ननु भगवन् कषायेषु कि करणीय भवति मुनिभिस्तत्कृते कि फल स्यादिति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह-

**तम्हा णाणीहिं सया किसियरणं हवइ तेसु कायव्वं।**
**किसिएसु कसाएसु अ सवणो झाणे थिरो हवइ॥३८॥**

---

'जब तक कषायवान क्षपक कषायो का नाश नहीं करता है तब तक क्या नहीं होता ?' इस शका का निराकरण करते हुए आचार्य कहते हैं-

**जब तक यह ससारी जीव कषायो का नाश नहीं करता, तब तक वह कषायी, सयमी नहीं हो सकता और संयमरहित के विशुद्धि करने वाले सारे गुण प्रगट नही होते है॥३७॥**

जब तक यह क्षपक कषायो के वशीभूत है, क्रोधादि कषायो का निराकरण नहीं करता है तब तक सयमी नहीं बन सकता, क्योकि कषाये सयम का घात करती हैं। जो सयम रहित है उसके परिणामो को विशुद्ध करने वाले सम्यग्दर्शन आदि गुणो का प्रादुर्भाव नहीं होता अर्थात् वह क्षपक सम्यग्दर्शन आदि आराधनाओ का आराधक नहीं हो सकता इसलिए क्षपक को कषायो का विजयी होकर सयम को स्वीकार करना चाहिए और विशुद्ध भावो से निज शुद्धात्मा का ध्यान करना चाहिए॥३७॥

हे भगवन्! मुनियो को कषाय कृश करने चाहिए परन्तु कषायो को कृश करने से क्या फल प्राप्त होता है? ऐसा पूछने पर आचार्य कहते है-

**ज्ञानीजनो को प्रयत्नपूर्वक कषायो को कृश करना चाहिए। क्योकि कषायो के कृश होने पर ही मुनिराज ध्यान मे स्थिर हो सकते है॥३८॥**

तस्माद् ज्ञानिभि सदा कृषीकरण भवति तेषु कर्तव्यम्।
कृषितेषु कषायेषु च श्रमणो ध्याने स्थिरो भवति ॥३८॥

**तम्हा** तस्मात् कारणात् **णाणीहि** ज्ञानिभि विवेकिभि **तेसु** तेषु कषायेषु **सया** सदा सर्वकाल **किसियरणं** कृषीकरण स्वस्वरूपव्यवस्थापनेन परपदार्थप्रवर्तमानपरिणामपूरदूरीकरण **कायव्वं** कर्तव्य करणीय **हवइ** भवति **किसिएसु** कृषितेषु सज्वलनता गतेषु **कसाएसु** कषायेषु अ च सत्सु **झाणे** ध्याने परमात्मस्वरूपचिंताया धर्मशुक्ललक्षणे **सवणो** श्रमणो भट्टारको महात्मा विवेकी **थिरो** स्थिरो निश्चलात्मा **हवइ** भवति कषायकृषीकरणेन ध्यानस्थिरता विधाय परमात्मान चिंतयेति तात्पर्यम् ॥३८॥

सन्यस्ता कषाया: किं न कुर्वन्तीत्याह-

**सल्लेहिया कसाया करंति मुणिणो ण चित्तसंखोहं।**
**चित्तक्खोहेण विणा पडिवज्जदि उत्तमं धम्मं ॥३९॥**

सल्लेखिता कषाया कुर्वन्ति मुनेर्न चित्तसक्षोभम्।
चित्तक्षोभेन विना प्रतिपद्यते उत्तम धर्मम् ॥३९॥

**सल्लेहिया** सल्लेखिता सन्यस्ता परित्यक्ता **कसाया** कषाया **मुणिणो** मुनेर्महात्मन **चित्तसंखोहं** चित्तसक्षोभ मनोविक्षेप **ण करंति** न कुर्वन्ति **चित्तक्खोहेण विणा** चित्तक्षोभेण विना मनोविक्षेपरहितेन उत्तम

---

विवेकी महात्माओ को स्वस्वरूप मे स्थिरता लाने के लिए, आत्मध्यान के द्वारा निरन्तर परपदार्थो मे प्रवर्तमान परिणामो को दूर करने के लिए, विभाव भावरूप कषायो को कृश करना चाहिए। क्योकि कषायो के कृश होने पर वा सज्वलनता को प्राप्त होने पर श्रमण परमात्मा के स्वरूप के चितन रूप धर्मध्यान और शुक्लध्यान में स्थिर होता है। अर्थात् वास्तव मे, धर्मध्यान सज्वलन कषाय वाले के ही होता है, अन्य कषायवाले के नहीं।

हे क्षपक ! प्रयत्नपूर्वक कषायो को कृश करके ध्यान की स्थिरता को प्राप्तकर निज शुद्धात्मा का चिन्तन करो वा परमात्मा का ध्यान करो ॥३८॥

कृश हुई कषाये क्या नहीं करतीं, अर्थात् कषायो के कृश होने पर क्या फल प्राप्त होता है? ऐसा प्रश्न करने वाले के प्रति आचार्य कहते हैं-

**कृशित हुई कषाये मुनिराज (क्षपक) के चित्त को क्षोभित नही करती है और चित्त के क्षुभित न होने पर श्रमण उत्तम धर्म को प्राप्त होता है ॥३९॥**

जिसकी कषाये नष्ट हो गई है वा कृश होकर सज्वलन कषाय को प्राप्त हो गई हैं उस महात्मा का चित्त किसी भी कारण से क्षोभित नहीं होता है अर्थात् मन को विक्षिप्त करने वाली कषायो का अभाव हो जाने पर मन का क्षोभ नष्ट हो जाता है। तथा मन के क्षोभ का नाश हो जाने पर (मन के शात हो जाने पर)

**बाहिरजोएहि** बाह्ययोगै· अशेषकर्मधर्मजनितसतापविनाशहेतुभूतसाम्यविराजमानशुद्धपरमात्मसलीन-मनोयोगविलक्षणै· शीतातपवातोर्ध्वसस्थानादेशदानादिकायवाग्व्यापारनिरोधलक्षणैर्बाह्ययोगै । क्व। शरीरे। कियत्काल निरर्था स्यादित्याह। **जाव ण सल्लिहइ** यावन्न सल्लिखति यावन्न परित्यजति। कान्। **कसाए** कषायान् कषति विनाशयति। चारित्रपरिणाममिति कषायास्तान् मुनिना बाह्ययोगेन सा सल्लेखना कृता अंत· कषायपरिणामसद्भावात् सकला विफला सा भवतीति मत्वा निष्कषायत्व प्रपद्य परमात्मानमाराधयतेति तात्पर्यम्॥३५॥

ननु भगवन् कषायेषु का शक्ति एते जगत किं कुर्वन्तीति पृच्छत प्रत्याह-

**अत्थि कसाया बलिया सुदुज्जया जेहि तिहुअणं सयलं।**
**भमइ भमाडिज्जंतो चउगइभवसायरे भीमे॥३६॥**

अस्थि कषाया बलिन सुदुर्जया यैस्त्रिभुवन सकलम्।
भ्रमति भ्राम्यमान चतुर्गतिभवसागरे भीमे॥३६॥

**अत्थि** सत्यर्थे वर्तते। के। **कसाया** कषाया कथभूता। **बलिया** बलिन अनादिकर्मबधवशादनतशक्तेरात्मन स्ववशीकरणत्वात्, वीर्यवत इत्यर्थ । पुन कथभूता। सुदुर्जया चतुर्थगुणस्थानमारभ्योपशातकषायगुणस्थानावधिवर्तमानावस्थारणभूमौ मुनिमल्लैश्चिरस्वेच्छा-

---

के शारीरिक कष्टो को सहन करना, दान-पूजा आदि करना ये बाह्य योग हैं। इन बाह्य योगो के द्वारा जो मुनि स्वकीय शरीर का शोषण करता है, पचेन्द्रिय विषयो का त्याग भी करता है, परन्तु आन्तरिक भावों से कषायो को कृश नहीं करता है, उसकी सल्लेखना सार्थक (सकल कर्मो का क्षय करने रूप प्रयोजन को सिद्ध करने वाली) नही होती। क्योकि अतरग मे चारित्र की घातक, आत्मशुद्धि की विनाशक कषायो का सद्भाव होने से शुद्धात्मा का अनुभव और परमात्मा की आराधना नहीं हो सकती। इसलिए कषायो को कृश किये बिना बाह्य योग के द्वारा शरीर को कृश करना व्यर्थ है। ऐसा जानकर हे क्षपक! निष्कषायत्व भाव को प्राप्त करके परमात्मा की आराधना करो॥३५॥

'हे भगवन्! कषायो मे कैसी शक्ति है और ये जगत् का क्या करती हैं?' इस प्रकार का प्रश्न करने वाले शिष्य को आचार्य प्रत्युत्तर देते है-

**हे शिष्य! ये कषायें बहुत बलवान और दुर्जय हैं जिनके द्वारा भ्राम्यमान तीनो लोक भयंकर चार गति रूप संसार-सागर मे भ्रमण कर रहे हैं॥३६॥**

अनन्त शक्तियुक्त आत्मा को अनादि कर्मबध के कारण अपने वश मे करने वाली होने से कषाये बलवन्त हैं। अर्थात् अनन्त शक्ति वाला आत्मा अनादि काल से कषायो के वश हो रहा है।

चतुर्थ गुणस्थान से लेकर उपशात कषाय पर्यन्त गुणस्थान तक वर्तमान अवस्था रूप रणभूमि में मुनिराज रूपी महायोद्धा के द्वारा चिरकाल से स्वेच्छा से आचरण करने के अधीन होने से (अनादिकाल

चरणाधीनत्वान्निजविनाशशकामगणयत प्रतिसमय दृष्टश्रुतानुभूतपरपदार्थे प्रवर्तमान परिणाम सकोच्य पुन·पुन स्वस्वरूपस्थापनलक्षणेन दु खेन जेतु शक्या दुर्जया । तत्क्षणमनोविक्षेपकारित्वात् सुष्ठु अतिशयेन दुर्जया सुदुर्जया । नन्वादिमगुणस्थानत्रय तत्र कषायसद्भावेपि किमर्थं परित्यक्त श्रीमद्भिरितिचेत्। युक्तमुक्त। पर तत्रादिमगुणस्थानत्रयेपि कषायान् जेतुमनल त्रप्लवो जीवा तद्दृढतराधारस्वरूपप्ररूपणनिपुणमिथ्यात्वैका-तपत्रसाम्राज्यात् तत्पक्षक्षपणप्रतिपक्षतादक्षसम्यक्त्वदृढतरप्रौढेरभावाच्च। **जेहि** यै कषायै **भमाडिज्जंतो** भ्राम्यमान सन् **तिहुयणं** त्रिभुवन विश्व **सयल** समस्त **भमइ** भ्रमति पर्यटति। क्व। **चउगइ भवसागरे** चतुर्गतिभवसागरे देवनरतिर्यग्नरकगत्युपलक्षितससारसमुद्रे। कथभूते। भीमे रौद्रे विविधकर्मग्राहजनितदु खानुभवनत्वात् इति मत्त्वा क्षपकेण शुद्धपरमात्मान सिषेविषुणा दुर्जया कषाया एव पूर्वं तिरस्करणीया इति तात्पर्यार्थ ॥३६॥

---

से ये कषाये अपनी इच्छानुसार आचरण करने से) निज विनाश की शका को नहीं गिनती (मानती) हुई प्रतिक्षण अनादि काल से दृष्ट, श्रुत और अनुभूत पर-पदार्थों मे प्रवर्त्तमान परिणामो को सकुचित (रोक) कर के पुन पुन स्वस्वरूप मे स्थापन लक्षण से कठिनता से जीती जाती है।

अर्थात् चतुर्थ गुणस्थान से लेकर ग्यारहवे गुणस्थान तक बडी कठिनता से परपदार्थो मे जाने वाले परिणामो को रोककर अपने स्वरूप मे स्थापन करने पर ही कषायो पर यह जीव विजय प्राप्त कर सकता है, इसलिए ये कषाये दुर्जय हैं।

प्रतिक्षण मन को विक्षिप्त करने वाली होने से 'सु' अतिशय से जीतने योग्य होने से सुदुर्जय है।

**शंका** - प्रथम गुणस्थान से ही कषायो का सद्भाव है तो फिर तीन गुणस्थानो को छोडकर चतुर्थ गुणस्थान से लेकर उपशात कषाय तक (चतुर्थ गुणस्थान से ग्यारहवे गुणस्थान तक) कषायो को जीतने वाला क्यों कहा गया है?

**उत्तर** - आदि के तीन गुणस्थानो मे कषायो के दृढतर आधार के स्वरूप का निरूपण करने मे चतुर मिथ्यात्व का एकछत्र राज्य होने से और कषायो के पक्ष का नाश करने मे दक्ष सम्यग्दर्शन की दृढतर प्रौढता का अभाव होने से यह जीव आदि के तीन गुणस्थानो मे कषायो को जीतने मे समर्थ नहीं होता है। अर्थात् आदि के तीन गुणस्थानो मे कषायो के आधारभूत मिथ्यात्वरूपी राजा का एकछत्र राज्य है और कषायो के प्रतिपक्षी सम्यग्दर्शन का अभाव है इसलिए इन तीन गुणस्थानो मे कषायो को जीतने का सामर्थ्य नहीं है। चतुर्थ गुणस्थान से ही कषायो को पछाडने का सामर्थ्य आता है। इन कषायो के वशीभूत हुआ यह सम्पूर्ण लोक (तीन लोको मे स्थित अनन्तानन्त प्राणी) विविध प्रकार के कर्मरूप नक्र-चक्रो से भयकर चतुर्गतिरूप ससार में भ्रमण कर रहा है। जन्म-मरण के दु खो को भोग रहा है। इसलिए निज शुद्ध परमात्मा की आराधना वा प्राप्ति के इच्छुक क्षपक को सर्वप्रथम दुर्जय कषायो का तिरस्कार करना चाहिए। उनको जीतने का प्रयत्न करना चाहिए ॥३६॥

परमकोटिमारूढ धम्म धर्म स्वस्वरूपस्वभाव प्रतिपद्यते स कषायसन्यासी मुनि प्राप्नोति। स्वस्वरूपलाभाय भव्यै कषायसन्यासो विधेय इति रहस्य॥३९॥ एव कषायसल्लेखनानिर्देशस्वरूपकथनप्रपचेन गाथाषट्क।

गता कषायसल्लेखना। अधुना "सीयाई" इत्यादि गाथासप्तकेन क्रमायात च चतुर्थस्थलगत परीषहजय कारयति इति समुदायपातनिका।

तत्रादौ कति सख्या परीषहा किस्वरूपा निर्दिष्टा किं ते केन कर्तव्या इत्याह-

**सीयाई वावीसं परिसहसुहडा हवंति णायव्वा।**
**जेयव्वा ते मुणिणा वरउवसमणाणखग्गेण॥४०॥**

शीतादयो द्वाविंशति परीषहसुभटा भवति ज्ञातव्या ।
जेतव्यास्ते मुनिना वरोपशमज्ञानखड्गेन॥४०॥

**सीयाई** शीतादय शीत आदिर्येषा क्षुत्पिपासादीना ते शीतादय **वावीसं** द्वाविंशति द्वाविंशतिसख्योपेता **परिसहसुहडा** परीषहसुभटा परीषहा क्षुत्पिपासादिलक्षणा त एव सुभटा रणरगकुशलपुरुषविशेषाः शरीरपराभवकारणसामर्थ्यात्। ते किं कर्तव्या। **हवंति** भवति **णायव्वा** ज्ञातव्या स्वकीयावगमगोचरीकर्तव्या। कथमितिचेत्। भिक्षो शुद्धाहारान्वेषिण तदलाभे ईषल्लाभे च दुस्तरेय वेदना महाश्च कालो दीर्घहिति विषादमकुर्वतोऽकाले देशे च भिक्षामगृह्णत आवश्यकहानिं मनागप्यनिच्छत स्वाध्यायध्यानरतस्योदीर्णक्षुद्वेदनस्यापि लाभादलाभमधिक मन्यमानस्य क्षुद्बाधाप्रत्ययचितन **क्षुद्विजयः**॥१॥

---

मुनि परम कोटि को आरूढ (उत्तम) स्वस्वभाव रूप धर्म को प्राप्त होता है। अत मुमुक्षु भव्यो को स्वस्वरूप की प्राप्ति अथवा स्वात्मोपलब्धि के लिए कषायों को कृश करने का प्रयत्न करना चाहिए॥३९॥

इस प्रकार कषाय कृश करने का निर्देश करने वाली छह गाथाएँ पूर्ण हुईं। इस समय क्रम से प्राप्त शीतादि बावीस परीषहजय का सात गाथाओ द्वारा कथन करते है-

**ये शीतादि परीषह अति सुभट है, ऐसा जानकर मुनिराज को उत्कृष्ट उपशमभाव और ज्ञान रूपी तलवार के द्वारा उनको जीतना चाहिए॥४०॥**

ये शीत, क्षुत्-पिपासा आदि बावीस परीषह शरीर का पराभव करने में समर्थ होने से वा परीषह रूपी रणागण में कुशल पुरुष के द्वारा जीतने योग्य होने से ये सुभट हैं, महायोद्धा हैं, कायर वा विषयाभिलाषी पुरुष इन पर विजय प्राप्त नहीं कर सकते। ऐसे परीषह रूपी भटों को जानना चाहिए, ज्ञानगोचर करना चाहिए।

निर्दोष आहार का अन्वेषण (खोज) करने वाले मुनिराज आहार नहीं मिलने पर, वा अल्प आहार मिलने पर, अकाल और अयोग्य देश में आहार ग्रहण करने की भावना नहीं करते हैं। मनाक् (थोडा सा) भी स्वकीय षड् आवश्यक क्रिया करने मे आलस्य नहीं करते (षट् आवश्यक क्रियाओं की हानि नहीं करते हैं।) आहार नहीं मिलने पर - 'अहो ! यह क्षुधा वेदना दुस्तर है, कालदीर्घ है' इस प्रकार विषाद (खेद) नहीं करते हुए स्वाध्याय और ध्यान मे लीन होकर, लाभ से भी अलाभ को अधिक मानते हुए क्षुधा पर विजय प्राप्त करते हैं। भूखप्यास से आकुलित होकर स्वकीय क्रियाओं को नहीं छोडते हैं। उसको क्षुधापरीषह-विजयी कहते हैं॥१॥

अतीवोत्पन्नपिपासा प्रति प्रतीकारमकुर्वतो भिक्षाकालेऽपीगिताकारादिभिरपि योग्यमपि पानमप्रार्थयतो धैर्यप्रज्ञाबलेन **पिपासासहन** ॥२॥ शैत्यहेतुसन्निधाने तत्प्रतीकारानभिलाषस्य देहे निर्ममस्य पूर्वानुभूतोष्णमस्मरतो विषादरहितस्य सयमपालनार्थ **शीतक्षमा** ॥३॥ दाहप्रतीकाराकाक्षारहितस्य शीतद्रव्यप्रार्थनानुस्मरणोपेतस्य चारित्ररक्षण**मुष्णसहनं** ॥४॥ दशमशकादिभिर्भक्षमाणस्याचलितचेतस कर्मविपाक स्मरतो निवृत्तप्रतीकारस्य शस्त्रघातादिपरान्मुखस्य **दंशादिबाधासहन** ॥५॥ दशग्रहणेन सिद्धे मशकग्रहण सर्वोपघातोपलक्षणार्थं। स्त्रीरूपाणि नित्याशुचिबीभत्सकुणपभावेन पश्यतो यथाजातरूपमसस्कृतविकारमभ्युपगतस्य वैराग्यमापन्नस्य **नग्नमुत्तमं** ॥६॥

कुतश्चिदुत्पन्नामरति निवार्य धृतिबलात्सयमरतिभावनस्य विषयसुखरति विषसमान चितयतो दृष्टश्रुतानुभूतरतिस्मरणकथाश्रवणरहितस्यारतिपरीषहजयस्तेन चक्षुरादीना सर्वेषामरतिहेतुत्वात् पृथगरतिग्रहणम-

---

आहार करने के बाद अथवा उपवास आदि के कारण तीव्र प्यास उत्पन्न होने पर भी उसके प्रतिकार की इच्छा नहीं करते है तथा आहार के समय भी योग्य पानक (जलादि) की प्रार्थना नहीं करते हैं अपितु सतोष रूपी जल के द्वारा वा ज्ञान रूपी जल के द्वारा पिपासा को शात करते है उसको पिपासा परीषह विजयी कहते है ॥२॥

शीत के कारण शीतल वायु आदि का सन्निधान होने पर उस शीत का प्रतिकार करने की अभिलाषा नहीं करने वाले, पूर्व मे अनुभूत उष्ण वस्त्र आदि का स्मरण नहीं करने वाले और कितनी भी शीत की बाधा होने पर भी खेद-खिन्न नहीं होने वाले महामुनिराज के शीत परीषह विजयीपना प्राप्त होता है अर्थात् वे शीत परीषह विजयी होते हैं॥३॥

ग्रीष्म काल की प्रचण्ड गर्म वायु से जिसका शरीर झुलस रहा है, कण्ठ सूख रहा है और पित्त के द्वारा जिसके अतरग मे दाह उत्पन्न हो रहा है, फिर भी जो गर्मी से बचने का विचार नहीं करते अपितु आत्म-ध्यान रूपी शीतल गृह मे प्रवेश कर गर्मी की वेदना को शातिपूर्वक सहन करते है, उनके उष्ण परीषह-जय होता है ॥४॥

जो डॉस, मच्छर, चींटी, मक्खी, बिच्छू आदि के काटने से उत्पन्न वेदना को शातिपूर्वक सहन करते है, उनके दशमशक परीषह-जय होता है। दशमशक यह उपलक्षण मात्र है। इससे इसके सदृश शरीर को बाधा देने वाले सभी जीवो को ग्रहण करना चाहिए॥५॥

स्त्रियो के रूप को नित्य अशुचि, बीभत्स और शव भाव से देखने वाले असस्कारित यथाजात रूप को प्राप्त और ससार-शरीर एव भोगो से अत्यन्त वैराग्य भाव को प्राप्त मुनिराज के नग्न परीषह विजयत्व प्राप्त होता है। अर्थात् जो मुनि नग्नता के प्रति अपने मन मे किसी भी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होने देते वे नग्न परीषह विजयी होते है॥६॥

किसी कारण से उत्पन्न अरति को धैर्यबल से दूर करके, सयम मे रति (अनुराग) भाव मे तत्पर, विषयसुख को विष के समान चिन्तन करने वाले और देखे हुए, सुने हुए तथा अनुभूत विषयो के स्मरण,

युक्त कदाचित्क्षुदाद्यभावेपि कर्मोदयात्सयमे **अरतिरुपजायते** ॥७॥ स्त्रीदर्शनस्पर्शनालापाभिलाषादिनिरुत्सुकस्य तदक्षिवक्त्रभ्रूविकारशृगाराकाररूपगतिहासलीलाविजृभितपीन्तेन्नतस्तनजननोरुमूलकक्षानाभिनिरीक्षणादिभिरविकृत चेतसस्त्यक्तवशगीतादिश्रुते· **स्त्रीपरीषहजयः** ॥८॥

**देवादिवदनाद्यर्थ** गुरुणानुज्ञातगमनस्य सयमाविघातिमार्गेण गच्छतोऽटव्यादिषु सहायाननपेक्षस्य शर्करादिभिर्जातखेदस्यापि पूर्वोचितयानादिकमस्मरत**श्चर्यापरीषहजयः** ॥९॥ श्मशानादिस्थितस्य सकल्पितवीरासनाद्यन्यतमासनस्य प्रादुर्भूतोपसर्गस्यापि तत्प्रदेशाविचलतोऽकृतमत्रविद्यादिप्रतीकारस्य अनुभूतमृद्वास्तरणादिकमस्मरतश्चित्तविका-ररहितस्य **निषद्यातितिक्षा** ॥१०॥ स्वाध्यायादिना खेदितस्य विषमादिशीतादिसु भूमिषु निद्रा मौहूर्तिकीमनुभवत एकपार्श्वादिशायिनो ज्ञातबाधस्याप्यस्पदिनो व्यतरादिभिर्विशस्यमानस्यापि त्यक्तपरिवर्तनपलायनस्य शार्दूलादिसहितोऽय प्रदेशोऽचिरादतो निर्गम श्रेयान् कदा रात्र्य विरमतीत्यकृतविषादस्य मृदुशयनमस्मरत शयनादप्रच्यवत **शय्यासहन** ॥११॥ पर भस्मसात्

---

कथन और श्रवण से रहित मुनिराज के अरति परीषह-जय होता है। तथा चक्षु आदि के योग्य जितने भी पचेन्द्रियजन्य विषय हैं वे अरति का कारण होने से उनको पृथक् अरति ग्रहण करना युक्त नहीं है क्योकि कदाचित् क्षुधा आदि के अभाव मे भी कर्मोदय के कारण सयम मे अरति उत्पन्न हो सकती है। यहाँ पर पचेन्द्रिय विषयसुखो की अरति का ग्रहण नहीं है अपितु सयम मे अरति उत्पन्न नहीं होना ही अरति परीषहजय है ॥७॥

स्त्रियो के भ्रूविलास, नेत्रकटाक्ष, शृगार, आकार, रूप, गति, हास को, लीला से विजृभित पीन (स्थूल) स्तन, जघा, उरुमूल, काँख, नाभि आदि के देखने से जिनका चित्त विकृत नहीं है, स्त्रियों को देखना, स्पर्श करना, वार्तालाप करना आदि अभिलाषाओं से जिनका चित्त निरुत्सुक है अर्थात् स्त्रियों को देखने आदि की अभिलाषा जिनके मन मे नहीं है, जिनका मन सगीत आदि के सुनने से विरक्त है, जो कछुए के समान इन्द्रिय और मन का सयमन करते हैं उनके स्त्रीपरीषह-जय होता है ॥८॥

देववन्दना, तीर्थयात्रादि के लिए गुरुजनो की आज्ञा से देशकाल के अनुसार गमनागमन करते समय ककड, काँटे आदि के द्वारा उत्पन्न बाधा को तत्त्व के चिन्तन रूप पदत्राण से शातिपूर्वक सहन करते हैं। स्वकीय स्वभाव से च्युत होकर खेद-खिन्न नही होते है तथा पूर्व अवस्था मे भोगे हुए वाहन आदि का स्मरण नहीं करते हैं, उनके चर्या परीषह-जय होता है ॥९॥

जो मुनि श्मसान, वन, पर्वत, कन्दरा आदि मे निवास करते है और नियत काल पर्यन्त ध्यान के लिए निषद्या (आसन) को स्वीकार करते हैं, लेकिन देव, तिर्यंच, मनुष्य एव अचेतन कृत उपसर्ग आने पर भी जो अपने आसन से च्युत नहीं होते हैं, न पूर्व मे अनुभूत मृदु आसनादि का स्मरण करते हैं और न मन्त्रादिक के द्वारा ही किसी प्रकार के प्रतिकार की इच्छा करते है, उनके निषद्या परीषह-जय होता है ॥१०॥

मुनिराज ऊँची-नीची ककड बालू आदि से युक्त कठोर भूमि पर एक करवट से लकडी या पत्थर के समान निश्चल एक मुहूर्त तक निद्रा का अनुभव करते है। पसवाडे का परिवर्तन नहीं करते हैं, भूत-प्रेतादि-कृत उपसर्ग भी जिनके शरीर को चलायमान नहीं कर सकते तथा जो ऐसा विचार भी नहीं करते कि "यहाँ भूतप्रेतादि वा सिंहादि हिंसक प्राणी है, अत यहाँ से शीघ्र चल देना चाहिए या यह रात्रि कब समाप्त होगी?" तथा पूर्व मे अनुभूत मृदु शय्या का चिन्तन नहीं करते हुए शयन से च्युत नहीं होते। उनके शय्या परीषहजय होती है ॥११॥

कर्तुं शक्तस्याप्यनिष्टवचनानि शृण्वत· परमार्थावहितचेतस स्वकर्मणो दोष प्रयच्छतोऽनिष्टवचनसहन**माक्रोशजयः** ॥१२॥ चौरादिभि क्रुद्धे शस्त्राग्न्यादिभिर्मार्यमाणस्याप्युनुत्पन्नवैरस्य मम पुराकृतकर्मफलमिदमिति इमे वराका कि कुर्वन्ति शरीरमिद स्वयमेव विनश्वर दु खदमतैर्हन्यते **न** ज्ञानादिकर्म इति भावयतो **वधपरीषहक्षमा** ॥१३॥ **क्षुदध्व**-श्रमतपोरोगादिभि प्रच्यावितवीर्यस्यापि शरीरसदर्शनमात्रव्यापारस्य प्राणान्त्ययेप्याहारवसतिभेषजादीनभिधानमुखवैवर्ण्यांगसज्ञादिभिरयाचमानस्य **याचन**सहन ॥१४॥ एकभोजनस्य मूर्तिमात्रदर्शनपरस्यैकत्र ग्रामे अलब्ध्या ग्रामातरान्वेषणनिरुत्सुकस्य पाणिपुटपात्रस्य बहुदिवसेषु बहुषु च ग्रहेषु भिक्षामनवाप्यापि असक्लिष्टचेतसो व्यपगतदातृविशेषपरीक्षस्य लाभादप्यलाभो मे पर तप इति सतुष्टस्य **अलाभविजयः** ॥१५॥ स्वशरीरमन्यशरीरमिव मन्यमानस्य शरीरयात्राप्रसिद्धये व्रणलेपवदाहारमाचरतो जल्लौषधाद्यनेकतपोविशेषर्धियोगेपि शरीरनिस्पृहत्वात्

---

दूसरो को भस्मसात करने मे समर्थ होते हुए भी परमार्थ के चिन्तन मे लीन चित्त वाले मुनिराज, स्वकीय कर्मो के फल का विचार करके दुष्ट एव अज्ञानी जनो के द्वारा कथित असत्य, अनिष्ट वा कठोर वचनो को सुनकर हृदय मे रचमात्र भी कषाय नहीं करते हैं, खेद-खिन्न नहीं होते हैं। वे आक्रोश परीषह-जयी होते है ॥१२॥

क्रुद्ध हुए चोरादि कृत तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रों के प्रहार को सहन करते है, प्रहार करने वाले शत्रु पर द्वेष नहीं करते हैं अपितु यह विचार करते है कि यह मेरे पूर्व कर्मो का फल है तथा शस्त्रो के द्वारा दु खो के मूल कारण शरीर का विघात हो सकता है, ज्ञानपुज अविनाशी आत्मा का विघात त्रिकाल मे भी सभव नहीं है, उनके वध परीषहजय होती है ॥१३॥

भूख-प्यास, मार्ग-गमन की थकावट, तपश्चरण, रोग आदि के द्वारा क्षीण शक्ति हो जाने पर भी तथा एक बार भोजन के समय शरीर को दृष्टिगोचर कराना ही जिनका व्यापार है ऐसे मुनिराज कितना ही कष्ट आने पर वा प्राण निकलते भी दीन वचन, मुख-वैवर्ण्य, अगसज्ञा (इशारा) आदि के द्वारा भोजन, वसतिका, औषध आदि की याचना नहीं करते हैं, वे याचना परीषह विजयी होते है ॥१४॥

जो दिन मे एक बार भोजन करते है, भिक्षा के लिए जाने पर केवल श्रावक को अपना शरीर मात्र दिखाते हैं (शीघ्र ही आगे चले जाते है), बहुत काल तक श्रावक के घर के सामने खडे नहीं रहते हैं। एक ग्राम में आहार नही मिलने पर आहार के लिये ग्रामान्तर मे जाने की इच्छा नहीं करते है तथा हाथ ही जिनके पात्र है, दाता धनाढ्य है या दरिद्री है, इसकी अपेक्षा नहीं करते हैं। अनेक दिनो तक वा अनेक घरो मे भ्रमण करने पर भी यदि आहार का लाभ नहीं होता है तो स्वकीय मन मे किसी प्रकार का खेद नहीं करते है और भिक्षा के लाभ की अपेक्षा अलाभ को तप का हेतु समझकर सतुष्ट होते हैं, आनन्द का अनुभव करते हैं, वे अलाभ परीषह विजयी कहलाते है ॥१५॥

जो महात्मा स्व शरीर को अन्य के शरीर के समान समझते हैं। शरीर-यात्रा (शरीर की स्थिति) की प्रसिद्धि के लिए व्रण (घाव) पर लेप के समान आहार लेते हैं, आसक्तिपूर्वक नहीं और शरीर से अत्यन्त

व्याधिप्रतीकारानपेक्षिण फलमिदमनेनोपायेनानृणी भवामीति चिंतयतो रोगसहनं ॥१६॥ तृणगृहणमुपलक्षणं तेन शुष्कतृणपत्रभूमिकटकफलकशिलादिपु प्रासुकेष्वसस्कृतेपु व्याधिमार्गशीतादिजनित- श्रमविनोदार्थ शय्या निपद्या वा भजमानस्य गमनमकुर्वत शुष्कतृणपरुषशर्कराकटकनिशितमृत्तिकादिवाधितमूर्तेरुत्पन्नकडूविकारस्य दु ख मनम्यचिंतयतस्तृणस्पर्शसहनं ॥१७॥

रविकिरणजनितप्रस्वेदलवसलग्नपासुनिचयस्य सिध्माकच्छूदद्रूभृतकायत्वादुत्पन्नायामपि कंडूा कण्डूयनमर्दनादिर-हितस्य स्नानानुलेपनादिकमस्मरत स्वमलापचये परमलोपचये च प्रणिहितमनसो **मलधारणं** ॥१८॥

केशलुचासस्काराभ्यामुत्पन्नखेदसहन मलसामान्यसहनेऽतर्भवतीति न पृथगुक्त। सत्कार पूजाप्रशसात्मक पुरस्कार क्रियारभादिष्वग्रत करण चिरोषितब्रह्मचर्यस्य महातपस्विन स्वपरसमयज्ञस्य

---

निस्पृह होते हैं, शरीर मे अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होने पर भी रचमात्र भी व्याकुल नहीं होते है तथा सर्वोषधि, जल्लोषधि आदि अनेक ऋद्धियाँ उत्पन्न होने पर भी शरीर से निर्मोही होने से रोग के प्रतिकार की इच्छा नहीं करते वे निरन्तर विचार करते है कि "यह मेरे असाता कर्म का फल है, इस गेग के निमित्त से मैं कर्म के ऋण (कर्ज) से रहित हो रहा हूँ" ऐसी भावना से जो व्याधि से उत्पन्न आकुलता के अधीन नहीं होते हैं, वे रोग परीषह विजयी कहलाते हैं॥१६॥

तृणस्पर्श परीषह मे तृण शब्द उपलक्षण मात्र है, अत तृण शब्द से शुष्क तृण, कटक, शिला, कठोर मिट्टी आदि को ग्रहण करना चाहिए।

विना सस्कार किये हुए शुष्क तृण, पत्र, कठोर भूमि, कटक, फलक, शिलादि पर गमन करनेपर, और शीतादिजनित थकावट को दूर करने के लिए गमन नहीं करते हुए भी शयन वा बैठने रूप क्रिया करने पर शुष्क तृण, कठोर वालूरेत, तीक्ष्ण कटक, मिट्टी आदि के द्वारा शरीर के बाधित होने पर, खुजली आदि के उत्पन्न होने पर भी जो मन मे दु ख का अनुभव नहीं करते हैं उनको तृणस्पर्श सहन (तृणस्पर्श परीषह विजयी) कहते है॥१७॥

सूर्य की किरणो के लगने पर शरीर मे उत्पन्न पसीने की बूद में लगकर जमे हुए धूलि के समूह में दाद-खाज-खुजली के उत्पन्न होने पर भी खुजाल, मर्दन आदि नहीं करते हैं, पूर्व म अनुभूत स्नान अनुलेपन आदि का स्मरण नहीं करते हे और अपने मल के अपचय मे तथा दूसरे के मल के उपचयमे ध्यान नहीं देते हैं अर्थात् मेरे शरीर मे कितना मेल लगा है- वह कैसे दूर हो, दूसरे का शरीर कितना स्वच्छ है, आदि विचार नहीं करते हैं, वे मल परीषह विजयी होते हैं॥१८॥

केशलोंच करने में और उनका सस्कार नहीं करने मे उत्पन्न खेद को सहन करना मलसामान्य-सहन मे अन्तर्भूत हो जाता है अर्थात् केशलोच करना केशों में तेल आदि नहीं लगाने से खुजली आदि होती है उसको सहन करना ये मलपरीषहसहन में गर्भित हो जाते हैं अत उनका पृथक् कथन नहीं किया है।

पूजा, प्रशसा करने को सत्कार तथा किसी कार्य के आरम्भ में किसी को प्रधान बना देना पुरस्कार है। लोगों द्वारा सत्कार-पुरस्कार न दिये जाने पर जो मुनि ऐसा विचार नहीं करते कि- मै परम तपस्वी हूँ।

हितोपदेशकथामार्गकुशलस्य बहुतत्त्वपरवादिविजयिन. प्रणामभक्तिसभ्रमासनप्रदानादीनि न मे कश्चित् करोति वर मिथ्यादृश स्वसमयगतमज्ञमपि सर्वज्ञसभावनया सन्मान्य स्वसमयप्रभावना कुर्वन्ति व्यतरादय पुरात्युग्रतपसा प्रत्युग्रपूजा निवर्तयतीति यदि न मिथ्याश्रुतिस्तदा कस्मादस्मादृशा एते समयगता अनादर कुर्वन्ति इति प्रणिधानरहितचित्तस्य मानापमानयोस्तुल्यस्य **सत्कारपुरस्कार**परिषहजय ॥१९॥ अगपूर्वप्रकीर्णकविशारदस्य अनुत्तरवादिनो मम पुरस्तादितरे भास्करप्रभाभिभूतोद्योतखद्योतवन्नितरामवभासते इति ज्ञानमदनिरास **प्रज्ञापरीषहजय** ॥२०॥ अज्ञोऽय न किंचिदपि वेत्ति पशुसम इत्याद्यधिक्षेपवचन सहमानस्य सततमध्ययनरतस्य निवृत्तानिष्टमनोवाक्कायचेष्टस्य महोपवासाद्यनुष्ठायिनोद्यापि मे ज्ञानातिशयो नोत्पद्यते इत्यनभिसदधतो **अज्ञानपरीषहजयः** ॥२१॥ दुष्करतपोनुष्ठायिनो वैराग्यभावनापरस्य ज्ञातसकलतत्त्वस्य चिरतनव्रतिनो अद्यापि मे ज्ञानातिशयो नोत्पद्यते महोपवासाद्यनुष्ठायिना प्रातिहार्यविशेषा प्रादुरभूवन्निति प्रलापमात्रमनर्थिकेय प्रव्रज्या विफल व्रतपालनमित्येवमचितयतो **दर्शनविशुद्धियोगाददर्शनपरीषहसहनम्** ॥२२॥

---

अनेक बार मैंने वादियो को शास्त्रार्थ मे पराजित किया है, चिरकाल से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर रहा हूँ, स्वसमय एव परसमय का ज्ञाता हूँ और हित का उपदेश देने वाले कथामार्ग मे कुशल हूँ, अर्थात् हित का उपदेश देने मे कुशल हूँ फिर भी कोई मेरा आदर-सत्कार नहीं करते, मुझे प्रणाम नहीं करते, बैठने के लिये उच्चासनादि नहीं देते- ''मुझ से अच्छे तो वे मिथ्यादृष्टि साधु है जिनकी मिथ्यादृष्टि जीव सर्वज्ञ की सभावना से सम्मान करके अपने धर्म की प्रभावना करते है। जो ऐसा कहा जाता है कि उग्र तपस्या करने वालो की व्यतरादि देव पूजा करते हैं, यह सब झूठ है।'' हमारे धर्मावलम्बी हमारा अनादर क्यो करते है ? जिनके मान-अपमान मे तुल्य भाव है, जो कभी मान-सन्मान नहीं मिलने पर मलिनचित्त नहीं होते है, वे सत्कार-पुरस्कार परीषह विजयी कहलाते है॥१९॥

मै अगपूर्व और प्रकीर्णक का विशारद हूँ, अनुत्तरवादी भी मेरे सामने सूर्य की प्रभा से तिरस्कृत हुए खद्योत के समान प्रतिभासित होते है, इस प्रकार ज्ञान का मद नहीं करते है वे प्रज्ञापरीषह विजयी होते है॥२०॥ 'यह महामूर्ख है, कुछ भी नहीं जानता है, पशु के समान है', इत्यादि आक्षेप वचनो को सुनकर भी जो शातभाव धारण करते हैं, निरन्तर ध्यानाध्ययन मे लीन रहते हैं, जो अनिष्ट मन वचन कायकी चेष्टा से रहित हैं, मैं महोपवास आदि का अनुष्ठान करने वाला महातपस्वी हूँ फिर भी आज तक मुझे ज्ञान के अतिशयादि उत्पन्न नहीं हुए है; ऐसा विचार नहीं करते है वे अज्ञान परीषह विजयी होते हैं॥२१॥

'मै दुष्कर तप का अनुष्ठान करने वाला हूँ, वैराग्य भावना मे तत्पर हूँ, सकल तत्त्वो का ज्ञाता हूँ, चिरकाल से दीक्षित हूँ तथापि आज तक मुझे ज्ञानादि अतिशय उत्पन्न नहीं हुए है। शास्त्रो मे कथन है कि महोपवास आदि का अनुष्ठान करने वालो को प्रातिहार्य विशेष (महाऋद्धि आदि) उत्पन्न होते हैं। यह केवल प्रलाप मात्र है- वास्तविक नहीं है, यह दीक्षा व्यर्थ है, व्रतो का पालन करना निष्फल है।' दर्शनविशुद्धि के कारण इस प्रकार का चिंतन नहीं करने वाले साधु अदर्शन परीषह विजयी होते है॥२२॥ इस प्रकार इन बावीस परीषहो के स्वरूप को जानना चाहिए।

न केवल परीषहसुभटा ज्ञातव्या किंतु ते परीषहा **जेयव्वा** जेतव्या । केन। **मुणिणा** मुनिना। केन करणभूतेन। **वरउवसमणाणखग्गेण** वरोपशमज्ञानखड्गेन वरोपशमज्ञान एव रागद्वेषाभाव एव खड्गस्तेन। एतेन परीषहान् सर्वान् जित्वा क्षपक शुद्धात्मान ध्यायतीति रहस्य ॥४०॥

सन्याससग्रामागणे परीषहसुभटैर्निराकृता केचिद्धीनसत्त्वा शरीरसुख शरण प्रविशतीत्यादिशति-

**परिसहसुहडेहि जिया केई सण्णासआहवे भग्गा।**
**सरणं पइसंति पुणो सरीरपडियारसुक्खस्स ॥४१॥**

परीषहसुभटैर्जिता केचित् सन्यासाहवाद्भग्ना ।
शरण प्रविशति पुन शरीरप्रतीकारसुखस्य ॥४१॥

**परिसहसुहडेहि जिया** परीषहसुभटैर्जिता विनिर्जिता केचित् चारित्रमोहोदयेन प्रच्छादितवृत्ता रुद्रादयो मुनय **सण्णासाहवे** सन्यासाहवात् सर्वसगपरित्यागलक्षण सन्यास चरित्रानुष्ठान स एवाहव सग्राम ऋषभादिभिर्वीरपुरुषै समाश्रितत्वात् तत्सहदीक्षितचतु सहस्रनरेन्द्रादिकातरपुरुषै परित्यजनत्वात् सामान्यै श्रवणमात्रत्रासोत्पादकत्वात् नानानशनरसपरित्यागादिव्रतानुष्ठानकाडाद्यस्त्रै कायकदर्थनत्वात्, तस्मात्सन्याससग्रामात् **भग्गा** भग्ना पलायिता परीषहान् सोढुमशक्ताश्चारित्ररणभूमिं परित्यज्य गता इत्यर्थ । ततो नष्टास्ते क्व गच्छतीति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह। **सरीरपडियारसुक्खस्स** शरीरप्रतीकारसुखस्य शरीरस्य निजदेहस्य प्रतीकार प्रावरणभोजनादिविषयस्तदेव सुख तस्य **सरण** शरणमाश्रय पुन **पविसंति**

---

हे क्षपक ! इन बावीस परीषहो रूपी सुभटो को केवल जानना ही नहीं है, अपितु उत्कृष्ट उपशम भाव (रागद्वेष का अभाव) और सम्यग्ज्ञान रूपी तलवार के द्वारा इन परीषह रूपी भटो को जीतना चाहिए।

हे महात्मन् ! इन परीषहो की तरफ लक्ष्य नहीं देकर स्वकीय शुद्धात्मा का ध्यान करो। स्वकीय स्वरूप में लीन होकर अपने स्वरूप मे रमण करो ॥४०॥

कोई हीन शक्ति वाले क्षपक सन्यास रूपी सग्रामागण मे परीषह रूपी सुभटो के द्वारा तिरस्कृत होकर(वा भयभीत) होकर शरीरसुख की शरण मे जाते हैं उनको सबोधित करते हुए आचार्य आदेश देते हैं-

**संन्यास रूप रणभूमि को छोडकर रुद्रादि मुनि कहाँ गये थे? ऐसा पूछने पर आचार्य कहते है कि-शरीर का प्रतिकारक (उपकारक) वस्त्र-भोजनादि विषयसुख है, उस सुख की शरण में चले जाते हैं; सांसारिक सुख का आश्रय लेते हैं ॥४१॥**

पूर्व मे कोई प्राणी किसी कारणवश वैराग्य को प्राप्त कर सम्पूर्ण शरीर, इन्द्रिय-विषयजन्य सुख और पुत्रमित्र कलत्र (स्त्री) आदि परिवार को छोडकर ख्याति, पूजा, लाभ आदि इह लौकिक और स्वर्ग एव मोक्ष रूप पारलौकिक कमनीय (मनोज्ञ) सुख सम्पदा को देने वाली जैनेश्वरी दीक्षा (दिगम्बर मुद्रा) को धारण करते है। तथा उस दीक्षा मे कथित दुर्धर तप अनुष्ठान को देखकर भयभीत हो जाते हैं। अहो! हम इस दुर्धर तप का आचरण करने मे समर्थ नहीं हैं, ऐसा विचार कर वे देव, शास्त्र, गुरु और चतुर्विध सघ के समक्ष

प्रविशति गच्छति पूर्व तावत्किमपि वैराग्यमात्र प्राप्य समस्तदेहेद्रियविषयजन्यसुखपुत्रमित्रकलत्र परित्यज्य ख्यातिपूजालाभाद्यैहलौकिकस्वर्गापवर्गरूपपारलौकिककमनीयसुखसपत्तिदायिनीं जिनराजदीक्षा प्राप्ता ये तत्र दुर्धरतपोनुष्ठान विलोकयतो भीता वयमीदृशमाचरितुमक्षमा पुनस्ते देवशास्त्रगुरुचतुर्विधसघविद्यमानात्तप्रतिज्ञा परिहाय चतुर्गतिकससारकूपपतनभीतिमगणयत पुनरपि मनोवाक्कायकदर्थनसमर्थनानाविध-दु खजलसभारभरितकृषिवाणिज्यादिगृहव्यापारपारवारकल्लोल दोलायमाना क्वापि क्वापि पचेद्रियविषयजनितसुखजलगतस्थलेषु विश्रमति पुनरपि तत्फलेनानतससार पर्यटन्ति। एव चेतसि विज्ञाय ससारभीतिं चित्ते समारोप्य जिनराजदीक्षा नीत्वा देहममत्वपरिहारेण दुर्धरपरीषहजय कृत्वा परमात्मानमाराधयत इति तात्पर्यम् ॥४१॥

ननु परिषहसुभटै पराभूयमानो मुनि केनोपायेन तान् जयतीति पृष्ट सन्निमा भावाना सद्धेतुमतरगकरे कारयति-

**दुक्खाइं अणेयाइं सहियाई परवसेण संसारे।**
**इण्हं सवसो विसहसु अप्पसहावे मणो किच्चा ॥४२॥**

दु खान्यनेकानि सोढानि परवशेन ससारे।
इदानी स्ववशो विषहस्व आत्मस्वभावे मन कृत्वा ॥४२॥

---

ग्रहण की गई प्रतिज्ञा को छोडकर चतुर्गति रूप ससार-कूपपतन के भय को नही गिनते (समझते) हुए पुन मन वचन काय का कदर्थन करने मे समर्थ, नाना प्रकार के दु ख रूपी जल के समूह से भरे हुए, खेती-व्यापार आदि गृहस्थारभ रूपी समुद्र की कल्लोलो से तरगित, कहीं-कहीं पचेन्द्रियजन्य सुख रूप जलगत स्थल मे विश्राम लेते है अर्थात् जैनेश्वरी दीक्षा छोडकर गृहस्थारम्भ को स्वीकार करते है और उस सुख-स्वादन के फलस्वरूप अनन्त ससार मे भ्रमण करते हैं। हे क्षपक ! इन्द्रियसुख-स्वाद के कारण जीव ससार मे भ्रमण करता है, ऐसा मन मे विचार करके ससार से भयभीत हो, जैनेन्द्री दीक्षा ग्रहण करके, देह से ममत्व को छोडकर और दुर्धर परीषह रूपी शत्रुओ पर विजय प्राप्त करके परमात्मा की आराधना करनी चाहिए ॥४१॥

परीषह रूपी सुभटो के द्वारा पराजित वा तिरस्कृत हुए मुनि किस उपाय से उन परीषहो को जीतते है? ऐसा पूछने पर जिस भावना के बल से परीषहो को जीतते हैं उन भावनाओ को हेतु पूर्वक अतरग मे कराते है अर्थात् उन भावनाओ का कथन करके अतरग मे उतारने का प्रयत्न करते है-

**हे क्षपक ! हे आत्मन् ! तूने परवश (कर्मों के वश) होकर इस संसार मे अनेक दु.खों को सहन किया है। इस समय स्ववश हो आत्मस्वभाव मे मन को स्थिर करके कष्टो को सहन कर ॥४२॥**

भो आत्मन्, अस्मिन् ससारे भवे जन्मजरामरणपरिवर्तने **परवसेण** निजचिरदुरार्जितकर्मविपाकत्वादन्याधीनतावस्थाविशेषेण **अणेयाइ** अनेकानि चतुर्गतिषु सभवत्वेन घोरासुरोदीरिततिलमात्रगात्रकर्तनतप्ततैलकटाहावर्तनासिपत्रवनातरालवर्तनप्रज्वलितवालुकास्थलविहित-नर्तनपरस्परप्रक्षिप्तघातछेदनक्रकचविदारणातिभारारोपणबधदाहशीतोष्णयातदारिद्रपुत्रशोकप्रियावियोगनृ-पराभवसुतविहितद्यूतक्रीडादिदुर्व्यसनसभवपरपरमार्द्धि-दर्शनोद्भवमानसिकादिभेदात् अनेकभेदानि **दुक्खाइ** दु खानि। किंकृतानि। **सहियाइं** सोढानि त्वया अनुभूतानि आस्वादितानि सेवितानीतियावत्। **इण्हं** इदानीं सप्रति तपश्चरणावस्थाया **सवसो** स्ववश आत्माधीन सन् **अप्पसहावे** आत्मस्वभावे स्वस्वरूपे **मणो** मनश्चित्त **किच्चा** कृत्वा **विसहसु** विषहस्व विशेषेण सहस्व भो आत्मन् त्वमिह तपोनुष्ठाने हठात्केनापि न नियुक्तस्त्वमेव कुरु त्व स्वयमेव ससारशरीरभोगेषु विरज्य तपसि परायणो जातोसि अतस्तावकीना स्वाधीना प्रवृत्ति न पराधीनता क्वापीह। पूर्व तावदेव योनिषु ससारे पराधीनता गतेन स्वसामर्थ्याभावादनेकभेदानि दु खानि भुक्तानि अधुना हठग्राहितचारित्वात् स्ववश सन् शुद्धभावे मनो विधाय परीषहान् सहस्वेति भाव ॥४२॥

---

हे आत्मन् ! जन्म, मरण, बुढापा आदि से परिवर्तनशील इस ससार मे स्वकीय परिणामो से चिरकाल से उपार्जित कर्म विपाक के आधीन होकर (परवश होकर) चारो गतियो मे होने वाले अनेक दु ख सहन किये। अर्थात् नरक गति मे असुरो के द्वारा उदीरित घोर दु:ख-तिल-तिल के बराबर शरीर के टुकडे करना, तप्तायमान तेल की कडाई मे पकाना, गर्म कर लोहे की पुतली को चिपकाना, सेमर वृक्ष के पत्ते के गिरने से शरीर का विदारण, करोत से काटना आदि अनेक दु ख सहन किये। तिर्यंच गति मे अतिभार का ढोना, भूख-प्यास, शीत-उष्ण के दु ख सहन किये है। मनुष्य गति में दरिद्रता, पुत्र कलत्र आदि प्रिय वस्तु के वियोगजन्य, राजा के द्वारा पराभव, जुआ आदि सप्तव्यसनी पुत्रजन्य आदि दु ख सहन किये। देव गति मे अधिक वैभवशाली देवो को देखकर मानसिक दु खो को सहन किया है। हे आत्मन् ! तूने इस प्रकार कर्माधीन होकर चार गति रूप चौरासी लाख योनियो मे भ्रमण करके अनन्तानन्त दु खो को सहन किया है। अब इस समय तपश्चरण काल मे स्ववश होकर, अपने मन को आत्मस्वभाव मे स्थिर करके इन कष्टों को सहन करो।

हे आत्मन् (हे क्षपक)! किसी ने जबरदस्ती तुझे तपो अनुष्ठान (तपश्चरण) मे नियुक्त नहीं किया है। तुम स्वयमेव ससार, शरीर और भोगो से विरक्त होकर तप मे परायण (तत्पर) हुए हो। इसलिये तुम्हारी स्वाधीन वृत्ति है, किसी प्रकार की इसमे पराधीनता (जबरदस्ती) नहीं है।

हे आत्मन् ! अनादिकाल से इस ससार मे चौरासी लाख योनियो मे कर्मों की पराधीनता से, स्वसामर्थ्य के अभाव से शारीरिक मानसिक आदि अनेक प्रकार के दु खो को भोगा है, सहन किया है। इस समय तुमने स्ववश होकर स्वकीय इच्छा से व्रत अनुष्ठान, सन्न्यास धारण किया है, सन्न्यास स्वीकार किया है। इसलिए इस समय आत्मस्वभाव मे स्थिर होकर अपने मन को स्वमे लीन कर परमात्मा का ध्यान करो, आत्मस्वभाव का चिन्तन करो। किसी प्रकार से खेद-खिन्न नहीं होते हुए इन भूख आदि परीषहो को सहन करो ॥४२॥

तीव्रवेदनाक्रांतो यदि परमोपशमशालिनीं भावना करोषि तदा कर्माणि हतीत्याचष्टे-

**अइतिव्ववेयणाए अक्कंतो कुणसि भावणा सुसमा।**
**जइ तो णिहणसि कम्मं असुहं सव्वं खणद्धेण।।४३।।**

अतितीव्रवेदनाया आक्रान्त. करोषि भावना सुसमा।
यदि तदा निहसि कर्म अशुभ सर्वं क्षणार्धेन।।४३।।

**अइतिव्ववेयणाए** अतितीव्रवेदनया अतिशयेन तीव्रा कठोरा दुस्सहवेदना क्षुत्पिपासादिपरीषहसमुत्पन्न-मनोवाक्कायकदर्थनासातया **अक्कतो** आक्रात पीडित यदि त्व भो क्षपकपुरुष **सुसमा** सुसमा सुष्ठु अतिशयेन समा विग्रहादिषु ममेदमस्याहमित्याग्रहासग्रहीतपरिणामनिग्रहणेन रुग्जरादिविकृतिर्नि मेजसा सा तनोरहमित सदा पृथक् मिलितेपि सति खेऽविकारिता जायते न जलदैर्विकारिभिरित्यादिसूक्तिपरपराविचारिनीरपूरणरागद्वेषमोहसभवसमस्तविभावपरिणामसकल्पविकल्पलक्षण-जाज्वल्यमानाग्निनि शेषेणोपशम्य चित्तस्य चिद्रूप शुद्धपरमात्मनिस्थितिलक्षणा या सुसमा ता सुसमा **भावणा** भावना मुहुर्मुहुश्चेतसि अनित्याद्यनुप्रेक्षाचितनलक्षणा **जइ कुणसि** यदि करोषि **तो** तदा काले **असुह** अशुभ **सव्वं** सर्व **कम्मं** घातिकर्मचतुष्टयस्वरूप सर्वमशुभ कर्म **खणद्धेण** क्षणार्धेन अतर्मुहूर्तेन **णिहणसि** निहसि

'यदि तीव्र वेदना से आक्रान्त होकर भी परम उपशमशालिनी भावना करता है तो कर्मों का नाश करता है'- इसी बात को आचार्य कहते हैं-

**हे आत्मन्! यदि तुम तीव्र वेदना से आक्रान्त होकर सुसम (स्वात्मचितन) भावना करते हो तो आधे क्षण मे (बहुत कम काल मे) अशुभ कर्मों का नाश करते हो अर्थात् शीघ्र तुम्हारे कर्मों का नाश होगा।।४३।।**

हे क्षपक! भूख-प्यास आदि परीषह से उत्पन्न, मन-वचन-काय को कदर्थन (पीडित) करने वाली तीव्र असाता वेदनीय कर्म से पीडित हुआ तू सम्यग् भावना कर और शरीरादिक पदार्थो मे 'ये मेरे है, मै इनका हूँ' इस प्रकार के विचारो से सगृहीत परिणामो का निग्रह कर। वास्तव मे रोग बुढापा आदि विकृति मेरी नहीं है, ये शरीर के विकार है, मै शरीर रहित हूँ, शरीर से भिन्न हूँ। विकारी बादलो के द्वारा एकक्षेत्र अवगाही होने पर भी नभस्थल विकारी नही होता है, उसी प्रकार शरीर के साथ एकक्षेत्रावगाही होने पर भी यह शरीर आत्मा को विकृत नही कर सकता, आत्म स्वभाव का नाश नहीं कर सकता। इत्यादि विचार रूप जल से अनादिकालीन राग द्वेष मोह से उत्पन्न सारे विभाव परिणाम सकल्प, विकल्प लक्षण जाज्वल्य मान अग्नि को विशेष रूप से शात करके चित्तको शुद्ध चिद्रूप परमात्मा मे स्थिर कर। शुद्ध आत्मभावना मे लीन हो।

हे क्षपक! बार-बार अनित्यादि बारह अनुप्रेक्षाओ का चिंतन करो। इस प्रकार के चिंतन से सर्व अशुभ घातिया कर्मो का अन्तर्मुहूर्त मे नाश करेगा। अर्थात् शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न वीतराग भावो मे स्थिर हो जाने पर चार घातिया कर्मो का नाश कर शीघ्र ही केवलज्ञान का स्वामी होगा।

क्षपयसि यावदत्र रागद्वेषोत्पादकेष्विष्टानिष्टशुद्धपरमात्मपदार्थनिरतरचिंतनानुरागबलेन सुसमा भावना न करोषि तावत् कर्माणि क्षपयितु परीषहजनिततीव्रवेदना सोढु च न शक्नोषि। एव ज्ञात्वा परीषहदु खेषूत्पद्यमानेष्वपि परमात्मनि भावना कर्तव्या इति ॥४३॥

ननु परीषहान् सोढुमशक्नुना ये अनेकभवगहनदु खनिर्घाटनसमर्थ ग्रहीत चारित्र परित्यजति तेषामिह लोके परलोके च कि फलमिति तदाह-

**परिसहभडाण भीया पुरिसा छंडंति चरणरणभूमी।**
**भुवि उवहासं पविया दुक्खाणं हुंति ते णिलया॥४४॥**

परीषहभटेभ्यो भीता पुरुषास्त्यजति चरणरणभूमिम्।
भुवि उपहास प्राप्ता दु खाना भवति ते निलया ॥४४॥

ये केचित् **परिसहभडाण** परिषहभटेभ्य परीषहा एव भटा शरीरेण शीतातपतापादिकठोरघातपानकत्वात् तेभ्यो **भीया** भीता· स्वस्वभावादन्य-मनस्कता नीता **पुरिसा** पुरुषा **चरणरणभूमी** चरणरणभूमिं चरण चारित्र तदेव रणभूमि सग्रामभूमि व्रतसमितिगुप्तिप्रभृतिसैन्यपरिग्रहप्रवर-विजृभमाणप्रभुत्वेन स्वरूपावस्थानसाम्राज्यभाज्यात्मनृपेण निर्बाधभेदबोधासिना अनादिकामक्रोधमोहादिसैन्यशालिना कर्मारीणा विध्वसत्वात् ता रणभूमि **छडंति** परित्यजति मुचति। ते कथभूता भवतीत्याह। भुवि इहलोके **उवहास** उपहास्य सज्जनाना म्लानीकरणकारणदुर्जनजनज-नितधिक्कारागुलिप्रसरपरस्परभ्रूविकाराविष्करणलक्षण **पाविय** प्राप्ता । परलोके च किविशिष्टा। **हुति** भवति

---

हे क्षपक ! हे आत्मन् ! शुद्धात्मा के चिंतन के बल से रागद्वेष-उत्पादक इष्ट और अनिष्ट पदार्थो मे सुसमा भावना नहीं करता है, शरीर से भिन्न आत्मभावना नहीं करता है, तब तक कर्मों को क्षय करने के लिए ओर परीषह-जनित तीव्र वेदना को सहन करने मे समर्थ नहीं हो सकता। ऐसा जानकर परीषह दु ख के उत्पन्न होने पर आत्म भावना करनी चाहिए ॥४३॥

जो क्षपक परीषहो को सहन करने मे समर्थ नहीं है और जो अनेक भव के गहन दु खो को नाश करने में समर्थ ऐसे ग्रहण किये हुए चारित्र को छोड देते हैं, ऐसे क्षपक को इस लोक में और परलोक मे क्या फल मिलता है? ऐसा पूछने वाले के प्रति आचार्य कहते है-

**''जो पुरुष परीषहरूपी भटों (योद्धाओं) से भयभीत होकर चारित्ररूपी रणभूमि को छोड़ देते हैं वे इस भूमि पर (इस लोक मे) हँसी के पात्र होते हैं और परलोक में दु खो के पात्र बनते है॥४४॥**

शरीर के द्वारा शीत, उष्ण, भूख-प्यास आदि के घातक होने से, दुख देने वाले होने से परीपहो को भट (योद्धा) कहा है। जहाँ पर व्रत, समिति, गुप्ति आदि सैन्य के ग्रहण करने से जिसका प्रभुत्व बढ़ रहा है, ऐसा स्वस्वरूप में स्थिरतारूप साम्राज्य का भोक्ता आत्मा रूपी राजा, निर्बाध भेद विज्ञान रूपी तलवार के द्वारा , क्रोध, मोहादि सेना का स्वामी कर्म रूपी शत्रुओं का विध्वस करता है इसलिए चारित्र को

अलकार है। इसमे परीषहों को योद्धाओं की उपमा दी हे और चारित्र को सग्राम-
योद्धाओ से भयभीत होकर जो राजा रणभूमि छोड़कर भाग जाता हे, वह हास्य का
स्थान होता है उसी प्रकार जो क्षपक परीषह रूपी योद्धाओ से भयभीत होकर

दु·क्खाण दु खाना अनतससार-सभवसकलाकुलत्वोत्पादकत्वात्मकलक्षणाना **णिलया** निलया स्थानानि तद्रूपवस्तुसमाश्रयत्वात् ते चारित्रभोक्तार भवति यस्मादेव तस्मादिहलोकफलहानिमवलोक्य मा चारित्र त्यजतु मुनय परिणामपरावर्तनतया तत्क्षणविध्वसत्वात् किं मे परीषहवराका करिष्यति इति दृढतर चित्त विधाय परीषहदु खमवगणय्य शुद्धपरमात्मान भावयेति तात्पर्यम्॥४४॥

अथ गाथाया पूर्वार्धेन यदि परीषहेभ्यो भीतस्तदा गुप्तित्रयमेव दुर्गमाश्रय अपरार्धेन च मोक्षगत मनोवाण विधेहीति शिक्षयति-

**परिसहपरचक्कभिओ जइ तो पइसेहि गुत्तितयगुत्तिं।**
**ठाणं कुण सुसहावे मोक्खगयं कुणसु मणवाणं॥४५॥**

परीषहपरचक्रभीतो यदि तदा प्रविश गुप्तित्रयगुप्तिम्।
स्थान कुरुष्व स्वस्वभावे मोक्षगत कुरुष्व मनोवाणम्॥४५॥

---

चारित्ररूपी रणभूमि को छोड देता है, चारित्र का नाश करता है, वह इस लोक मे सज्जनो के मध्य उपहास का पात्र बनता है और दुर्जन जनो के द्वारा अगुली उठाकर बताना, भ्रू विकार, अपशब्द और धिक्कार का पात्र होता है। अर्थात् इस लोक मे मानव इसका तिरस्कार करते हैं, इसे अपशब्द कहते है और धिक्कार देते हैं। चारित्र का घात करने वाला परलोक मे अनन्त ससार के कारणभूत आकुलता-उत्पादक अनन्त दु·खो का भोक्ता बनता है। चारित्र आत्मा का गुण है अत. चारित्रधारी मानव अनन्त सुख का भोक्ता बनता है। इसलिए चारित्र के घात से होने वाली 'इस लोक मे अपयश और पर-लोक मे अनन्त दु खो की पात्रतारूप' हानि को देखकर मुनिगण चारित्र को नहीं छोडे। परिणाम के परिवर्तन से क्षणध्वसी होने से यह परीषह मेरा क्या करेगी। अर्थात् परीषह का अनुभव उपयोग से होता है, उपयोग पलट जाने पर बेचारी परीषह कुछ नहीं कर सकती। ऐसा विचार कर अपने चित्त को दृढ कर के परीषह सम्बन्धी दु खो की तरफ लक्ष्य न देकर शुद्ध परमात्मा की भावना भानी चाहिए, शुद्धात्मा का ध्यान करना चाहिए। क्योकि शुद्धात्मा का ध्यान ही ससार-दु खो का नाशक है ॥४४॥

**अथ**-गाथा के पूर्वार्ध मे कहा है कि यदि आत्मन्! तू परीषह रूपी भटो (योद्धाओ) से भयभीत है तो तीन गुप्तिरूपी किले का आश्रय ले। अपर आधीगाथा से कहा है कि अपने मन रूपी बाण को मोक्षस्थान में कर, मोक्ष मे लगा। ऐसी आचार्यदेव शिक्षा देते है-

**हे क्षपक! यदि तुम परीषह रूपी परचक्र से भयभीत (आकुलित) हो तो तीन गुप्ति रूपी दुर्ग (किले) मे प्रवेश करो। तथा अपने निज स्वभाव मे स्थान करो, स्थिरता करो और मन रूपी बाण को मोक्षगत करो। अर्थात् मन का लक्ष्य मोक्ष ही होना चाहिए॥४५॥**

स्वकीयशुद्धपरमात्मन स्वभाव परमानदमय स एव जल पानीय सहजशुद्धचैतन्यनिर्विकारमात्मस्वरूपमेघजन्यत्वात् तेन प्रसिक्त अभिषिक्त कि करोति। **अवियप्पो** अविकल्पो भूत्वा **णिव्वाणं** निर्वाण परमाह्लादलक्षण लभते प्राप्नोति। यथा कश्चन दावाग्निना दह्यमान सन् सरोवर प्रविशति तत्र जलेन प्रसेव्यमान शैत्य प्राप्नोति तथासौ परीषहदावाग्निना दह्यमानो ज्ञानसरोवरमवगाह्य निर्वाण प्राप्नोतीति तात्पर्यं ॥४६॥ एतेन परीषहजय व्याख्यायाधुना क्रमायातमुपसर्गसहनमितीद पचमस्थल गाथाभि प्रथयति।

तत्र यदि कथमपि मुनेर्दु खजनका उपसर्गा भवति तदा तेन ते कि कर्तव्या भवतीत्याह-

**जइ हुंति कहवि जइणो उवसग्गा बहुविहा हु दुहजणया।**
**ते सहियव्वा णूणं समभावणणाणचित्तेण ॥४७॥**

यदि भवति कथमपि यतेरुपसर्गा बहुविधा खलु दु खजनका ।
ते सोढव्या नून समभावनाज्ञानचित्तेन ॥४७॥

यतेर्मुनीश्वरस्य **कहवि** कथमपि पुरा दुरर्जितकर्मोदयेन **बहुविहा** बहुविधा दुहजणया दु खजनका दु खोत्पादका **उवसग्गा** उपसर्गा उपद्रवलक्षणा **जइ हुति** यदि ... कर्तव्या । **सोढव्वा** सोढव्या नून अगीकर्तव्या । केन। मुनिना। कि

ये
शीतातपतापादि
**चरणरणभूमी** च
विजृभमाणप्रभुत्वे
अनादिकामक्रोधमोहा...
कथभूता भवतीत्याह।
नितधिक्कारागुलिप्रसरपरस्प...

---

हे क्षपक ! हे आत्मन् !
भावना नहीं करता है, शरीर से ...
परीषह-जनित तीव्र वेदना को सहन
आत्म भावना करनी चाहिए ॥४३॥
जो क्षपक परीषहों को सहन ...
मे समर्थ ऐसे ग्रहण किये हुए चारित्र को
मिलता है? ऐसा पूछने वाले के प्रति आच...
**"जो पुरुष परीषहरूपी भटों (यो...**
**हैं वे इस भूमि पर (इस लोक मे) हँसी**
शरीर के द्वारा शीत, उष्ण, भूख ...
(योद्धा) कहा है। जहाँ पर व्रत, समिति, गु...
स्वस्वरूप में स्थिरतारूप साम्राज्य का भोक्ता
अनादिकालीन काम, क्रोध, मोहादि सेना का ...
सग्रामभूमि कहा है।
इस गाथा में रूपक अलकार ...
भूमि कहा है। जिस प्रकार योद्धाओ से ...
पात्र बनता है और दु खो का स्थान होत...

विशिष्टेन। **समभावणणाणचित्तेण** समभावनज्ञानचित्तेन दु खे सुखेऽमित्रे मित्रे वने भवनेऽलाभे काचे सुवर्णे समाना भावना समभावना प्रोच्यते। कस्मात्। तदवस्थाया रागद्वेषयोरभावात्। समभावनाया यत्स्वसवेदनज्ञान समभावनज्ञान चित्ते यस्यासौ समभावनज्ञानचित्त तेन समभावनज्ञानचित्तेन। तथा चोक्त ज्ञानार्णवे-

**सौधोत्संगे श्मशाने स्तुतिशपनविधौ कर्दमे कुंकुमे वा,**
**पल्यंके कंटकाग्रे दृषदि शशिमणौ चर्म चीर्णाशुकेषु।**
**शीर्णांगे दिव्यनार्यामशमनमवशा स्वस्य चित्तं विकल्पै-**
**र्नालीढं सोयमेकः कलयति कुशलः साम्यलीलाविलासम्॥**

ततो नानाविधेषु घोरोपसर्गेषु उपढौकितेषु सत्स्वपि मुमुक्षुणा मुनिना निजचिरदुरर्जितकर्मविपाक बुद्धा निरुपद्रवशुद्धपरमात्मस्वसवेदनज्ञानभावनाबलेन शरीरे ममता परिहाय समतामवलब्य स्थातव्यमिति-तात्पर्यम्॥४७॥

**णाणमयभावणाए भावियचित्तेहिं पुरिससीहेहिं।**
**सहिया महोवसग्गा अचेयणादीय चउभेया॥४८॥**

ज्ञानमयभावनया भावितचित्तै पुरुषसिहै ।
सोढा महोपसर्गा अचेतनादिका चतुर्भेदा ॥४८॥

---

पूर्व मे उपार्जन किये हुए कर्मो के उदय से सचेतन, अचेतन आदि अनेक प्रकार के दु खजनक उपसर्ग आते हैं तो मुनीश्वरो को शत्रु मे, मित्र मे, सुख मे, दु ख मे, वन मे, भवन मे, लाभ मे, अलाभ में, काच मे और सुवर्ण मे समभावना (समान भावना) ज्ञान वा स्वसवेदन ज्ञान से अनुरजित चित्त से (वा) रागद्वेष के अभाव से उन उपसर्गों को सहन करना चाहिए। सोही **ज्ञानार्णव** मे कहा है-

ऊँचे-ऊँचे महल और मसान मे, स्तुति करने पर और गाली देने पर, कीचड मे और केशर मे, पलग मे और कटक के अग्र भाग मे, पत्थर मे और चन्द्रकान्त मणि मे, चर्म वस्त्र मे और रेशमी वस्त्र मे, जीर्ण शीर्ण शरीर वाली स्त्री मे और दिव्य देवागना सम सर्वाग सुन्दरी मे समता के अभाव मे चित्त अनेक प्रकार के विकल्पो से आलीढ नही हुआ है। अर्थात् जिस प्राणी का मन समता रस से अभिषिक्त है, सुख-दु ख, शत्रु-मित्र आदि विकल्पो से रहित है, वही एक कुशल क्षपक ज्ञानी महापुरुष साम्यभाव की लीला के विलास को प्राप्त कर सकता है और उपसर्गो को सहन कर सकता है, उपसर्ग विजयी हो सकता है।

इसलिए नाना प्रकार के घोरोपसर्ग आने पर भी मुमुक्षु मुनिराज को 'ये उपसर्ग मेरे पूर्वोपार्जित दुष्कर्मोका विपाक है' ऐसा समझकर निरुपद्रव शुद्ध परमात्म स्वसवेदन ज्ञान भावना के बल से, शरीर की ममता का परित्याग करके और समता का अवलम्बन लेकर सहज शुद्ध आत्मस्वभाव मे लीन होना चाहिए।

'ज्ञान भावना से क्या करना चाहिए' ऐसा पूछने पर आचार्यदेव कहते है-

**''ज्ञानमय भावना से भावित (अनुरंजित) चित्त वाले पुरुषसिह (श्रेष्ठ पुरुष) के द्वारा अचेतन आदि चार भेद वाले महा उपसर्गों (उपद्रवो) को सहन करना चाहिए॥४८॥**

भो क्षपक **पइसेहि** प्रविश **तो** तदा **जइ परिसहपरचक्कभिओ** यदि परीषहपरचक्रभीत कर्मनिर्जरार्थ मुनिभि परित· सर्वप्रकारेण सह्यत इति परीषहा परीषहा एव परचक्र शत्रुसैन्य परीषहपरचक्र तस्माद्भीत. साध्वसाक्रात परीषहपरचक्रभीत· यदि त्व दु सहपरीषहवैरिवीरजनित-भीतिचलितचित्तोसि तदा प्रविश। क **गुत्तितयगुति** गुप्तित्रयगुप्ति गोपन गुप्ति मनोवाक्कायाना सम्यग्निग्रहो गुप्ति गुप्तीना त्रय गुप्तित्रय गुप्तित्रयमेव गुप्ति परीषहशत्रूणामगम्य दुर्गं चिच्चमत्कारमात्रपरमब्रह्मलक्षण। अत्र मनो-वचनकायगुप्तिकारण परमसमयसारानुचितनमेव। यदुक्त-

**अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पैरयमिह परमार्थश्चित्यतां नित्यमेक:।**
**स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रन्न खलु-समयसारादुत्तर किंचिदस्ति।।**

तथा **ठाणं कुण सुसहावे** पुनरपि कुरुष्व। कि तत्। स्थानमवस्थान। कस्मिन्। स्वस्वभावे सहजशुद्धचिदानदैकस्वभावे निजात्मनि। मुहु शिक्षा यच्छन्नाह। **मोक्खगयं कुणसु माणवाणं** कुरुष्व। क।

---

मोक्षमार्ग (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र) से च्युत न होने के लिए और कर्मों की निर्जरा के लिए महर्षियो के द्वारा जो सहन की जाती है, वह परीषह कहलाती है।

परीषह परचक्र (शत्रु का समूह) है। परीषह रूपी परचक्र से भयभीत हुए, हे क्षपक! तू तीन गुप्ति रूपी दुर्ग में प्रवेश कर। अर्थात् जो मानव परचक्र से भयभीत होकर दुर्ग का आश्रय लेता है वह शत्रु को जीत लेता है, वैसे ही परीषह से भयभीत को तीन गुप्ति रूपी दुर्ग का आश्रय लेना चाहिए। जैसे किले का आश्रय लेकर जो अपने स्थान पर शत्रु का लक्ष्य लेकर बाण चलाता है, वह विजय को प्राप्त होता है उसी प्रकार क्षपक! तुम भी तीन गुप्ति रूपी दुर्ग का आश्रय लेकर, स्वरूप मे स्थिर होकर मन रूपी बाण को मोक्ष मे लगाओ अर्थात् कर्मशत्रुओ का भेदन करो।

इस गाथा मे रूपक अलकार है और उपमा-उपमेय भाव है। परीषह को शत्रु की सेना कहा है। परीषह से मन चचल होता है, जैसे शत्रुसेना को देखकर मानव भयभीत होता है और चारित्र रूपी सग्राम-भूमि को छोडना चाहता है। उन परीषह रूपी शत्रुओ से भयभीत क्षपक को सम्बोधित करते हैं कि हे आत्मन्! यदि तू दु सह परीषह रूपी शत्रुओ से भयभीत है तो परीषह रूपी शत्रुओ के द्वारा अगम्य मन, वचन, काय रूप तीनो योगो का सम्यक्प्रकार से निरोध करने रूप तीन गुप्ति रूपी किले मे प्रवेश कर। वा चिच्चमत्कार मात्र परम ब्रह्म लक्षण तीन गुप्ति रूप दुर्ग का आश्रय ले। वा मन, वचन, कायरूप तीन गुप्ति-कारणभूत परम समयसार का चिन्तन कर। **सो ही समयसार कलश मे अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है-**

अत्यधिक दुर्विकल्प के बोलने से क्या प्रयोजन है, अल-अल (उन विकल्पो की चिता छोडो)। नित्य एक परमार्थ का ही चिन्तन करो। स्वकीय रस से परिपूर्ण ज्ञान से विस्फूर्त मात्र समयसार से अन्य दूसरी कोई वस्तु नहीं है। सर्व कल्याणकारी समयसार (परमशुद्ध चिन्मात्र चैतन्य) का चिन्तन ही सर्वोपरि है।

आचार्यदेव बारम्बार शिक्षा देते हुए कहते है कि हे आत्मन्! सहज शुद्ध चिदानन्द एक स्वभाव निज आत्मा मे स्थान करो, रमण करो। अपने आपको स्थिर करो और स्वकीय मन रूपी बाण को, सकल

मनोवाण। मनश्चित्त तदेवातिचचलत्वाद्वाण शर मनोवाणस्त मनोवाण। कीदृश कुरुष्व। मोक्षगत सकलकर्मविप्रमोक्षो मोक्षस्तत्र गत स्थित मोक्षगत त मोक्षगत अनतसुखपदप्रतिष्ठित निजमनो विधेहि। परीषहादिवैरिव्रातजनितातक हित्वेति भावार्थ । यथा कश्चिच्छूर तनुत्राणेन तनु परिवेष्य वै शाखादिस्थान विरचयित्वा वाण मोक्षगत विसर्गगत कुरुते तथा॥४५॥

परीषहदवदहनतप्तो यदि ज्ञानसरोवरे प्रविशति जीवस्तदा कि लभते इत्यावेदयत्याचार्य·-

**परिसहदवग्गितत्तो पइसइ जइ णाणसरवरे जीवो।**
**ससहावजलपसित्तो णिव्वाणं लहइ अवियप्पो॥४६॥**

परीषहदवाग्नितप्त प्रविशति यदि ज्ञानसरोवरे जीव ।
स्वस्वभावजलप्रसिक्तो निर्वाण लभते अविकल्प ॥४६॥

**परिसहदवग्गितत्तो** परीषहदवाग्नितप्त उक्तलक्षणा परीषहास्त एव दवाग्नि क्षुत्पिपासादिभि शरीरसतापजनकत्वात् तेन तप्त सन् **जीवो** जीव आत्मा **णाणसरवरे** ज्ञानसरोवरे अमीभि परीषहैर्यद्बाध्यते तदह न भवामि योऽह स परीषहलेशैरपि स्पृष्टुमपि न शक्य । शरीरात्मनोरत्यतमतरमिति लक्षितत्वादित्यादि भेदज्ञान तदेव सरोवर तत्तापापोहाय मोहापोहिभिरवगाहितत्वात् **जइ पविसइ** यदि प्रविशति यदि प्रवेश करोति तदा। किं भवतीत्याह। **ससहावजलपसित्तो** स्वस्वभावजलप्रसिक्त तत्र स्वस्वभाव

---

कर्म से रहित एव अनन्त सुख पद मे स्थित मोक्ष पद मे लगावो। अर्थात् परीषहो रूपी वैरियो के समूह से उत्पन्न आतक (मनोविकार) को छोडकर अपने मनको मोक्षमार्ग मे स्थिर करो। जैसे कोई शूरवीर योद्धा तनुत्राण (कवच) से अपने शरीर की रक्षा करके (कवच को पहनकर) शत्रु पर बाण छोडता है और शत्रु के बाण को सहन करता है उसी प्रकार हे आत्मन् ! तुम भी गुप्ति रूपी कवच को पहनकर परीषह रूपी शत्रुओ के बाणो को सहन करो और स्वकीय मन रूपी बाण को मोक्ष मे स्थिर करो ॥४५॥

"यदि परीषह रूपी दावानल से सतप्त जीव ज्ञानरूपी सरोवर मे प्रवेश करता है तो उसको क्या प्राप्त होता है ?" ऐसा प्रश्न करने वाले शिष्य को आचार्य कहते है-

**परीषह रूपी दावानल से संतप्त हुआ यह संसारी प्राणी यदि ज्ञान रूपी सरोवर मे प्रवेश करता है तो स्वस्वभाव रूपी जल से अभिषिक्त होने से निर्विकल्प होकर वेदना को भूलकर निर्वाण को प्राप्त करता है॥४६॥**

क्षुधा (भूख), प्यास, शीत, उष्ण आदि के द्वारा शरीर को सतापकारी होने से परीषह को अग्नि कहा है। उस परीषह रूपी अग्नि से सतप्त हुआ प्राणी (भव्यात्मा) "मै शरीर से अत्यन्त भिन्न हूँ, इन परीषहो के द्वारा मै बाध्यमान (दु खी) नहीं हो सकता, ये मेरे निज स्वरूप को घात वा विकल करने मे समर्थ नहीं हैं," इस प्रकार शरीर के मोह को दूर करने वाले और निज स्वरूप का अनुभव कराने वाले भेदविज्ञान रूपी सरोवर मे प्रवेश करता है तो सहज शुद्ध चैतन्य निर्विकार परमात्मा स्वरूप मेघ (बादल) से उत्पन्न,

स्वकीयशुद्धपरमात्मन स्वभाव परमानदमय· स एव जल पानीय सहजशुद्धचैतन्यनिर्विकारमात्मस्वरूपमेघजन्यत्वात् तेन प्रसिक्त. अभिषिक्त किं करोति। **अवियप्पो** अविकल्पो भूत्वा **णिव्वाणं** निर्वाण परमाह्लादलक्षण लभते प्राप्नोति। यथा कश्चन दावाग्निना दह्यमान सन् सरोवरे प्रविशति तत्र जलेन प्रसेव्यमान शैत्य प्राप्नोति तथासौ परीषहदावाग्निना दह्यमानो ज्ञानसरोवरमवगाह्य निर्वाण प्राप्नोतीति तात्पर्य ॥४६॥ एतेन परीषहजय व्याख्यायाधुना क्रमायातमुपसर्गसहनमितीद पचमस्थल षड्भि गाथाभि प्रथयति।

तत्र यदि कथमपि मुनेर्दु खजनका उपसर्गा भवति तदा तेन ते कि कर्तव्या भवतीत्याह-

**जइ हुंति कहवि जइणो उवसग्गा बहुविहा हु दुहजणया।**
**ते सहियव्वा णूणं समभावणणाणचित्तेण ॥४७॥**

यदि भवति कथमपि यतेरुपसर्गा बहुविधा खलु दु खजनका ।
ते सोढव्या नून समभावनाज्ञानचित्तेन ॥४७॥

**जइणो** यतेर्मुनीश्वरस्य **कहवि** कथमपि पुरा दुरर्जितकर्मोदयेन **बहुविहा** बहुविधा सचेतनाचेतनप्रभवा **दुहजणया** दु खजनका दु खोत्पादका **उवसग्गा** उपसर्गा उपद्रवलक्षणा **जइ हुति** यदि भवति हु खलु। ते उपसर्गा । कि कर्तव्या । **सोढव्वा** सोढव्या नून अगीकर्तव्या । केन। मुनिना। किं

---

परमानन्दमय, स्वकीय शुद्ध परमात्म स्वभाव रूप जल से अभिषिक्त (सिचित) होने से निर्विकल्प समाधि मे लीन हो जाता है- स्वकीय स्वभाव मे स्थिर हो परम शाति का अनुभव करता है और सम्पूर्ण कर्मराशि का नाश कर परम आह्लाद (आनन्द) मय निर्वाण पद को प्राप्त करता है।

जैसे दावाग्नि से सतप्त कोई प्राणी सरोवर मे प्रवेश करता है और उस मे शीतल जल से अभिषिक्त होने से शीतलता (दावानल के दाह-शाति) का अनुभव करता है, वैसे ही परीषह रूपी दावानल से सतप्त हुआ कोई भव्य प्राणी, निज स्वभाव रूप ज्ञान सरोवर मे प्रवेश करता है, तो निजात्मानुभव रूप जल से सिचित होने से परम शाति का अनुभव करता है और परम निर्वाण को प्राप्त करता है। इसलिए हे क्षपक! परीषह से उत्पन्न दु ख दावानल को शात करने के लिए निज स्वभाव के चिन्तनरूप ज्ञान-सरोवर मे प्रवेश करो ॥४६॥

इस प्रकार परीषह-जय का व्याख्यान करके अब उपसर्ग सहन करने के लिए सम्बोधित करते हुए आचार्यदेव छह गाथाओ के द्वारा पचम स्थल को कहते हैं-

**हे क्षपक ! यदि मुनिराज को किसी प्रकार से बहुविध दुःखों के जनक उपसर्ग आते हैं तो समभावना से युक्त चित्त से उन्हे सहन करना चाहिए ॥४७॥**

किसी भी प्रकार से बहुत प्रकार के दु खजनक उपसर्ग आते है तो मुनिराजो को समभावना ज्ञान · चित्तके द्वारा उन उपसर्गो को सहन करना चाहिए।

विशिष्टेन। **समभावणणाणचित्तेण** समभावनज्ञानचित्तेन दु खे सुखेऽमित्रे मित्रे वने भवनेऽलाभे काचे सुवर्णे समाना भावना समभावना प्रोच्यते। कस्मात्। तदवस्थाया रागद्वेषयोरभावात्। समभावनाया यत्स्वसवेदनज्ञान समभावनज्ञान चित्ते यस्यासौ समभावनज्ञानचित्त तेन समभावनज्ञानचित्तेन। तथा चोक्त ज्ञानार्णवे-

**सौधोत्संगे श्मशाने स्तुतिशपनविधौ कर्दमे कुंकुमे वा,**
**पल्यके कटकाग्रे दृषदि शशिमणौ चर्म चीर्णांशुकेषु।**
**शीर्णांगे दिव्यनार्यामशमनमवशा स्वस्य चित्तं विकल्पै-**
**र्नालीढ सोयमेकः कलयति कुशलः साम्यलीलाविलासम्॥**

ततो नानाविधेषु घोरोपसर्गेषु उपढौकितेषु सत्स्वपि मुमुक्षुणा मुनिना निजचिरदुरर्जितकर्मविपाक बुद्धा निरुपद्रवशुद्धपरमात्मस्वसवेदनज्ञानभावनाबलेन शरीरे ममता परिहाय समतामवलब्य स्थातव्यमिति-तात्पर्यम्॥४७॥

**णाणमयभावणाए भावियचित्तेहिं पुरिससीहेहिं।**
**सहिया महोवसग्गा अचेयणादीय चउभेया॥४८॥**

ज्ञानमयभावनया भावितचित्तै पुरुषसिहै ।
सोढा महोपसर्गा अचेतनादिका चतुर्भेदा ॥४८॥

---

पूर्व मे उपार्जन किये हुए कर्मो के उदय से सचेतन, अचेतन आदि अनेक प्रकार के दु खजनक उपसर्ग आते है तो मुनीश्वरो को शत्रु मे, मित्र मे, सुख मे, दु ख मे, वन मे, भवन मे, लाभ मे, अलाभ मे, काच मे और सुवर्ण मे समभावना (समान भावना) ज्ञान वा स्वसवेदन ज्ञान से अनुरजित चित्त से (वा) रागद्वेष के अभाव से उन उपसर्गों को सहन करना चाहिए। सोही **ज्ञानार्णव** मे कहा है-

ऊँचे-ऊँचे महल और मसान मे, स्तुति करने पर और गाली देने पर, कीचड मे और केशर मे, पलग मे और कटक के अग्र भाग मे, पत्थर मे और चन्द्रकान्त मणि मे, चर्म वस्त्र मे और रेशमी वस्त्र मे, जीर्ण शीर्ण शरीर वाली स्त्री मे और दिव्य देवागना सम सर्वांग सुन्दरी मे समता के अभाव मे चित्त अनेक प्रकार के विकल्पो से आलीढ नही हुआ है। अर्थात् जिस प्राणी का मन समता रस से अभिषिक्त है, सुख-दु ख, शत्रु-मित्र आदि विकल्पो से रहित है, वही एक कुशल क्षपक ज्ञानी महापुरुष साम्यभाव की लीला के विलास को प्राप्त कर सकता है और उपसर्गो को सहन कर सकता है, उपसर्ग विजयी हो सकता है।

इसलिए नाना प्रकार के घोरोपसर्ग आने पर भी मुमुक्षु मुनिराज को 'ये उपसर्ग मेरे पूर्वोपार्जित दुष्कर्मोका विपाक है' ऐसा समझकर निरुपद्रव शुद्ध परमात्म स्वसवेदन ज्ञान भावना के बल से, शरीर की ममता का परित्याग करके और समता का अवलम्बन लेकर सहज शुद्ध आत्मस्वभाव मे लीन होना चाहिए।

'ज्ञान भावना से क्या करना चाहिए' ऐसा पूछने पर आचार्यदेव कहते हैं-

''ज्ञानमय भावना से भावित (अनुरजित) चित्त वाले पुरुषसिह (श्रेष्ठ पुरुष) के द्वारा अचेतन आदि चार भेद वाले महा उपसर्गों (उपद्रवों) को सहन करना चाहिए॥४८॥

**णाणमयभावणाए** ज्ञानमयभावनया ज्ञानेन निर्वृत्ता यासौ भावना वासना सा ज्ञानमयभावना तया ज्ञानमयभावनया **भावियचित्तेहि** भावितचित्तैर्वासिताातरगै **पुरिससीहेहि** पुरुषसिहै पुरुषप्रधानै । अत्र प्रशस्यवाची पुरुषदस्याते सिंहशब्द अमरकोशाद्यमिधानेषूक्तवान्। **अचेयणादीय** अचेतनादिका **चउभेया** चतुर्भेदाश्चतु प्रकारा **महोवसग्गा** महोपसर्गा महातश्चते उपसर्गाश्च महोपसर्गा । महातश्चेति विशेषणे कृते कोर्थ । तैरपि पुरुषसिहैर्मनागपि मनोविक्षेपरहितै सोढु शक्या नान्यैः सामान्यै· कानरत्वेनासहमानत्वादित्यर्थ **सहिया** सोढा 'षह मर्षणे' क्षमिता योगधैर्याविर्भावहेतुभूताया बाधाया सत्यामपि मनसि मनसा वा येषा सहन न सर्वो भवतीति कितु निर्जरार्थ तेषामपि सहनमेवेत्यर्थ ॥४८॥

ननु चेतनादयश्चतुर्भेदा उपसर्गा निर्दिष्टास्ते के कैश्च ते सोढा इति प्रश्ने कृते गाथापूर्वार्धेनाचेतनाकृतोपसर्गा अपरार्धेन तिर्यक्कृतश्च अचेतनकृतोपसर्गसोढार शिवभूतिनामादि कृत्वा प्रथयति-

**सिवभूइणा विसहिओ महोवसग्गो हु चेयणारहिओ।**
**सुकुमालकोसलेहि य तिरियंचकओ महाभीमो ॥४९॥**

---

सिंह शब्द प्रशसनीय वा प्रधानवाची है। अमरकोश में लिखा है कि सिंह, वृषभ, गज आदि शब्द श्रेष्ठ अर्थ मे होता है जैसे पुरुषसिंह, मुनिपुगव, मुनिकुजर इत्यादि।

सामान्य से उपसर्ग **एक** प्रकार का है, चेतन-अचेतन के भेद से **दो** प्रकार का है। चेतन उपसर्ग तिर्यंचकृत, देवकृत और मनुष्यकृत के भेद से **तीन** प्रकार का है। तथा अचेतनकृत, देवकृत, मनुष्यकृत और तिर्यंच कृत के भेद से **चार** प्रकार का है।

कातर पुरुष उपसर्ग सहन नहीं कर सकते हैं अत पुरुषसिंह कहा हे।

ज्ञानमय भावना के द्वारा महान् पुरुषो को अचेतन आदि चार प्रकार के उपसर्गो को सहन करना चाहिए।

कायर पुरुष तथा मनाक् भी मन विक्षिप्त वाले पुरुष उपसर्ग सहन नहीं कर सकते।

षह् धातु मर्षण अर्थ वा क्षमा अर्थ में है। किसी सासारिक कारणवश कष्टो को सहन करना सरल है। परन्तु निर्जरा और आत्मविशुद्धि की प्राप्ति के लिए कितने ही प्रकार की बाधा आने पर भी योग, धैर्य के द्वारा वा आत्मचिन्तन के द्वारा मानसिक भावनाओं से महोपसर्गों को सहन करना कठिन है। अत सासारिक भोग-वाञ्छाओ से रहित होकर कर्मनिर्जरार्थ उपसर्ग सहन करना चाहिए ॥४८॥

चेतनादि चार प्रकार के उपसर्गो का निर्देश किया है। वे उपसर्ग किन्होने सहन किये है? ऐसा पूछने पर आचार्य-देव गाथा के पूर्वार्ध में अचेतन कृत उपसर्ग सहन करने वालोंका और गाथा के अपरार्ध द्वारा तिर्यञ्चकृत उपसर्ग सहन करने वाले शिवभूति आदि के नाम मात्र का कथन करते हैं-

**शिवभूति नामक मुनिराज ने अचेतनकृत महा-उपसर्ग सहन किया था और सुकुमाल और सुकोशल मुनिराज ने तिर्यंचकृत महा भयकर उपसर्ग सहन किया था ॥४९॥**

शिवभूतिना विसोढो महोपसर्ग खलु चेतनारहित ।
सुकुमालकोसलाभ्या च तिर्यक्कृतो महाभीम· ॥४९॥

**विसहिओ** विसोढ विशेषेण चिदानन्दोत्थपरमसुखामृतरसास्वादबलेन षोढ । कोसौ **महोवसग्गो** महोपसर्ग महाश्चासौ उपसर्गश्च महोपसर्ग छेदनभेदनमारणादिरूप । केन विषोढः। **सिवभूइणा** शिवभूतिना। शिवभूतिर्नाम कश्चिद्राजकुमारस्तेन शिवभूतिना। कीदृश उपसर्ग ।

**चेयणारहिओ** चेतनारहित अचेतनैरग्निजलपाषाणशिलापातादिभि कृतत्वादुपसर्गोप्यचेतन शिवभूतिना अचेतनमहोपसर्गा यथा सोढास्तत्कथामाख्याति-

**चंपापुर्यामभूद्भूपो विक्रमः स्मेरविक्रमः।**
**शिवभूतिः सुतस्तस्य शिववद्भूतिभूपतिः॥**

**तदात्वोद्भूतवात्याभिः खंडशः कृतमंबरे।**
**वीक्ष्यान्यदा स सांद्राभ्रं मनसीति विचितयत्॥**

**धिग् धिग् भवमिमं यत्र सुखं नैवात्र किचन।**
**तथापि नैव बुध्यंते महामोहा हहांगिनः॥**

**क्षणप्रध्वंसिनो दुष्टकायस्यास्य कृते कथम्।**
**बह्वारंभा विधीयंते मोहेनांधं भविष्णुभिः॥**

---

चिदानन्द के रसास्वाद से उत्पन्न परम सुखामृत रस के आस्वादी शिवभूति नामक राजकुमार मुनिराज ने अचेतन अग्नि जल, षाषाण, शिलादि के पतन से उत्पन्न अचेतनकृत महा-उपसर्ग सहन किया था।

चम्पापुरी नगरी मे महापराक्रमी विक्रम नामक राजा हुआ था। उस राजा के शिव के समान विभूति वाला शिवभूति नामका पुत्र था। एक दिन वह शिवभूति राजपुत्र अपने महल की छत पर बैठकर आकाश की प्राकृतिक शोभा देख रहा था। उस निर्मल अकाश मे मेघो से बने हुए अति रमणीय मन्दिर को एक क्षण मे वायु के झकोरो से विघटित होते हुए देखकर मन मे चितन करने लगा, "अहो! ये सासारिक सुख, इन्द्रियभोग, वैभव बादल वा बिजली के समान क्षणभगुर है, नाशवत हैं, ससार मे क्षण मात्र वा लेश मात्र भी सुख नहीं है, यह दु खो से भरा हुआ है। हा! हा! ससार को धिक्कार हो। तथापि ये महामोही प्राणी ससार की अवस्था को नहीं जानते है। अहो ! ये मोह से अधे हुए प्राणी क्षणध्वसी अपवित्र मल-मूत्र की खान दुष्ट काय के लिए बहु आरम्भ करते हैं। पचेन्द्रिय-विषय-भोगो के लिए हिंसादि पापो का आचरण करके नरकादि दुर्गतियो मे गिरते है और महा दु खो को भोगते है। परन्तु आत्मकल्याण के लिए प्रयत्न नहीं करते हैं।" ऐसा विचार करके शिवभूति राजकुमार ने ससार और शरीर से विरक्त होकर मुनिराज के चरण-कमलो मे जिनेश्वरी दीक्षा ग्रहण करली।

इति वैराग्यरगेन रगितात्मा स तत्क्षणात्।
भोगास्त्यक्त्वा तृणानीव जैनी दीक्षामश्रियत्॥
अभ्यस्यन् स ततो योग तपस्यन् दुस्तपं तप:।
वनेऽन्यदा प्रतिमया तस्थौ क्वापि तरोस्तले॥
तदा ज्वलन्मिथो वंशघर्षणोत्थदवानल:।
ज्वलद्दारुस्फुटद्वशत्रुटच्छब्दभयंकर:॥
अविशेपतया सर्वं ज्वालयन्स दवानल.।
अपीडयत मुनिमपि क्व विवेको ह्यचेतने॥
तस्थौ तरोस्तले यस्य ज्वलतो वह्निना तनो.।
निपेदवद्धिरालातै· प्रत्यग स कदर्थित॥
एव दावानलेनोच्चैरालीढोप्येष सर्वत·।
मनागप्यचलद्ध्यानान्नारिरद् दृढता सताम्॥

उक्त च समयसारे-

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिद कर्तुं क्षमंते पर
यद्वज्रेपि पतंत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शका विहाय स्वयं
जानत: स्वमबध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवन्ते न हि॥

---

भोग और ससार के वैभव जीर्णतृण के समान है, नाशवत है, ऐसा समझकर और शरीर से ममत्व का परिहार कर वे घोर तपश्चरण करने लगे। एक दिन शिवभूति मुनिराज वृक्ष के नीचे प्रतिमा योग से बैठकर आत्मा का चिन्तन कर रहे थे। उसी समय दो बॉसो के परस्पर सघर्षण से भयकर दावानल उत्पन्न हुई। चारो तरफ से वृक्षो के टूटने से घोर आवाज हो रही थी। पशुओ का चीत्कार मानव-हृदय को विदार रहा था। महाभयकर राक्षस के समान दावानल ने सारे वनको जलाते हुए मुनिराज को भी अपना ग्रास बना लिया। ठीक ही है, अचेतन को विवेक कहाँ होता है। वृक्ष के नीचे बैठे हुए मुनिराज के प्रत्येक अग कदर्थित हो रहे थे। लकडी के समान सारा शरीर जल रहा था। दावानल की ऊँची-ऊँची ज्वाला से मुनिराज का सारा शरीर व्याप्त हो गया था। परन्तु शुद्धात्म ध्यान मे लीन मुनिराज अपने ध्यान से च्युत नहीं हुए। ठीक ही है- सज्जन पुरुषो की दृढता अलौकिक होती है।

सो ही **समयसार कलश** मे **अमृतचन्द्राचार्य** ने कहा है- ‘‘सम्यग्दृष्टि महापुरुष ही इस प्रकार का साहस करने में समर्थ होते है। भय से चलायमान होकर तीन लोक के प्राणी सन्मार्ग को छोड देते हैं, ऐसे वज्रपात के होने पर भी ये महामुनि स्वाभाविक निर्भयता से सारी शका (भय) को छोडकर अबध्य (निर्घात) ज्ञानमय शरीर वाले स्व को जानकर निज ज्ञान से च्युत नही होते है। अर्थात् मै अखण्ड, अबाध, नित्य, अविनाशी ज्ञानमय शरीर वाला हूँ। मेरा किसी भी कारणो से नाश नहीं हो सकता। ऐसा विचार कर के महामुनि घोरोपसर्ग आने पर भी स्वकीय ज्ञान-ध्यान से कभी च्युत नही होते।

**भावयन् स परं ब्रह्म छित्वा दु:कर्मसंचयम्।**
**केवलज्ञानमासाद्य बभूवे मोक्षमक्षयम् ॥**

इति शिवभूतिकथा। अथ तिर्यक्कृत उपसर्ग उभाभ्या सोढस्तमाख्याति।

**तिरियंचकओ** तिर्यक्कृत तिर्यग्भि व्याघ्रसिहशूकरसर्पसैरिभसौरभेयशृगालादिभि कृत उपसर्ग तिर्यक्कृत सोढ । काभ्या **सुकुमाल-कोसलेहि** सुकुमालकोशलाभ्या सुकुमालश्च कोशलश्च सुकुमालकोशलौ ताभ्या सुकुमालकोशलाभ्या। कथभूत उपसर्ग । महाभीम अतिशयेन भयानक । सुकुमालकोशलाभ्या तिर्यक्कृत उपसर्ग सोढ । कथ सोढस्तदनयो कथा। अथ जबूद्वीपस्य भारते कौशाबीनगर्या विनमन्नरपालमौलि-मालाशोणमणिकिरणकाश्मीरपूरातुरगजितचरणकमलोऽतिबलो नाम राजाभूत्। तत्पुरोधा राजसदसि प्राप्तप्रतिष्ठश्चतुर्वेदाभिज्ञ व्याकरणप्रमाणकवितारत्नरत्नाकर विष्णुभक्तितत्पर प्रतिदिनमाचरितषट्कर्मा सोमशर्मा नाम तत्पत्नी काश्यपी तत्पुत्रावुभौ अग्निभूतिमरुभूतिनामानौ। अथैकदा द्विजन्मा पुत्रद्वय प्रत्याह, रे सुतौ श्रुताभ्यास भवतौ तनुत। यदुक्तम्-

---

शिवभूति महामुनि अनन्त ज्ञानमय अखण्ड अविनाशी शुद्धात्मा की भावना से दुष्कर्मो के सचय का नाश कर अविनाशी केवलज्ञान को प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त हो गये। अचेतन कृत उपसर्ग को सहन करने वाले शिवभूति मुनिराज की कथा समाप्त हुई।

हे क्षपक ! इस प्रकार शिवभूति मुनिराज का चितन कर धैर्यशाली बनो। घोरोपसर्ग आने पर भी निज स्वभाव से च्युत मत होवो? स्वकीय निजानन्द रस का पान कर अनन्त सुख का अनुभव करो।

व्याघ्र, सिह, शूकर, सर्प, कुत्ता, बैल, शृगाल आदि द्वारा किया हुआ उपसर्ग तिर्यचकृत उपसर्ग कहलाता है। तिर्यचकृत उपसर्ग को सहन करने वाले मुनि सुकुमाल और सुकोशल की कथा कहते हैं-

सुकुमाल और सुकोशल मुनिराज ने तिर्यञ्चकृत घोर उपसर्ग सहन किया। आत्मध्यान मे लीन होकर घोर दु ख आने पर भी वे अपने स्वभाव से च्युत नहीं हुए।

**❊ सुकुमाल की कथा ❊**

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र की कौशाम्बी नगरी मे एक अतिबल नामक राजा राज्य करता था, जो पराक्रमी था, बडे-बडे राजा जिसके चरणो में झुके रहते थे। हाथी-घोडो आदि की विशाल सेना उसके चरणो की सेवा करती थी।

उस राजा की राजसभा मे चारो वेदो का ज्ञाता, व्याकरण-छन्द-कविता का सागर, विष्णुभक्ति मे तत्पर प्रतिदिन षट्कर्म का आचरण करने वाला और महान् प्रतिष्ठाप्राप्त सोमशर्मा नामक राजपुरोहित रहता था। उसके काश्यपी नामक पत्नी थी और अग्निभूति एव मरुभूति (वायुभूति) नामक दो पुत्र थे।

एक दिन राजपुरोहित ने अपने दोनो पुत्रो को बुलाकर कहा- हे पुत्रो ! आप दोनो श्रुत का अभ्यास करो। सो ही कहा हे-

भवति ह्यपि समूलोन्मूलने मत्तदंती
जडमतिभिरनाशे पद्मिनीप्राणनाथः।
नयनमपरमेतद्विश्वविश्वप्रकाशे
करणहरिणबंधे वागुराज्ञानमेतत्॥

अधीतशास्त्र प्रज्ञावानपि भवति सर्वेषा गोचर अलोचनगोचरे ह्यर्थे शास्त्र पुरुषाणा तृतीय लोचन अनधीतशास्त्र चक्षुष्मानपि पुमानध एव इति प्रतिबोधिताविपि तौ नाधीयाते प्रत्युत पितर क्लेश नयत। यदुक्त-

प्रायो मूर्खस्य कोपाय सन्मार्गस्योपदेशनम्।
निर्लूननासिकस्यैव विशुद्धादर्शदर्शनम्॥

तद्दुष्टचेष्टौ पश्यन् विषयभोगयोगादुत्पन्नरोगो विप्रोऽकाडेपि मृत। अथ कियत्सु वासरेष्वतीतेषु राज्ञा तौ पुरोहितसुतावाहूय स्मृत्यर्थं पृष्ठौ। देव न जानीवहे इत्युत्तर चक्रतु। भूपेन अनध्ययनो ब्राह्मणोऽयाजनो देवानामिति विमृश्य तौ पुरोहितपदान्निराकृतौ। तत पुरोहितभार्या अत्यर्थ दु खिता सती उपभूप गत्वा

सारे वृक्षो को उखाडने मे समर्थ मदोन्मत्त हाथी जडमति होने से सूर्य का नाश करने मे समर्थ नहीं है। विश्व को प्रकाशित करने मे यह ज्ञान ही अपर (अद्वितीय) नेत्र है। यह ज्ञान ही इन्द्रिय रूपी हरिण को बॉधने के लिये नाल है।

"शास्त्रज्ञ, प्रज्ञावान पुरुष सबके गोचर होता है अर्थात् वह सर्वके द्वारा पूजनीय होता है। उस पुरुष को लोचन के अगोचर पदार्थ भी दृष्टिगोचर हो जाते है। शास्त्र पुरुषोका तीसरा लोचन (नेत्र) है। जिसने ज्ञानार्जन नहीं किया है वह पुरुष चक्षुवाला होते हुए भी अधा ही है।" इस प्रकार पिता के द्वारा समझाने पर भी उन दोनो ने विद्या उपार्जन करने मे प्रयत्न नही किया अपितु क्रोधी होकर माता-पिता को कष्ट देने का प्रयत्न किया। सो ही कहा है-

"प्राय करके मूर्ख को सन्मार्ग का उपदेश देना क्रोध के लिए होता है, जैसे-नाक कटे मनुष्य को विशुद्ध (निर्मल) दर्पण दिखाना क्रोध के लिए ही होता है।"

उन दोनो दुष्ट पुत्रो की चेष्टाएँ देखकर तथा विषयभोग के योग से उत्पन्न रोग से राजपुरोहित अकाल मे ही मरण को प्राप्त हो गया। अर्थात् मानसिक रोग और शारीरिक रोग के कारण वह अकाल मे ही मृत्यु का ग्रास बन गया।

कुछ दिन बीतने के बाद राजा ने राजपुरोहित के दोनो पुत्रो को बुलाकर स्मरण कराते हुए कुछ प्रश्न पूछे। राजपुरोहित के पुत्रो ने कहा- राजन्! हम कुछ नहीं जानते। राजा ने उन मूर्खो को राजपुरोहित पद के अयोग्य समझ कर पुरोहित पद से च्युत कर दिया और उनकी आजीविका छीन ली। वे दोनों पुरोहित-पुत्र अपनी माता के पास गये और राजा के द्वारा किये गए व्यवहार को माता को सुनाया, जिसको सुनकर माता अति दु खित होकर राजा के समीप आकर कहने लगी-"हे राजन्! आपने मेरे पुत्रो की आजीविका क्यों छीन ली और उनको पिता का पद क्यो नहीं दिया?"

जजल्प। भो महीमहेद्र किमिति मत्तनयौ हतवृत्ती विहितौ। राजा जगाद। तवात्मजौ निरक्षरशिरोमणी अतोत सभ कामप्यभीष्या न लभेते। यदुक्त-

**विद्वज्जनानां खलु मंडलीषु मूर्खो मनुष्यो लभते न शोभाम्।**
**श्रेणीषु किं नाम सितच्छदानां काको वराक: श्रियमातनोति।।**

अथ तनयावाहूय ब्राह्मणी प्रोवाच। रे मद्यौवनवनच्छेदे कुठारौ नृपसदसि प्राप्तमानखडनयोर्युवयो मरणमेव शरण। यदुक्त-

**मा जीवन् य: परावज्ञादु:खदग्धोपि जीवति।**
**तस्याजननिरेवास्तु जननीक्लेशकारिण:।।**

अथ सुतावूचतु। मातर्जहीहि कोप देहि शिक्षामत पर कथमावयो शास्त्रपाठलाभ। साह। राजगृहे नगरे भावत्क पितृव्यो विदितव्याकरणोऽधीततर्कशास्त्रो न्यायशास्त्रपाथोधिपारीण परवादिशिर करोटीकुट्टक सूर्यमित्र साप्रत नि शेषमनीषिशिरोमणिर्वरीवर्ति तदितस्त्वरित गत्वा तमाराध्य विद्याभ्यास युवामाचरता। तौ च तन्मातृवचन निशम्य राजगृहनगर त्वरितमगमता। तत्र सूर्यमित्रसदन सद्य प्रविश्य उपाध्याय च नमस्कृत्य

---

पुरोहित-भार्या की बात सुनकर राजा ने अत्यन्त खेद-खिन्न होते हुए कहा- "हे माता! तेरे पुत्र निरक्षर शिरोमणि है (अज्ञानी हैं) अत राजसभा मे बैठने योग्य नही हैं तथा किसी भी पद के योग्य नहीं हैं।" सो ही कहा है-

"विद्वानों की सभा मे मूर्ख मानव शोभा को प्राप्त नहीं होता। हसो की श्रेणी मे क्या बेचारा कौआ शोभा को प्राप्त हो सकता है? अर्थात् नहीं।" पुत्रो को बुलाकर कहा- "हे मेरे यौवन को छेदने के लिए कुठार! राजा की सभा मे मानखण्ड को प्राप्त हुए तुम दोनो के मरण ही शरण है अर्थात् अपमान से जीवित रहने की अपेक्षा मरना ही अच्छा है। कहा भी है- "दूसरो के तिरस्कार रूपी अग्नि से (दूसरे के अपमानजनक वचन सुनकर) जलकर ज़ीवित रहने की अपेक्षा तो जननी को (माता को) क्लेशकारी पुत्रो का मरण ही अच्छा है।

दोनो पुत्रो ने कहा-"माता! कोप छोडो, हम दोनो को शिक्षा दो कि हम दोनो को शास्त्रपठन का लाभ कैसे हो? हम ज्ञानी कैसे बने?"

पुत्रो की बात सुनकर माता ने कहा- "हे पुत्रो! राजगृह नगर मे व्याकरण, तर्कशास्त्र और न्यायशास्त्र रूपी सागर का पारगामी, परवादियो की शिर रूपी करोटी को कूटने वाला अर्थात् परवादियो को वाद-विवाद मे जीतने वाला और सम्पूर्ण भूमण्डल के विद्वानो मे शिरोमणि सूर्यमित्र नामक तुम्हारा चाचा रहता है। तुम दोनो यहाँ से शीघ्र ही उसके पास जाकर, उसके चरणो की आराधना कर विद्याभ्यास करो।

माता के वचन सुनकर वे दोनो शीघ्र ही राजगृहनगर मे आये और सूर्यमित्र के घर मे प्रवेश कर तथा उपाध्याय को नमस्कार कर उसके सामने भूमि पर बैठ गये। सूर्यमित्र उपाध्याय ने उस अपूर्व युगल

तत्पुरो भूमावुपविष्टौ। सूर्यमित्रोपि तद्युगलमपूर्वमालोक्य विस्मयवातचेता अपृच्छत्। कौ युवा कस्मादागतौ कस्यात्मजौ किमिह करणीय चेति। तावूचतु·। कौशाम्ब्या आगतौ सोमशर्मात्मजौ अग्निभूतिमरुद्भूतिनामानौ त्वमाराध्यावा शास्त्राभ्यास चिकीर्षाव । सूर्यमित्रोपि मदीयज्येष्ठभ्रातृपुत्राविमाविति सबध जानन्नपि जुगोप। यदि विद्या जिघृक्षू युवा तदा व्यसनानि त्यजता यतो व्यसनिनो विद्यासिद्धिर्न भवति॥ यदुक्त-

**स्तब्धस्य नश्यति यशो विषमस्य मैत्री**
**नष्टक्रियस्य कुलमर्थपरस्य धर्मः।**
**विद्याफल व्यसनिनः कृपणस्य सौख्य**
**राज्यं प्रणष्टसचिवस्य नराधिपस्य॥**

भिक्षाया निजोदरपूरण गुरुशुश्रूषण भूमिशयन च वितन्वतोर्भवतो श्रुतावधारणशक्ति। अथ तच्छिष्यद्वय स उपाध्याय सभाष्य व्याकरणमपीपठत् वेदाश्च सागानध्यजीग्यपत् प्रमाणशास्त्राण्यबूबुधत्। अथ सुप्रसन्ने गुरौ। शिष्योऽवश्यमचिरेणैव विद्याबुधिपारदृश्वा भवत्येव॥ यदुक्त-

को आश्चर्य के वशीभूत न होकर सम भावो से पूछा, ''तुम दोनो कौन हो? कहाॅ से आये हो? किसके पुत्र हो? यहाॅ पर किस लिए आये हो?।''

उन दोनो ने कहा- ''हम दोनो कौशाम्बी नगरी से आये हैं। सोमशर्मा नामक राजपुरोहित के पुत्र हैं। हमारा नाम अग्निभूति और मरुभूति है। हम दोनो आपकी आराधना करके शास्त्राभ्यास करना चाहते हैं।''

सूर्यमित्र ने भी ''ये दोनों मेरे भाई के पुत्र हैं'' ऐसे सम्बन्ध को जानते हुए भी अपने सम्बन्ध को प्रगट नहीं किया, छिपाकर रखा क्योकि यदि इनको अपना सम्बन्ध बता देगे तो ये विद्या प्राप्त नहीं कर सकेगे। सूर्यमित्र ने कहा-''यदि तुम दोनो विद्या के इच्छुक हो तो सर्व प्रथम विद्या के घातक सप्त[1] व्यसनो का त्याग करो। क्योकि व्यसन वाले मानव को विद्या की सिद्धि नहीं होती।'' कहा भी है-

''स्तब्ध (आलसी) का यश, मन वचन काय की कुटिलता वाले की मैत्री, क्रियाहीन की कुल-परम्परा, धन के इच्छुक का धर्म, व्यसनी के विद्या का फल, कजूस का सुख और मत्रीरहित राजा का राज्य नष्ट हो जाता है।''

''हे शिष्यो! आप दोनो भिक्षा से उदर पूर्ण करो। (भिक्षावृत्ति से भोजन करो)। गुरु की सेवा करो और भूमि पर शयन करो जिससे शीघ्र ही तुम्हारी श्रुतावधारण शक्ति वृद्धिगत होगी। अर्थात् शीघ्र ही तुम शास्त्र के पारगामी हो जावोगे।''

इस प्रकार उस उपाध्याय ने दोनो शिष्यो के साथ वार्त्तालाप करके शिष्यो को व्याकरण पढाया। अग सहित वेदों का अध्ययन कराया और प्रमाणशास्त्र समझाया। वे वेद, व्याकरण आदि शास्त्रो के शीघ्र ही पारगामी हो गये। ठीक ही है, गुरु की प्रसन्नता होने पर शिष्य शीघ्र ही विद्यासमुद्र के पारगामी हो जाते हैं। कहा भी है-

१ शिकार खेलना, जुआ खेलना, मदिरापान करना, परस्त्रीसेवन, वेश्यासेवन, मास खाना, चोरी करना ये सात व्यसन हैं।

गुरोः प्रसादाद्धि सदा सुखेन प्रागल्भमायाति विनेयबुद्धिः।
माधुर्यमाम्रोद्भवमंजराणीमास्वादनात्कोकिलवागिवाशु ॥।

तत सूर्यमित्रेण तौ सद्वस्त्राभरणै समान्य मम भ्रातृपुत्रौ युवामिति सबध प्रकाश्य आत्मपुर व्रजतमित्युदीर्य च प्रेषितौ। तौ च निजनगर प्राप्य महीपाल विद्वत्तयानुरज्य स्वपद लेभाते सुखेन च तस्थतु । इतश्च राजगृहे जलाजलि सूर्याय ददत सूर्यमित्रस्य करान्नृपदत्ता मुद्रिकान्त कमल पपात। अथ गृह गत सूर्यमित्रो मुद्रिका हस्तागुलावपश्यन् कि नृपस्योत्तर दास्यामीति व्याकुली बभूव। तत सुधर्ममुनिमष्टागनिमित्तकोविद गत्वा च पर्यनुयोग चकार। यतिरुवाच। भो द्विज मास्म दु ख कार्षी यत्र त्वया जलाजलि क्षिप्ता तत्र करान्निसृत्य पद्मकोशे निपतिता। प्रात सत्वर गत्वा गृह्णीथा । सोपि नान्यथा यतिवचनमिति कृतनिश्चयो निजनिलयमीयिवान्। निशावसाने अगुलीयक नलिनातर्लब्धवान्। अहो दिगबरा एव नितरा यदभूत् यद्भविष्यति यच्च वर्तते तत्सर्वं सर्वतो विदति तदहमेतानुपास्य त्रिकालवेदी भविष्यामि इति विमृश्य मतिश्रुतावधिज्ञानलोचन यतीश गत्वा कपटेन ववदे। उवाच च-

---

"गुरु के प्रसाद से शिष्य की बुद्धि सुख पूर्वक प्रौढता को प्राप्त हो जाती है। शीघ्र ही विकसित हो जाती है। जैसे आम्रो से उत्पन्न मजरी (आम्रमजरी) का आस्वादन करने से कोकिल (कोयल) के वचन शीघ्र ही माधुर्य को प्राप्त हो जाते है।"

इसके बाद इन दोनो को विद्या के पारगामी जानकर सूर्यमित्र ने वस्त्राभूषण से उनका सत्कार करके और तुम मेरे ज्येष्ठ भ्राता के पुत्र हो, ऐसा सम्बन्ध प्रकट कर 'तुम दोनो अपने नगर मे जाओ।' ऐसा कहकर उनको अपने नगर को भेज दिया। वे दोनो स्वकीय नगर मे जाकर अपनी विद्वत्ता से राजा को अनुरजित कर राजपुरोहित पद प्राप्त कर सुख से रहने लगे।

एक दिन राजगृहनगर मे सूर्य के लिए जलाजलि देते समय सूर्यमित्र के हाथ की अगुली से निकलकर राजा के द्वारा दी हुई मुद्रिका कमल के भीतर गिर गई।

घर जाकर सूर्यमित्र ने देखा कि उसकी अगुली मे अगूठी नही है। अहो "मै राजा को क्या कहूँगा" ऐसा विचार कर सूर्यमित्र आकुल-व्याकुल हो गया। दिन भर सर्वत्र खोज करने पर भी जब अगूठी नही मिली तब सध्या काल के समय अष्टॉग निमित्त को जानने वाले सुधर्म नामक मुनिराज के समीप जाकर उसने पूछा कि मेरी अगूठी मिलेगी कि नही? मुनिराज ने कहा कि "हे द्विज (ब्राह्मण) दु ख मत करो, सूर्य को जलाजलि देते समय तुम्हारी मुद्रिका अगुली से निकलकर कमलकोश मे गिर गई है। प्रात काल शीघ्र ही जाकर तुम उसे ग्रहण कर लेना।"

सूर्यमित्र भी "मुनिराज के वचन असत्य नहीं होते" ऐसा निश्चय करके अपने घर चला गया।

प्रात काल उठकर तालाब के समीप गया और पद्मकोश मे अगूठी प्राप्त कर अत्यन्त आनन्दित हुआ। वह मन मे विचारने लगा-"अहो! दिगम्बर साधु ही भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान काल मे होने वाले पदार्थ और उनकी सारी पर्यायो को जानने मे समर्थ हैं। मै इनकी उपासना करके त्रिकाल का ज्ञाता बनूगा।" ऐसा विचार करके उसने मति, श्रुत और अवधि ज्ञान रूपी लोचन के धारी सुधर्म नामक मुनिराज के पास

**रोहण सूक्तिरत्नानां वंदे वृंदं विपश्चिताम्।**
**यन्मध्यं पतितो नीचकाचोप्युच्चैर्मणीयते॥**

तदहमपि त्वत्पादप्रसादेन त्वमिव ज्ञानी बुभूषामि। मुनिरपि त सूर्यमित्रमासन्नभव्य विज्ञाय व्याजहार। भो अहमिव यदि त्व दिगबर· स्या तदा ज्ञानी भवे । सोपि "दिगबरो भूत्वा कला गृहीत्वा पुन स्वगृह यास्यामीति विचार्य" जगाद। स्वामिन्मा दीक्षादानेन लघु प्रसादय। मुनिनापि स तपश्चरण ग्राहित·। सोपि श्रुतपदानि पठन् सद्य सम्यग्दृष्टि दृढव्रतश्चाभूत्। यदुक्त-

**शास्त्राग्नौ मणिवद्भव्यो विशुद्धो भाति निर्वृतः।**
**अंगारवत् खलो दीप्तोऽमली वा भस्मना भवेत्॥**

गुरुमापृच्छ्य तीव्रतपश्चरण चरन् कौशाबीनगरीं गतवान्। तत्र काश्चिदुपवासान् कृत्वा पारणार्थमग्निभूतिमरुद्भूतिमदिर प्रविशन्। अग्निभूतिरपि सप्तगुणसमन्वित तस्मै मुनये नवकोटिविशुद्ध्याहार दत्तवान्, ततो मुनिर्गृहीताहारस्तद्गृहे क्षण तस्थिवान्। सर्वैरपि द्विजात्मजैर्यतिर्नमस्कृत । अग्निभूतिना प्रेरितोपि

---

जाकर कपट से वन्दना की। वह बोला "सूक्ति रूपी रत्नों के सोपान विद्वानो के समूह को मैं नमस्कार करता हूँ, जिनके मध्य मे गिरा हुआ नीच काच का टुकडा भी उत्तम मणि के समान आचरण करता है। अर्थात् आपका सान्निध्य पाकर मेरे जैसे अज्ञ प्राणी भी विद्वान् बन सकते हैं। हे गुरुदेव ! मैं भी आपके प्रसाद से आपके समान ज्ञानी बनना चाहता हूँ।"

मुनिराज ने भी सूर्यमित्र को आसन्नभव्य समझकर कहा, "भो द्विज ! यदि तुम मेरे समान दिगम्बर मुद्रा धारण करो तो मेरे समान ज्ञानी बन सकते हो, अन्यथा नहीं। वह सूर्यमित्र भी "दिगम्बर होकर इनसे त्रिकाल को जानने वाले ज्ञान को ग्रहण कर पुन घर चला जाऊँगा।" ऐसा विचार कर बोला, "स्वामिन् ! इस दीक्षा को प्रदान करने की मुझ पर कृपा करो?" मुनिराज ने भी उसको दैगम्बरी दीक्षा प्रदान की। वह सूर्यमित्र भी श्रुतपदों को पढ़कर शीघ्र ही सम्यग्दृष्टि और दृढ़ व्रती हो गया। आत्मानुशासन मे कहा है-

"भव्य प्राणी शास्त्र रूपी अग्नि में मणि के समान विशुद्ध होकर निर्वाण पद को प्राप्त होता है, और दुष्ट प्राणी अगार के समान देदीप्यमान होकर भी अन्त मे भस्म होकर नष्ट हो जाता है अर्थात् भव्य सम्यग्दृष्टि प्राणी शास्त्रज्ञान को प्राप्त कर निर्मल बनता है, कर्म कालिमा का नाशकर उत्तम पद को प्राप्त करता है और अभव्य ११ (ग्यारह) अग का पाठी होकर भी आत्मकल्याण नहीं कर सकता। सूर्यमित्र भी शास्त्रज्ञान से सम्यग्दृष्टि होकर भावलिंगी मुनि बन गया।

एक दिन सूर्यमित्र गुरु को पूछकर उनकी अनुमति से घोर तपश्चरण करते हुए कौशाम्बी नगरी में आये। उस नगरी मे उपवास के पारणे के लिए उन्होंने अग्निभूति और मरुभूति के घर मे प्रवेश किया।

मुनिराज को अपने द्वार पर आये देखकर अग्निभूति का मनमयूर नाच उठा। हर्ष से उसका सारा शरीर रोमाचित हो गया। आनन्दाश्रुसे मुख प्रक्षालित हो गया। उसने सम्मुख जाकर हाथ जोड़कर गद्गद वाणी से "हे भगवन् ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ तिष्ठ, आहार जल शुद्ध है," ऐसा उच्चारण कर तीन प्रदक्षिणा देकर पडगाहन किया। मन-वचन काय शुद्ध है। हे गुरुदेव ! घर में प्रवेश करो" ऐसा कहकर घर में लाये, उच्चासन दिया, पाद प्रक्षालन किया, नमस्कार किया और "गुरु देव मन वचन काय शुद्ध है, अन्न जल शुद्ध है, गुरुदेव ! भोजन ग्रहण करो।" ऐसे नवधा भक्तिपूर्वक मुनिराज को आहार दिया।

वायुभूतिर्मुनींद्र न नमति केवल जुगुप्सते। पुनरग्निभूतिः प्राह। रे त्वमनेन पाठित एतादृश महिमान च प्रापितस्तत्किमेन न नौषि। यदुक्त-

**अक्षरस्यापि चैकस्य पदार्थस्य पदस्य च।**
**दातारं विस्मरन् पापी कि पुनर्धर्मदेशिनम्।।**

मरुद्भूति ब्रूतेस्म। अनेन दुरात्मनाह भूमौ शायित भिक्षान्नेन भोजित अत्यर्थ क्लेशितः तदेन वचनेनापि न सभावयामि कि पुनर्नमस्कारेण इति ब्रुवाणो दोषानेव गृह्णाति। यदुक्त-

**गुणानगृह्णान् सुजनो न निर्वृति प्रयाति दोषानवदन्न दुर्जनः।**
**चिरंतनाभ्यासनिबंधनेरिता गुणेषु दोषेषु च जायते मतिः।।**

---

आहार देते समय श्रावक के सात गुण होते है। श्रद्धा, शक्ति, भक्ति, विज्ञान, अलोभता, क्षमा और त्याग। गुणधारी अग्निभूति के द्वारा दिये हुए आहार को मुनिराज ने ग्रहण किया।

आहारदान के आनन्द के अनुभव से गद्गद हुए अग्निभूति ने आहार के पश्चात् धर्मोपदेश के लिए मुनिराज को विनयपूर्वक ऑगन मे उच्चासन पर बिठाया। सर्व द्विजपुत्रो ने भक्तिपूर्वक मुनिराज के चरण कमलो की वन्दना की। परन्तु मरुभूति ने मुनिराज को नमस्कार नहीं किया। अग्निभूति ने मरुभूति को समझाया परन्तु मरुभूति नमस्कार न करके प्रत्युत् निन्दा करने लगा।

अग्निभूति ने कहा, ''रे नीच मरुभूति! तुम को इन्होने पढाया, इस महान् पद पर स्थापित किया। अर्थात् इनके प्रसाद से तूने ज्ञानी होकर मत्री पद प्राप्त किया है। उनको तू नमस्कार नहीं करता? तेरे समान कोई पापी नहीं है।'' कहा भी है-

''जो एक अक्षर, एक पद, एक पदार्थ के ज्ञान-दाता को भूल जाता है, उसका सत्कार नहीं करता वह पापी है, परन्तु जो धर्मदेशना देने वाले को भूल जाता है उसके पाप का तो कहना ही क्या? वह तो महा पापी है।''

अग्निभूति के समझाने पर क्रोधित होकर मरुभूति ने कहा, ''इस दुरात्मा ने मुझे भूमि पर शयन कराया, भिक्षा मॉगकर उदरपूर्ति कराई अर्थात् भिक्षावृत्ति से भोजन कराया और अति क्लेश (दु ख) दिया। इसलिए इस दुरात्मा के साथ बोलना भी नहीं चाहता, इसका मुख देखना भी पाप समझता हूँ, नमस्कार करना तो बहुत दूर है अर्थात् नमस्कार करना तो सभव ही नहीं है।'' सत्य ही है- दुर्जन दोषो को ही ग्रहण करते हैं। कहा भी है-

''सज्जन पुरुष गुणो को ग्रहण किये बिना सतोष को प्राप्त नहीं होते और दुर्जन दोषो का कथन एव ग्रहण किये बिना सतोष को प्राप्त नहीं होते। क्योकि चिरतन अभ्यास से प्रेरित हुई बुद्धि गुण और दोषो में प्रवृत्त होती है। अर्थात् गुण और दोषो को ग्रहण करने वाली बुद्धि का भी अनादिकालीन सस्कार है।''

मुनिरपि स्तुतौ निदाया समधीरग्निभूतिना सह तपोवन जगाम। अग्निभूतिरपि यत्र लघुरप्याज्ञाभगमाचरति कथित न पुन कुरुते तत्र स्थातु नोचितमिति ज्ञातवैराग्यो दीक्षा गृहीतवान्। अथाग्निभूतिपत्न्या वायुभूति-समीप निजगदे, रे यत्त्वया मुनिर्न नमस्कृतस्तेनैव निर्विण्णो भवदीयो बाधवो मुक्तगृहबधन प्राव्राजीत्। रे दुरात्मन् शृगपुच्छविरहितो द्विपद पशुस्त्वमेतादृशीं लोकवदिता पदवीं प्रापित· तस्यावमानना विदधान का गति यास्यसि। एव दूषितो वायुभूतिरुत्थाय ता कोलताप्रहारेणाताडयत्।

सा विकटामर्षप्रकर्षान्वितस्वाता निदानमिति बबध येन क्रमेणाह त्वया हता तमेव क्रममादिं कृत्वा तैरश्चमप्याश्रित्य त्वा पापिन भक्षितुमिच्छामि।

इतश्च वायुभूति कुष्टीभूत्वा मृतस्तदनु खरीशूकरीकुक्कुर्यादिभवान् लब्ध्वा चाडालपुत्री दुर्गंधा समजनि। अग्निभूतिमुनिना सा दृष्टा सबोधिता। मकारत्रयनिर्वृत्ति कारिता अणुव्रत ग्राहिता च। तस्य व्रतस्य माहात्म्येन सा मृत्वा ब्राह्मणपुत्री नागश्री नामा बभूव। अथ सूर्यमित्राग्निभूतिमुनिभ्या सबोधिता पाठिता च।

---

निन्दा और स्तुति मे समभाव रखने वाले सूर्यमित्र मुनिराज अग्निभूति के साथ तपोवन को चले गए।

वहाँ पर जाकर अग्निभूति ने "अहो ! जहाँ पर छोटा भाई आज्ञा भग करता है, ज्ञानदाता गुरु की अवज्ञा करता है, मेरा कहना नहीं मानता है वहाँ रहना उचित नहीं है" ऐसा विचार कर दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर ली।

तत्पश्चात् अग्निभूति की पत्नी ने मरुभूति के समीप जाकर कहा-"रे दुरात्मन् ! तूने मुनिराज की अवज्ञा की, उनको नमस्कार नहीं किया-इसलिए तुम्हारे भ्राता ने ससार, शरीर और भोगो से विरक्त होकर गृहवास के बधन को तोडकर जिनेश्वरी दीक्षा ग्रहण की है। हे पापी, सींग-पूछ रहित पशु सदृश तुझको जिसने ज्ञानदान देकर ऐसा महान् बनाया, लोकपूज्य बनाया उनकी वन्दना न करके तू उनका अपमान करता है, निन्दा करता है, तेरे समान दूसरा कोई कृतघ्न और पापी नहीं है। ऐसा करने वाला तू दुर्गति मे जायेगा।"

इस प्रकार अग्निभूति की पत्नी (भाभी) के समझानेपर अत्यन्त क्रोधित होकर मरुभूति उठा और उसने स्वकीय पादप्रहार से अग्निभूति की पत्नी को जोर से मारा, जिससे मरणान्त पीडा का अनुभव करती हुई उसने अपने मन मे निदान बध किया-"कि जिस पैर से तूने मुझे मारा है, तेरे उस पैर को मै तिर्यञ्चनी होकर खाना चाहती हूँ अर्थात् जब तक तुम्हारे पैर को भक्षण नहीं करूँगी तब तक शान्ति नहीं है।"

तत्पश्चात् मुनिनिन्दाजन्य पाप के उदय से मरुभूति कुष्ठ रोगी होकर आर्त्तध्यान से मरा और उसका जीव गधी, शूकरी, कुक्करी (कुत्ती) आदि अनेक योनियो मे भ्रमणकर तथा भूख-प्यासादि कष्टो को सहन कर कर्मों के कुछ लघु विपाक से चाण्डाल के घर मे पुत्री हुआ। उसके शरीर मे अत्यन्त दुर्गन्ध आती थी जिसके कारण कोई भी बन्धु उसके समीप बैठना नहीं चाहता था।

एक दिन अग्निभूति मुनिराज ने उसे देखा और अनुकम्पा और पूर्वभव के सस्कार के अनुराग से उसको सम्बोधित किया, धर्म का उपदेश देकर मधु, मास, मद्य का त्याग कराया और अणुव्रत ग्रहण कराये। व्रत के माहात्म्य से वह मरकर नागश्री नामक ब्राह्मणपुत्री हुई।

सा च विज्ञातश्रुतरहस्या तौ नमस्कृत्य दीक्षा जग्राह। अनेकधा तपश्चरण कृत्वा प्राते चतुर्विधाहारपरिहार च विधाय स्त्रीलिंग च छित्वा षोडशे स्वर्गेऽच्युतेद्रोऽजनि। यदुक्त-

**यद्दूरं यद्दुराराध्यं यच्च दूरे व्यवस्थितम्।**
**तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमः॥**

इतश्चावतीविषये उज्जयिन्या सोच्युतेद्रोऽवतीर्य श्रेष्ठितनूज सुकुमालनामा बभूव। स पूर्वोपार्जितशुभकर्मणा बहुधा राज्यादिक प्राप्तवान्। यदुक्त-

**राज्यं च संपदो भोगाः कुले जन्म सुरूपता।**
**पाण्डित्यमायुरारोग्यं धर्मस्यैतत्फलं विदुः॥**

---

पूर्व भव के सस्कार के कारण वह सूर्यमित्र और अग्निभूति मुनिराज के समीप गई। मुनिराज ने उसको सम्बोधित किया, जिससे उसको जातिस्मरण हो गया। उसने अपने सातभव पूर्व की बात प्रत्यक्ष जान ली। पश्चात्ताप से उसका हृदय दहल उठा। यह ससारी जीव कर्म बॉधते समय हॅसता है परन्तु जब उसका फल आता है तब रुदन करता है, यह नहीं सोचता कि पूर्व बॉधे हुए कर्मो का फल अवश्य भोगना पडेगा। मैंने मुनिराज की निन्दा की जिससे कितने दु ख भोगे है, अब भी सचेत नहीं हैं।

ससार, शरीर और भोगो से विरक्त होकर श्रुत के रहस्य को जानने वाली नागश्री ने मुनिराज को नमस्कार करके दीक्षा ग्रहण की। अर्थात् आर्यिका पद को स्वीकार किया। मुनिराज के समीप तत्त्वों का पठन-पाठन-मनन किया। अनेक प्रकार से तप-नियम-व्रतो का आचरण कर अन्त मे चार प्रकार के आहार का त्याग कर सल्लेखनायुत मरण किया और स्त्रीलिंग को छेद कर सोलहवे स्वर्ग मे अच्युतेन्द्र पद को प्राप्त किया।

उसकी आयु वहॉ बाईस सागर की थी। कहा भी है-

''जो दूर है, कठिनता से साध्य है ओर दूरतर व्यवस्थित हे वे सब कार्य तप से सिद्ध हो जाते हैं। इसलिये तप ही दुरतिक्रम है अर्थात् तप ही सर्वोत्कृष्ट है।''

सोलहवे स्वर्ग मे २२ सागर तक उत्तमोत्तम ससार के भोगो को भोग कर वह आयु समाप्त होने पर स्वर्ग से च्युत होकर अवन्ति देश मे स्थित उज्जयिनी नगरी मे सुकुमाल नामक श्रेष्ठ पुत्र हुआ। पूर्वोपार्जित शुभ कर्म के उदय से बहुत प्रकार की धनसम्पदा राजकीय भोग प्राप्त किये। ठीक ही है-

''राज्य, सम्पदा, पचेन्द्रियजन्य भोग, उच्च कुल में जन्म सौन्दर्य, पाण्डित्य और आरोग्य का प्राप्त होना यह सब धर्म का फल हे, ऐसा समझना चाहिए।''

अथ तन्मातुलेन गुणधराचार्येण सुकुमालसदनस्य पश्चिमाया दिशि वर्तमाने क्रीडोद्याने समागत्य स्थित। सुकुमालो मुनिदर्शनेनैव दीक्षा स्वीकरिष्यतीति मत्त्वा गृहमध्य एव स्थाप्यते न बहिर्निष्कास्यते कदाचित्। अथ सुकुमालमात्रा मुनिरागत्य प्रोक्तस्त्वया अत्र न स्थातव्य। तद्वचन श्रुत्वा मुनिमौनमाश्रित्य स्थित । अथ प्रभातकल्पाया निशि ऊर्ध्वलोकप्रज्ञप्तिं पठन् मुनि· सुकुमालेनाश्रावि, अहमच्युतेंद्रोऽच्युते एतादृशानि सुखान्यालप्सि इति सस्मार सुकुमाल । ततस्तत्क्षणजातिस्मर ज्ञातस्ववृत्तातो मुनिसमीपमीयिवान्। यतिरपि त धर्मोपदेशामृतेन सतोष्य न्यगदीत्। वत्स तवायुर्दिनत्रयमेव तत्त्व परलोकसाधनोपायमाचर।

---

एक ज्योतिषी वा निमित्तज्ञानी मुनिराज ने उसकी माता से कहा था कि "पुत्र का मुख देखकर पिता दीक्षा ग्रहण करेगा और मुनिराज के दर्शन करके सुकुमाल दिगम्बर मुद्रा को धारण करेगा।" मुनिराज के कथनानुसार सुकुमाल के पिता गृहस्थावस्था का त्यागकर मुनिमुद्रा को ग्रहण कर वन मे जाकर घोर तपश्चरण करने लगे।

पति के दीक्षा ग्रहण कर घर छोड़ तपोवन स्वीकार कर लेने पर सेठानी का हृदय दहल गया और भविष्य मे पुत्र भी मुनिराज के मुख का अवलोकन कर मुनिपद को स्वीकार करेगा, ऐसा चिंतन कर वह पुत्र (सुकुमाल) को घर के मध्य में ही रखती थी, कभी भी घर के बाहर नहीं जाने देती थी तथा घर मे कभी मुनिराज का प्रवेश नहीं होने देती थी। ठीक ही है- मोही प्राणी क्या नहीं करता।

सेठानी ने सप्त खण्ड का महल बनवाया, ३२ सुन्दर कन्याओ के साथ सुकुमाल का विवाह किया और निरतर विचार करती कि मेरा पुत्र घर-परिवार को छोडकर मुनि न बनजाय। परन्तु विचार करने मात्र से कुछ नहीं होता, कालादि लब्धि पाकर जो कार्य होता है, वह होता ही है।

विहार करते हुए सुकुमाल के मामा गुणधर आचार्य अपने दिव्य ज्ञान से 'सुकुमाल की आयु बहुत कम है' ऐसा जान कर उज्जयिनी नगरी मे आये और सुकुमाल के महल की पश्चिम दिशा में स्थित जिन-मन्दिर के उद्यान में उन्होंने चातुर्मास-स्थापन किया।

जब सुकुमाल की माता को यह ज्ञात हुआ कि मेरे भाई गुणधर आचार्य यहाँ आकर ठहरे हुए हैं तो उसने शीघ्र ही उनके पास जाकर अनुनय-विनय से उनको वहाँ ठहरने के लिये मना किया परन्तु मुनिराज मौन धारण करके बैठ गये। वे अपने ध्यान से विचलित नहीं हुए।

चातुर्मास की समाप्ति के दिन रात्रि के पिछले प्रहर में मुनिराज ने त्रिलोकप्रज्ञप्ति का पाठ करना प्रारम्भ किया-जिसमें तीन सौ तैंतालीस राजू प्रमाण लोक में इस जीवने कहाँ-कहाँ भ्रमण किया और किस प्रकार के सुख-दु खों का अनुभव किया, उसका कथन था।

उस समय सुकुमाल की निद्रा भग हुई। उसने सारा कथन सुना, उसे स्मरण हुआ कि मैंने पूर्व भव में १६वें स्वर्ग में बावीस सागर तक पचेन्द्रिय सुखों का अनुभव किया, उनसे मुझे तृप्ति नहीं हुई- अब मानव पर्याय के भोगों से तृप्ति कैसे हो सकती है?

तत्त्वविचार से उत्पन्न वैराग्य के कारण सूर्य उदय होते ही रस्सी के सहारे सात खण्ड के महल से नीचे उतर कर सुकुमाल मुनिराज के समीप आया। मुनिराज ने धर्मोपदेश रूपी अमृत के पान से इसे सतुष्ट किया और कहा-"वत्स ! तेरी आयु तीन दिन शेष है। इस समय तुझे परलोक-साधन के उपाय का आचरण करना चाहिए।"

सुकुमालोप्यासन्नभव्यत्वात्तत्क्षणसजातवैराग्यो मुनिमानम्य दीक्षा जग्राह। ततो नगरादबहिरुद्याने सुकुमालो मुनिर्दिनत्रय यावत् गृहीतसन्यासो योगमास्थाय तस्थिवान् तत्रैव वने सा अग्निभूतिभार्या बहूनि भवातराणि पर्यट्य शृगाली बभूव। अथ त मुनिमालोक्य भववैरसबधेन सस्मृतभवातरचरित्रा तत्क्षणसमुद्भूतामर्षा सा शृगाली तमारभ्य खादितु प्रवृत्ता। सुकुमालो मुनिरपि परमसाम्यमारूढ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राविनाभूतचिदानदध्यानसामर्थ्येन सर्वार्थसिद्धि जगाम॥१॥ अथायोध्यापुर्यां सिद्धधर्मार्थ । सिद्धार्थो नाम श्रेष्ठी तस्य मनोवल्लभा वल्लभा जयावती। तयो पुन कलाकुशल सुकोशलोऽजनि। यदुक्तम्-

**कि तेन जातु जातेन मातृयौवनहारिणा।**
**स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्॥**

प्रसादसदन नदनस्य वदनमालोक्य सम्यग्दृष्टि स श्रेष्ठी समाधिगुप्तनाम्नो मुने पादाते प्राव्राजीत्। यदुक्त-

**विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम्।**
**भीतः संसारतो भव्यस्तपश्चरति दुश्चरम्॥**

---

जिसने जाति-स्मरण से अपने सारे वृत्तान्त को जान लिया, तत्क्षण जिसको वैराग्य की उत्पत्ति हुई है ऐसे आसन्नभव्य सुकुमाल ने भी मुनिराज के चरणमूल मे दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर ली और वे नगर बाह्य उद्यान में तीन दिन का सन्यास ग्रहण कर प्रतिमा योग से खडे हो गये। उसी वन मे अग्निभूति की भार्या (पत्नी) अनेक भवो मे भ्रमण करके शृगाली (स्यालिनी) हुई थी।

सुकुमाल मुनि को देखकर वह अत्यन्त कुद्ध होकर उनके समीप आई और जातिस्मरण के द्वारा भवान्तर के वैर को जानकर उसने उनका पैर खाना प्रारम्भ किया। उसके साथ उसके दो बच्चे भी थे।

हे क्षपक! सुकुमाल परम साम्य भाव पर आरूढ थे, शरीर से अत्यन्त निस्पृह थे, शरीर का उनको लक्ष्य भी नहीं था। वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के अविनाभावी चिदानन्द आत्मध्यान के सामर्थ्य से घोरोपसर्ग को सहन कर सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त हुए।

आत्मकल्याण के इच्छुक हे क्षपक! हे आत्मन्! भूख-प्यास आदि के कारण आकुल-व्याकुल मत होओ। सुकुमाल मुनिराज के समान आत्मध्यान रूपी सुधारस के पान से पुष्ट होकर भूख-प्यास आदि पर विजय प्राप्त करो और शरीर की ममता का परित्याग करो।

### ❊ सुकौशल मुनिराज की कथा ❊

अयोध्या नामक नगरी मे धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ को सेवन करने वाला सिद्धार्थ नामक सेठ रहता था। उसके मन को प्यारी लगने वाली जयावती नाम की भार्या थी। उन दोनों के सकल कलाओ मे निपुण सुकौशल नामक पुत्र था। ठीक ही है-

"माता के यौवन को नष्ट करने वाले उस पुत्र के उत्पन्न होने से क्या प्रयोजन है जिससे वश की उन्नति नहीं होती है"।

प्रसाद (आनन्द) के सदन (स्थान) पुत्र के मुख को देखकर उस सम्यग्दृष्टि सेठ ने समाधिगुप्त नामक मुनिराज के चरण-कमलों मे दीक्षा ग्रहण की। कहा भी है-

भव्य जीव ससार से भयभीत हो, काम-भोगो से विरक्त हो और शरीर से स्पृहा को (ममता को) छोडकर दुश्चर तप तपते हैं।

अतो जयावती श्रेष्ठिनी गृहीतदीक्षा भर्तार कर्णिकयाकर्ण्य गत्वा च तमेव ततर्ज। रे दुराचार कुलपासन बालतनयप्रतिपालन कर्तुमशक्तस्त्व नग्नीभूत स्थितोसि। किं विवेकविकलस्य नग्नत्वमभिप्रेतार्थसिद्धये भवति। नग्ना किं वृषभा न भवन्ति यत सत्पुरुषो बालतनयमकार्यशतमपि कृत्वा प्रतिपालयति। यदुक्तम्-

**वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या सुतः शिशुः।**
**अपकार्यशत कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत्॥**

तन्नग्नीभूय कि साधित। अथ सा तद्गुरुमप्येवमुपालम्भतवती भो मुने भवतामु भार्यापुत्रयो प्रतिपालक श्रेष्ठिन दीक्षयता अपरीक्षितमकारि। यदुक्त-

**अपरीक्षित न कर्तव्य कर्तव्यं सुपरीक्षितम्।**
**पश्चाद्भवति संतापो ब्राह्मणी नकुलं यथा॥**

---

तत्पश्चात् जयावती सेठानी ''मेरे स्वामी ने दीक्षा ग्रहण कर ली हे'' ऐसा सुनकर उनके समीप जाकर तर्जना करने लगी। उनको डॉटने-गाली देने लगी।

कहने लगी, ''रे दुराचारी ! हे कुलनाशक। बालपुत्र का प्रतिपालन करने में असमर्थ तू नग्न होकर बैठा है। रे पापी ! विवेकहीन! तेरा नग्नत्व क्या इच्छित सिद्धि के लिए होगा ? क्या बैल आदि पशु नग्न नहीं होते हैं? सज्जन पुरुष सैकडो अकार्य (नहीं करने योग्य कार्य) करके भी बाल पुत्र का प्रतिपालन करते हैं। सो कहा भी है-''वृद्ध माता-पिता, साध्वी भार्या और बालक पुत्र का सैकडो अकार्य करके भी पालन-पोषण करना चाहिए।'' हे कातर ! नग्न होकर तूने क्या सिद्ध किया ? तुझे क्या प्राप्त हुआ ?

इस प्रकार सिद्धार्थ मुनिराज की तर्जना करके वह उनके गुरु के पास गई और इस प्रकार उलाहना देने लगी-''भो मुने ! भार्या और पुत्र का पालन करने वाले इस मेरे पति सेठ को दीक्षा देकर तूने बिना विचारे कार्य किया है। नीतिशास्त्रो मे लिखा है कि-''बिना विचारे (अपरीक्षित) कार्य नहीं करना चाहिए। सुपरीक्षित कार्य ही करना चाहिए। जो मानव बिना विचारे अपरीक्षित कार्य करते हैं, उनको बाद मे सताप होता है। जैसे बिना विचारे नेवले का घात करने वाली ब्राह्मणी को पश्चाताप हुआ था।

**भावार्थ**-एक ब्राह्मणी ने सतान न होने से मनोरजन के लिए एक नेवले का पालन-पोषण किया था। पश्चात् उसके एक लडका हुआ। एक दिन ब्राह्मणी बच्चे को खाट पर सुला कर और नेवले को उसकी रक्षा में नियुक्त करके स्वय घडा लेकर नदी मे पानी भरने गई। पीछे से एक भयकर सर्प आया और बच्चे की खाट पर चढने लगा। नेवले ने उसको खाट पर नहीं आने दिया। नेवले और सर्प में परस्पर भयकर सघर्ष हुआ। नेवले ने प्रहार किया जिससे सर्प की मृत्यु हो गई। नेवले को बहुत आनन्द आया। रक्तलिप्त मुख पैर वह नेवला उछलता हुआ ब्राह्मणी के सम्मुख आया। नेवले को रक्त से लिप्त देखकर ब्राह्मणी ने सोचा-इसने मेरे पुत्र को मार दिया, इसलिए क्रोध मे आकर उसने पानी से भरा हुआ घडा नेवले पर पटक दिया, नेवले ने वहीं पर प्राण छोड दिए। जब घर पर आकर उसने अपने पुत्र को सुरक्षित और सर्प को मरा हुआ देखा, वह पश्चाताप करने लगी। इसलिए कहा जाता है कि जो अपरीक्षित कार्य करता है, उसको पश्चाताप होता है।

तत कोपावेशवशवदया तया गुरुशिष्यौ 'मद्गृहे अस्मिन् पुरे च प्रवेशो न कर्तव्य' इति निषिद्धौ इति जयावतीदुर्वचनकुठारैर्भिद्यमानमपि मुनिमनो न क्षोभमानम्। यदुक्तम्-

**लोक एव बहुभावभावित: स्वार्जितेन विविधेन कर्मणा।**
**पश्यतोस्य विकृतीर्जडात्मन: क्षोभमेति हृदयं न योगिन.।।**

अथ परमोपशमसर स्नानशामितकोपतापौ तौ त्वरित देशातरमीयतु ।

तत्र च सिद्धार्थो मुनि गुरुपादाते कानिचित् श्रुतपदानि अभ्यासीत् अज्ञानमय तमोविनाशमनैषीत्। अथ बहुषु वत्सरेषु अतीतेषु सिद्धार्थो मुनिर्गुरुमापृच्छ्य तामयोध्यामयासीत्। पूजापुरस्सर सर्वो हि पौरो धर्मार्थी त मुनिराज प्राणसीत्। सुकोशलोपि मुनिदर्शनसभवदमदानद स्वजननीमप्राक्षीत्। मातरस्य दर्शनात् मम मनोऽत्यत प्रसीदति नेत्रे च तृप्यतस्तदय क कस्मादुपागतश्च। माता च कालुष्यवातस्वाता न

---

इस प्रकार सेठानी के अनेक प्रकार के अपशब्द सुनकर भी गुरु-शिष्य दोनों सहज स्वभाव मे लीन रहे, उसको कुछ भी उत्तर नहीं दिया। तब क्रोध के वशीभूत हुई सेठानी ने कहा, "तुम दोनो गुरु-शिष्य मेरे आगन मे और मेरे नगर मे प्रवेश नहीं करना"। जयावती के ऐसे कठोर दुर्वचन सुनकर भी मुनिराजो का मन क्षुभित नहीं हुआ। कहा भी है-

"स्वकीय परिणामो से उपार्जित अनेक प्रकार के कर्मो के कारण बहुभावो से युक्त ससारी प्राणियो को देखते हुए मूर्खात्मा (अज्ञानी जनो) का हृदय विकृति को प्राप्त होता है। ससार की अवस्थाओ का अवलोकन करने वाले योगिजनो का हृदय क्षोभ को प्राप्त नहीं होता।

इसके बाद परम उपशम भावरूपी सरोवर मे अवगाहना करके शमित किया है कोप और ताप को जिन्होने ऐसे वे दोनो गुरु-शिष्य शीघ्र ही देशान्तर मे चले गए।

वहाँ सिद्धार्थ मुनि ने गुरु के चरणारविन्द की उपासना कर कुछ श्रुतपदो का अभ्यास किया और अज्ञानमय अन्धकार का विनाश किया।

इसके बाद बहुत दिन बीत जाने पर सिद्धार्थ मुनिराज (अपने गुरु) को पूछकर उनकी आज्ञा से अयोध्यानगरी मे आये।

मुनिराज के आगमन से आनन्द का अनुभव करते हुए सारे धर्मार्थी पुरवासियो ने पूजा, स्तुति-वन्दना करके मुनिराज को नमस्कार किया।

सुकौशल ने भी मुनिदर्शन से उत्पन्न अमद आनन्द से युक्त होकर अपनी माता से पूछा-"हे मात! इनके दर्शन से मेरा मन अत्यन्त आनन्दित हो रहा है, नेत्र तृप्त हो रहे हैं, इनके मुख-कमल को बार-बार देखने की इच्छा कर रहे है, इसलिए बताओ ये कौन हैं और कहाँ से आए है ?"

किंचिद्वदतिस्म। ततो धात्री प्रोवाच। भो तनय! इम मुनिमात्मीय जनक जानीहि। त्वन्मुखमवलोक्यैव तपसे जगाम। सुकोशलोपि इद पितृचरित्र श्रुत्वा सद्यो विषयविरतोऽजनि। यदुक्त-

**विषयविरति: सगत्याग: कषायविनिग्रह:।**
**शमदमयमास्तत्त्वाभ्यासस्तपश्चरणोद्यम:।**
**नियमितमनोवृत्तिर्भक्तिर्जिनेषु दयालुता**
**भवति कृतिन: संसाराब्धेस्तटे निकटे सति।।**

ततो जनयित्रीमनापृच्छ्यैव तस्यैव यतेश्चरणाते तपो जग्राह। मातापि पुत्रशोकादार्तध्यानपरायणा परासुरासीत्। तदनु मगधदेशमध्यवर्तिनि विकटाटवीपरिवेष्टिते मगलनाम्नि शिलोच्चये पुरोक्षाव्याघ्री किलाजनिष्ट। य खलु पुत्रादावभीष्टे मृते नष्टे प्रव्रजिते शोकमुपगच्छति तस्यावश्य दुर्गतिर्भवति। यदुक्त-

**मृत्युर्गोचरमागते निजजने मोहेन य. शोकक्-**
**न्नो गधोपि गुणस्य तस्य बहवो दोषा: पुनर्निश्चितम्।**

---

कालुष्य भाव से सतप्त है हृदय जिसका ऐसी सुकौशल की माता जयावती ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया-प्रत्युत् वैमनस्य प्रकट किया। उसकी यह चेष्टा देखकर धाय ने कहा-''हे पुत्र! इन मुनिराज को तुम अपना पिता जानो। अर्थात् ये तुम्हारे पिता है, जो तुम्हारे मुख का अवलोकन करते ही दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर तपश्चरण करने के लिए तपोवन मे चले गए।'' सुकौशल भी अपने पिता के चारित्र को सुनकर विषयो से विरक्त हो गए। **आत्मानुशासन** मे कहा भी है-

''विषयों से विरक्ति, परिग्रह का त्याग, कषायो का निग्रह, शम (समताभाव), दम (इन्द्रियों का निग्रह), यम (यावज्जीवन किसी वस्तु का त्याग करना), तत्त्वो का अभ्यास, तपश्चरण मे तत्परता, नियमित मनोवृत्ति, जिनेन्द्र भगवान की भक्ति और दयालुता, ये भाव उसी भव्य प्राणी के हृदय मे जागृत होते हैं जिस पुण्यात्मा के ससार-समुद्र का किनारा निकट आ गया है। अर्थात् जिसका ससार-समुद्र समाप्त होकर चुल्लू प्रमाण रह गया है।

इसके बाद सुकौशल ने माता को नहीं पूछकर स्वकीय पिता सिद्धार्थ मुनि के चरण-कमलो में तप ग्रहण कर लिया। अर्थात् घर, परिवार, परिग्रह आदि की ममता को छोडकर दिगम्बर मुद्रा धारण कर ली।

माता ने पुत्रवियोगजन्य शोक रूप आर्त्त ध्यान से प्राणों को छोडा और मगध देश मध्यवर्त्ती विकट अटवी से परिवेष्टित, मगल नामक पर्वत पर पुरोक्षा नामक व्याघ्री हुई। ठीक ही है, जो अज्ञानी जन पुत्रादि इष्ट कुटम्बी जनो के मरने पर, नष्ट हो जाने पर वा दीक्षा ले लेने पर शोक, सताप को प्राप्त होते हैं, आर्त्तध्यान करते है, वे मरकर अवश्य ही दुर्गति मे जाते हैं। कहा भी है-

''जो अज्ञानी जन स्वकीय कुटुम्बी जनो के मरने पर मोह के कारण शोक करते हैं, उनमे गुण की तो गध भी नहीं है, अपितु पुन बहुत से दोष निश्चित हैं। शोकसताप से दु ख वृद्धि को प्राप्त होता है। धर्म अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ रूप चार वर्ग का नाश होता है। मति का विभ्रम होता है, अर्थात् शोक करने

**दु:खं वर्धत एव नश्यति चतुर्वर्गो मतेर्विभ्रम:**
**पापं रुक् च मृतिश्च दुर्गतिरथ स्यादीर्घसंसारिता ।।**

अथ कदाचित्तौ सिद्धार्थसुकोशलाभिधानौ यतीशौ तस्मिन्नेव व्याघ्रीसमुपवेष्टिते मगलपर्वते मासचतुष्टयपर्यंतमनशनमादाय योग च गृहीत्वा तस्थिवासौ। अथ चतुर्थमासेषु व्यतीतेषु तौ योग निष्ठाप्य पारणार्थं काचनपुरीमुपसरतावतराले तामेव व्याघ्रीं व्यलोकिषाता। इय पापिष्ठा दुष्टानिष्ट करिष्यतीति सन्यासमादाय शुक्लध्यानमवलब्य तस्थतु । इतश्च सा व्याघ्री घोरतररूपा प्राग्जन्मसस्कारजनिततीव्रक्रोधोत्ताल-ज्वलनज्वालकराला गिरिकुहरान्निर्गत्य तन्मुनियुग चखाद। तौ शुक्लध्यानबलेन निजनिरजनशुद्धात्माभिमुखपरिणामपरिणतात करणौ सर्वार्थसिद्धिमीयतु ।। इति सुकोशल कथा।।४९।।

मनुष्यकृतोपसर्गो यै सोढस्तन्नामानि सूचयन्नाह;-

**गुरुदत्तपंडवेहिं य गयवरकुमरेहिं तह य अवरेहिं।**
**माणुसकउ उवसग्गो सहिओ हु महाणुभावेहिं।।५०।।**

---

से मानव पागल भी हो जाता है। पाप का बध होता है, अनेक रोगो की उत्पत्ति होती है। मरण भी हो जाता है। मरने पर दुर्गति भी होती है और दीर्घ काल तक ससार मे भ्रमण करना पडता है अत शोक-सताप करना अनेक दोषों की वा दु खों की खान है।''

इसके बाद एक दिन सिद्धार्थ और सुकौशल मुनि व्याघ्री सेवित उसी मगल नामक पर्वत पर आकर चार महीने का उपवास ग्रहण कर चातुर्मास योग धारण कर कायोत्सर्ग मुद्रा मे स्थित होकर आत्म-ध्यान करने लगे।

चातुर्मास पूर्ण होने पर योग की निष्ठापना करके पारणा करने के लिए काचनपुर नगर मे जा रहे थे। मार्ग में जाते हुए उन दोनों ने उस व्याघ्री को देखा। ''यह दुष्ट पापिनी अनिष्ट करेगी।'' ऐसा विचार कर, सन्यास ग्रहण कर और शुक्ल ध्यान का अवलम्बन लेकर वहीं पर निश्चल खडे हो गये। इधर घोरतर विकराल रूप धारिणी पूर्व जन्म के सस्कार से उत्पन्न क्रोध की उत्ताल अग्नि की ज्वाला से विकराल व्याघ्री ने पर्वत की गुफा से निकलकर दोनो मुनिराजों का भक्षण कर लिया। नित्य निरजन शुद्धात्मा अभिमुख परिणामों से परिणत है अन्त करण जिनका, ऐसे वे दोनों मुनिराज शुक्ल ध्यान के बल से सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त हुए।

हे क्षपक ! इस प्रकार सुकुमाल और सुकौशल मुनिराज ने तिर्यञ्च कृत घोर उपसर्ग सहन किया। उनका स्मरण करके स्वकीय दु खो को भूल जाओ। **इस प्रकार सुकुमाल की कथा समाप्त हुई ।।४९।।**

अब जिन्होंने मनुष्य कृत उपसर्गो को सहन किया है उनके नामो को सूचित करते हुए आचार्य कहते हैं-

**गुरुदत्त, पाण्डव, गजकुमार आदि अन्य भी महानुभावो ने मनुष्यकृत घोर उपसर्ग सहन किये हैं ।।५०।।**

गुरुदत्तपाडवै च गजवरकुमारेण तथा चापरै ।
मनुष्यकृत उपसर्ग· सोढो हि महानुभावै ॥५०॥

**सहिओ** सोढ हु स्फुट। क सोढ ।उपसर्ग । कीदृश·। **माणुसकउ** मनुष्यकृत। कै सोढ । **गुरुदत्तपंडवेहि** गुरुदत्तपाडवै· गुरुदत्ताख्यो भूपाल पाडवा पाडुनरेद्रपुत्रा युधिष्ठिरादय गुरुदत्तश्च पाडवाश्च गुरुदत्तपाडवास्तैर्गुरुदत्तपाडवै । अत्र गुरुदत्तकथा। हस्तिनागपुरे न्यायोपार्जितवित्तो गुरुदत्तो नाम राजा। एकदा स प्रजाया पीडामापादयत व्याघ्रमनुचरमुखादश्रौषीत्। तत कोपाविष्टो भूपरिद्रढ ससैन्यो गत्वा द्रोणीमति पर्वते सत्त्वसतानघातक त व्याघ्र रुरोध। व्याघ्रोपि कादिशीकतया प्रपलाय्य गिरिगुहा प्राविशत्। सकोपो भूपो गुहातर्दारुभार क्षेपयित्वा वह्निमदीपयत्। तत्क्षणे प्रदीप्ताशुशुक्षिणिजिह्वाजालेन करालितो व्याघ्रो ममार। मृत्वा च चद्रपुर्यां कपिलो नाम द्विजन्माऽजनि, इतश्च गुरुदत्त क्षोणीपो वैराग्यकारण किंचिदवलोक्य पुत्राय राज्य दत्वा यतिर्बभूव। क्रमेण विहारक्रम विदधान चद्रपुरीमभ्येत्य कपिलब्राह्मणस्य क्षेत्रसविधे कायोत्सर्गेण तस्थौ। कपिलोपि निजपाणिगृहीता सिद्धान्नमादाय सत्त्वरमागच्छेरित्यादिश्य क्षेत्रमीयिवान्। तत् क्षेत्र कर्षणायोग्य मत्त्वा क्षेत्रातर गतो वाडव । इतश्च तदीया भार्या सबल गृहीत्वा क्षेत्र प्रति गच्छती अतराले

---

गुरुदत्त, युधिष्ठिर आदि पाण्डु पुत्र, वासुदेव का पुत्र गजकुमार, अवर शब्द से चाणक्य मुनि, अभिनन्दन आदि पॉचसौ मुनि, अकम्पन आदि सात सौ मुनिराजो ने शुद्धात्म ध्यान के बल से मनुष्यकृत घोर उपसर्ग सहन कर उत्तम पद प्राप्त किया था॥५०॥

### ❊ गुरुदत्त की कथा ❊

हस्तिनापुर मे न्यायपूर्वक धन उपार्जन करने वाला गुरुदत्त नामक राजा रहता था। एक दिन अनुचरो के मुख से उसने प्रजा को पीडा देने वाले व्याघ्र की वार्त्ता सुनी-अर्थात् एक दिन किसी अनुचर ने आकर कहा कि राजन् ! एक व्याघ्र प्रतिदिन आकर प्रजा को पीडा देता है। वह द्रोणीमति नामक पर्वत पर रहता है। अनुचर की बात सुनकर क्रोधयुक्त हुआ राजा गुरुदत्त, सेना सहित, उस पर्वत पर आया। उसने प्राणियो के समूह के घातक व्याघ्र को चारो तरफ से घेर लिया। व्याघ्र भी चारो तरफ मनुष्य का घेरा देखकर भागकर पर्वत की गुफा मे घुस गया।

कोपाविष्ट हुए राजा ने गुफा के भीतर लकडी भर कर अग्नि लगा दी। शीघ्र ही जाज्वल्यमान अग्नि से व्याप्त होकर व्याघ्र गुफा के भीतर मर गया। वह मरकर चन्द्रपुरी नगरी मे कपिल नामक ब्राह्मण हुआ। अर्थात् उसने एक ब्राह्मण के घर मे जन्म लिया।

कुछ दिनो के बाद वैराग्य का कोई कारण देख कर गुरुदत्त राजाने राज्य का भार पुत्र के लिए सौपकर दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर ली। अर्थात् वे दिगम्बर मुनि बनकर घोर तपश्चरण करने लगे। विहार करते-करते वे मुनिराज चन्द्रपुरी नगरी मे आकर कपिल ब्राह्मण के क्षेत्र के निकट कायोत्सर्ग से खडे होकर आत्मध्यान मे लीन हो गए।

कपिल ब्राह्मण भी अपनी स्त्री को "भोजन लेकर शीघ्र ही क्षेत्र (खेत) मे आना।" ऐसा कहकर कार्य करने के लिए अपने खेत मे चला गया। वहाँ उस क्षेत्र को कर्षण के अयोग्य समझकर वहॉ स्थित मुनिराज को "मेरी पत्नी को कह देना कि "ब्राह्मण दूसरे क्षेत्र मे गया है" ऐसा कहकर दूसरे खेत मे चला गया।

मुनिमालोक्य पप्रच्छ। मुने क्षेत्रेस्मिन् ब्राह्मणोस्ति नास्ति चेति तया पृष्टोपि मुनिर्न वक्ति केवल मौनमास्थाय मुनि स्थित। तत सा निवृत्य स्वमदिरमियाय। बृहद्वेलाया तेन द्विजन्मना क्षेत्रादागत्य भार्या निर्भर्त्सिता। रडे मुनिं पृष्ट्वा किं नायातासि। तयोक्त पृष्टोपि न स किंचिद्वक्ति। ततोऽकारणकुपितेन कपिलेन शाल्मलितूलेन वेष्टयित्वा स यतिर्ज्वलति ज्वलने क्षिप्त उपशमवारिणा वह्निजनिता यातना यतिर्जित्वा शुक्लध्यानेन केवलज्ञानमुत्पादितवान्। ततोऽसुरामरास्तस्य केवलिन पूजार्थमाजग्मिवास । ब्राह्मणोपि मुनिचरणार्चामाचरतोऽसुरामरानालोक्य अहो महानय मुनिस्तदस्योपसर्गमाचरता मयानिष्ट कृतमिति स्वात्मान निनिद। तदनु परमवैराग्यरससपन्नो विप्र क्षिप्र यते पादयोरुपरि पतित्वा प्रोवाच। स्वामिन्! कृपासागर! यावदनेन पापेन नारको न भवेय तावन्मा पाहि। मुनिरपि तमासन्नभव्य वाडव बुद्ध्वा दीक्षयामास। इति मनुष्य-

---

कुछ क्षण बाद कपिल की पत्नी भोजन लेकर क्षेत्र मे आई और वहाँ स्थित मुनिराज को देखकर उसने पूछा-हे मुने! इस खेत मे ब्राह्मण नहीं दीख रहा है, कहाँ गया है? परन्तु उसके पूछने पर भी मुनिराज ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। वे मौन धारण करके यथावत् खडे रहे। तब ब्राह्मणी लौटकर घर आ गई।

इसके बाद जब ब्राह्मणी भोजन लेकर नहीं आई तब बहुत समय हो जाने पर भूख से आकुल-व्याकुल होकर कपिल घर आया और ब्राह्मणी को भला-बुरा कहने लगा। ‘रे रडे! तू मुनिराज को पूछकर क्यो नहीं आई।’’ ब्राह्मणी ने कहा-‘‘मैंने तत्रस्थ मुनिराज को पूछा था परन्तु उन्होने कुछ भी उत्तर नही दिया।’’ पत्नी के वचन सुनकर पूर्व भव के सस्कार के कारण कुपित होकर कपिल मुनिराज के समीप आया। उसने शाल्मलिरुई से मुनिराज को लपेट कर उसमे आग लगा दी।

अग्निज्वाला मे जलते हुए मुनिराज ने उपशम भाव रूपी जल के द्वारा अग्निज्वालाजनित ताप को शात कर शुक्ल ध्यान के बल से केवलज्ञान प्राप्त किया।

केवलज्ञानी गुरुदत्त के चरण-कमलो की पूजा-वन्दना करके आत्मविशुद्धि करने के लिए सुर, असुर, मानव जय-जयकार करते हुए आने लगे।

मुनिराज के चरणारविन्द की पूजा करने के लिए सुर, असुर आदि महापुरुषो को आया हुआ देखकर कपिल ब्राह्मण सोचने लगा ‘‘अहो! इस महापुरुष पर घोर उपसर्ग करके मैने अपना बडा अनिष्ट किया है। इस पाप से मुझे छुटकारा कैसे मिलेगा?’’ उसका हृदय पश्चाताप से जलने लगा। वह स्वकीय निन्दा-गर्हा-आलोचना करता हुआ परम वैराग्य को प्राप्त हो शीघ्र ही केवली मुनिराज के चरण सान्निध्य मे जाकर (चरणो मे गिरकर) बोला - ‘‘हे करुणा के सागर भगवन्! मेरी रक्षा करो। इस पापके कारण मेरा नरक मे पतन न हो। हे देव। आप ही मेरे रक्षक है, मै आपकी शरण मे आया हूँ, मेरा उद्धार करो।’’ मुनिराज केवली भगवान के धर्मोपदेश को सुनकर आसन्नभव्य कपिल ने स्वात्मा की रक्षा करने के लिए भगवती आर्हती दीक्षा ग्रहण की।

कृतोपसर्गसहनशीलस्य गुरुदत्तभूपतेर्दृष्टांतकथा। अत पर पाडवाना कथा। पूर्वोपार्जिताखडपुण्यप्रभावेण दुर्जयान् दुर्योधनादीन् पराश्च शत्रून् जित्वा दक्षिणमथुराया राज्य कुर्वाणा विलसत्कीर्तिताडवा पाडवा खल्वासन्। अन्यदा ते नेमिनाथनिर्वाणमाकर्ण्य सपदि ससारशरीरभोगनिर्विण्णा स्वस्वपुत्रेषु राज्यभारमारोप्य जैनीं दीक्षा जग्रहु॰। ततस्तपस्तीव्र चिन्वाना शत्रुजयशिलोच्चयशिखरमारुह्य स्थिरप्रतिमायोगेन शिलोत्कीर्णा इव तस्थु । तथास्थितान् तानाकर्ण्य केचिद्दुर्योधनगोत्रसभवा राजपुत्रास्तत्पूर्ववैर स्मृत्वा शत्रुजय समागत्य चात्यर्थमतूतुदत्। कथ। मुकुटकुडलहारकेयूरकटकाद्याभरणानि लोहमयानि कृपीटयोनिघनज्वालाभिस्तप्तानि कृत्वा पाडवाना भुजाद्यवयवेषु ते पापा निचिक्षिपु , वह्नितापितेषु लोहेषु पीठेषु ते तान् न्यवीविशश्च। ततो युधिष्ठिरभीमार्जुनास्त्रय स्वस्यैव कर्मविपाक दुर्निवार गणयत ततो भिन्न ज्ञानोपयोगदर्शनोपयोगाद-भिन्नमात्मानमत्यर्थं भावयत शुक्लध्यानबलेन घातिकर्माणि समूलकाष कषित्वा केवलज्ञान च समुत्पाद्य शेषाण्यपि कर्माणि क्षपयित्वातकृतो निर्वाण शातमक्षयसुखमीयु । नकुलसहदेवौ तु अद्यापि यदि राजा

इस प्रकार गुरुदत्त मुनिराज मानव कृत घोरोपसर्ग आने पर भी अपने स्वभावसे च्युत नहीं हुए। स्वात्मा के ध्यान मे मग्न होकर उन्होने केवलज्ञान प्राप्त किया, उसी प्रकार हे क्षपक! तुम भी उन महामुनियों का स्मरण कर अपनी आत्मा मे स्थिर होने का प्रयत्न करो। स्व स्वभाव में लीन होओ। बाह्य प्रवृत्तियों का निरोधकर आत्मा का ध्यान करो। इस प्रकार गुरुदत्त की कथा समाप्त हुई।

**❊ पाण्डवो की कथा ❊**

पूर्वोपार्जित अखण्ड पुण्य के प्रभाव से दुर्जेय दुर्योधन आदि शत्रुओ को जीतकर सुशोभित कीर्त्ति वाले पाण्डव दक्षिण मथुरा मे आकर राज्य कर रहे थे।

एक दिन नेमिनाथ भगवान को निर्वाणपद की प्राप्ति सुनकर शीघ्र ही ससार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर उन्होंने अपने-अपने पुत्रो को राज्य-भार देकर जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली।

अनेक देशों मे परिभ्रमण कर, धर्म का प्रचार कर, घोर तपश्चरण करके कर्मों का सवर और निर्जरा करते हुए शत्रुजय पर्वत के उच्च शिखर पर आकर शिलापर उत्कीर्ण पत्थर की प्रतिमा के समान स्थिर प्रतिमायोग से कायोत्सर्ग से स्थित हुए।

''पाँचो पाण्डव मुनि शत्रुजय पर्वत पर ध्यान कर रहे हैं'' ऐसा सुनकर, दुर्योधन के गोत्रोत्पन्न कोई राजपुत्र उस पर्वत पर आये। पूर्व वैर का (इन्होंने हमारे पिता-चाचा आदि का घात कर राज ग्रहण किया था ऐसा विचार कर) स्मरण कर उन्होंने ध्यानस्थ पाण्डवो को बहुत दु ख दिया। अग्निज्वाला से सतप्त लोहमयी मुकुट, कुण्डल, हार, केयूर (बाजुबन्द) कड़ा आदि आभूषण उन पापियो ने पाण्डवो के भुजादि अवयवों मे पहना दिये। अग्नि से सतप्त लोहमयी आभूषणो से उनका शरीर जल उठा।

युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन ये यतिराज स्वकीय कर्मों के दुर्निवार विपाक का चिंतन कर आत्मा से भिन्न शरीर के ममत्व को छोडकर ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगमय स्वकीय आत्माकी भावना करके निर्विकल्प समाधि में लीन हो, शुक्ल ध्यान के बल से घातिया कर्मों का समूल नाश कर और केवल ज्ञान प्राप्तकर उसी क्षण चार अघातिया कर्मों का क्षय करके शात (निराकुल) अक्षय सुखमय निर्वाण को प्राप्त हो गये। अर्थात् अतकृत केवली होकर निर्वाण को प्राप्त हो गये।

आदिशति तदा बाहुबलेन प्रतिपक्षान् हन्व इति क्षण ध्यात्वा पुन स्वीकृतयतिव्रतरत्नस्मरणात्प्रतिबुद्ध्यात्मान निंदित्वा परमधर्म-ध्यानेन सर्वार्थसिद्धिमीयतु·। इति पाडवाना कथा। न केवल पाडवादिभि उपसर्ग सोढ । **गयवरकुमरेहि** गजकुमारेणापि सोढ तह य अवरेहिं तथापरै· तथा तेनैव प्रकारेण अन्यैरपि सोढ । किंविशिष्टैस्तै·। **महाणुभावेहि** महानुभावै सत्त्वाधिकै महापुरुषै·। अत्र गजकुमारकथा। इह प्रसिद्धाया द्वारवत्या वसुदेवोऽनेकभूपालकृतपादसेवो राजते। तस्यात्मजो गजकुमार पर सर्वेषु राजकुमारेषु स पराक्रमसार । अन्यदा नारायणेन य पोदनपत्तननायकमपराजित रणभूमौ विजित्य बद्ध्वा चानयति स मनोवाछित लभते इति घोषणा निजनगर्यां दापिता। ता गजकुमारो निशम्य त्वरित तत्र गत्वा अपराजितरणभूपाल रणक्षोणौ जित्वा बद्ध्वा चानीय वासुदेवस्य समर्पितवान्। ततश्च कामचार चरित्वा स द्वारवती-स्त्रीजन सेवमान· पासुलश्रेष्ठिपत्न्यामासक्तोऽभूत्। यदुक्तम्-

---

नकुल और सहदेव ने विचार किया कि यदि अभी भी राजा (युधिष्ठिर) आदेश देते हैं तो "हम अपने बाहुबल से शत्रुओ को यमराज के घर पहुँचा सकते हैं।" इस प्रकार एक क्षण विचार कर, पुन स्वीकार किये हुए मुनिव्रत रूपी रत्नो का स्मरण होने से प्रतिबद्ध होकर (अपने स्वरूप को समझकर) स्वात्मा (स्वकीय) की निन्दा और गर्हा करके परम निर्विकल्प धर्मध्यान के बल से सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त हुए।

हे क्षपक ! तू इन पाण्डवों का चिन्तन कर। उनके बराबर तो तेरा दु ख नहीं है। इस शरीर की ममता का परित्याग कर। अनन्त सुख के पिण्ड स्वकीय आत्मा का ध्यान कर। आत्मानुभव रूप अमृत के सागर मे डुबकी लगा। यह तुम्हारा अन्तिम समय है, ज्ञानसुधा रस का पान कर।

**॥ पाण्डवो की कथा समाप्त हुई ॥**

केवल पाण्डवो ने ही मनुष्यकृत उपसर्ग सहन नहीं किया अपितु अन्य अनेक महापुरुषो ने भी मनुष्यकृत उपसर्ग सहन किये हैं जिनकी गणना मे गजकुमार राजपुत्र है। उसकी कथा प्रारम्भ करते हैं-

प्रसिद्ध द्वारिका नगरी मे अनेक राजाओ के द्वारा सेवित हैं चरण जिसके ऐसा वासुदेव नामक राजा राज्य करता था। उसके अनेक राजकुमारो मे प्रसिद्ध पराक्रमी गजकुमार नामक पुत्र था।

एक दिन वासुदेव (श्रीकृष्ण) नारायण ने अपनी नगरी में घोषणा की कि "जो कोई महानुभाव पोदनपुर के नायक अपराजित नामक राजा को रणभूमि मे जीतकर और उसको नागपाश से बाँधकर मेरे चरणों मे झुकायेगा, उसको मैं मनोवाछित वस्तु प्रदान करूँगा"।

राजकीय घोषणा को सुनकर गजकुमार ने शीघ्र ही रणभूमि में जाकर रणागण मे अपराजित राजा को जीतकर, उसे नागपाश से बाँधकर वासुदेव को समर्पित कर दिया। वासुदेव ने भी अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार गजकुमार को आदेश दिया कि "मेरे राज्य में तुम इच्छानुसार वस्तु ग्रहण कर सकते हो, इच्छानुसार चेष्टा कर सकते हो।"

किसी भी वस्तु की प्राप्ति होने पर यह मानव उसका सदुपयोग भी कर सकता है और दुरुपयोग भी। राजा की आज्ञा से मनोवाछित वर प्राप्त कर गजकुमार ने अच्छे धार्मिक काम तो नहीं किये प्रत्युत् परस्त्री-लम्पट होकर उसने द्वारिका में स्थित कई स्त्रियों का शीलभग किया और पासुल नामक सेठ की पत्नी मे आसक्त हो गया। सो ही कहा है-

स्वाधीनेपि कलत्रे नीचः परदारलपटो भवति।
परिपूर्णेपि तडागे काकः कुभोदक पिवति ॥

अन्यदा गजकुमारो नेमिनाथवंदनार्थं समवशरणमीयिवान्। तत्र भगवत परागनापरित्यागलक्षण धर्ममुपदिशतो मुखादिद पद्यमश्रोषीत। उक्त च-

चिताव्याकुलताभयारतिमतिभ्रशातिदाहभ्रम-
क्षुत्तृष्णाहतिरोगदुःखमरणान्येतान्यहो आसताम्।
यान्यत्रैव परागनाहितमतेस्तद्भूरि दुःखं चिरं
श्वभ्रेऽभापि यदग्निदीपितवपुर्लोहांगनालिगनात् ॥

इत्यादिक श्रुत्वा गजकुमारस्तत्क्षणादेव विरक्त समभूत्। ततो जिनपादाते तपो जग्राह। गुरुसेवया श्रुतपदान्यन्वासीत्। कालक्रमेण गिरनार-गिरि विकटाटव्या पादपोपयानमरण स्वीकृत्य सन्यासेन स्थित । इतश्च पासुलश्रेष्ठी चिरतननिजागनासक्तिजनित वैरमनुस्मृत्य तीव्रतरक्रोधावेशात्त मुनीन्द्र गजकुमार लोहकीलकै कीलयित्वा वहुतरा पीडा चापाद्य प्रपलाय्य गत । मुनीन्द्रोऽपि तथाविधा वाधा सोढ्वा धर्मध्यानेन स्वर्गगत । इति गजकुमार कथा ॥५०॥

---

"नीच पापी पुरुष स्वाधीन सती सुन्दर पत्नी के होने पर भी परदार-लम्पट हो जाता है। जैसे स्वच्छनीर से परिपूर्ण तालाव के होने पर भी उस तालाव को छोडकर कोआ गन्दे पानी से भरे हुए घडे मे मुख डालता है।"

एक दिन गजकुमार नेमिनाथ भगवान की वन्दना करने के लिए समवसरण मे गया और वहाँ पर भगवान के मुख से परस्रीत्याग लक्षण धर्म का उपदेश सुनते हुए उसने यह पद्य सुना। उन्होंने कहा-

"अहो ! परागना का सेवन करने वाले को इस लोक मे चिता, व्याकुलता भय, अरति (धार्मिक कार्य वा स्वकीय स्री-पुत्र आदि से अरुचि), मति का नाश, अतिदाह, भ्रम, भूख-प्यास, अति दारुण रोग, दु ख और मरण आदि कष्ट होते ह आर परलोक मे नरकगमन, वहाँ पर अग्नि से तप्तायमान लोहमयी पुतली के आलिंगन से उत्पन्न अनेक प्रकार के दु ख भोगने पडते हे, जिनका कथन जिह्वा से नहीं हो सकता।"

भगवान नेमिनाथ के मुखारविन्द से परस्री-सेवन से होने वाले दु खों को सुनकर गजकुमार का हृदय कॉप उठा। उसने ससार के सारे द्वन्द्व को छोडकर भगवान के चरण मूल मे जेनेश्वरी दीक्षा ग्रहण करली।

भगवान के चरण मूल मे कुछ दिन रहकर उसने श्रुतपदों का अभ्यास किया।

अनेक देशों मे विहार कर गजकुमार एक दिन गिरनार पर्वत की अटवी मे आये और पादपोपयान मरण स्वीकार कर सन्यास मे लीन हो गये।

उस अटवी में पासुल सेठ आया। पूर्वकालीन स्वकीय अगना के सेवन से उत्पन्न हुए वैर का स्मरण कर उसका हृदय क्रोध से तिलमिला उठा। उसने गजकुमार का अनेक कुवचनो के द्वारा तिरस्कार किया और लोहमयी कीलो से उनके शरीर को छेदकर वह चला गया। गजकुमार मुनिराज ने सम भावो से उन सब कष्टों को सहन किया और वे प्राण छोडकर धर्मध्यान के बल से स्वर्ग में गए॥५०॥

(किसी कथानक मे गजकुमार के मस्तक पर विप्रने अग्नि जलाई ऐसा कथन भी आता है।)

॥ इति गजकुमार कथा ॥

## ❋ चाणक्य मुनि की कथा ❋

राजपुरोहित कपिल की पत्नी देविला की कुक्षिसे उत्पन्न चाणक्य नामक एक ब्राह्मणपुत्र था। यह अत्यन्त बुद्धिमान् था। एक दिन चाणक्य ने महीधर नामक मुनिराज के दर्शन किये और उनके मुखारविन्द से धर्मोपदेश सुना। मुनिराज के मुख से ससार की असारता जान कर और स्वय उसका अनुभव कर चाणक्य का मन ससार से भयभीत हो गया और ससार-बन्धन से छूटने के लिए उसने मुनिराज के चरणकमलो मे जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली। मुनिराज पॉच सौ शिष्यो के साथ अनेक देशो मे भ्रमण करते हुए क्रौंचपुर मे आये और अपनी आयु को बहुत कम समझकर वही पर बाह्य उद्यान मे प्रायोपगमन सन्यास ले लिया।

मुनिराज का आगमन सुन नागरिक शुद्ध भावो से मुनिराज की वन्दना करने के लिए आये परन्तु चाणक्य के पूर्व भव के शत्रु के चाणक्य को देखकर ऑखो से क्रोध की चिनगारियॉ निकलने लगीं। प्रतिशोध की भावना से उसने मुनिराज के चारों तरफ घास का पुजकर आग लगा दी।

अग्नि के द्वारा मुनिराज का शरीर लकडी के समान जलने लगा परन्तु यतिराज का मन किचित् मात्र भी खेद-खिन्न नहीं हुआ। वे शरीर से उपयोग को हटाकर सहज शुद्ध स्वभाव मे स्थिर हो गये। तत्काल शुक्ल ध्यान के बल से घातिया कर्मो का क्षयकर केवलज्ञानी बने और अन्तकृत केवली होकर तत्क्षण ही उन्होने मुक्तिवधू का वरण कर लिया।

हे क्षपक! उन मुनिराज के समान तो तुझे दु:ख नहीं है। उन मुनिराज का चिन्तन करो। 'उनके समान ही मेरी आत्मा है' ऐसी भावना करो सहज शुद्ध स्वभाव मे स्थिर होने का प्रयत्न करो। शारीरिक दु खो की तरफ लक्ष्य मत दो। आधि, व्याधि और उपाधि से उपयोग को हटाकर समाधि मे लीन हो जावो। यदि किसी कारणवश थोडासा भी मन विचलित हुआ तो दुर्गति मे जाना पडेगा।

मानवकृत उपसर्ग को सहन करने वाले चाणक्य की कथा समाप्त हुई।

## ❋ अभिनन्दन आदि पॉच सौ मुनिराजो की कथा ❋

दक्षिण भारत मे कुभकाटकर नामक नगर मे दण्डक नामक राजा रहता था। उसके हृदय मे जिन-भक्ति कूट-कूट कर भरी थी। उसका बाल नामक राजमत्री जिनधर्म से द्वेष रखता था। उस मत्री के सहवास से राजा ऐसा मालूम होता था जैसे विषधर से वेष्टित चन्दन वृक्ष। अर्थात् राजा चन्दनवृक्ष के समान था और मत्री सर्प के समान।

एक दिन उस नगर मे अभिनन्दन आदि पॉच सौ मुनिराजो का सघ आया। अभिमानी मत्री शास्त्रार्थ के लिए मुनिराजो के समीप गया। खण्डक नामक मुनिराज ने स्याद्वाद के बल से वस्तु का यथार्थ रूप

निरूपण करके राजमत्री को निरुत्तर कर दिया। लज्जित होकर मत्री अपने घर आया परन्तु मानहानि की चोट उसके हृदय को कचोट रही थी। उसको कहीं शाति नहीं थी। उसने बिना कारण मुनिराज से द्वेषकर उनको मारने का निश्चय किया। सत्य है, अज्ञानी जन विना कारण वैर-विरोध कर स्व का घात करते हैं।

"राजा जिनधर्मावलम्बी है, उसके समक्ष मै इन दिगम्बरो का घात कैसे कर सकता हू अत ऐसा कोई उपाय हो जिससे राजा स्वय धर्मद्रोही बन जाये, मेरी मनोकामना पूरी हो सकती है, अन्यथा नहीं।" ऐसा विचार कर उसने एक भॉड को मुनि बनाकर राजमहल मे रानी के पास भेजा। वह भाँड रानी के निकट जाकर हँसी-मजाक करने लगा। इधर राजमत्री ने राजा के समीप जाकर कहा कि "राजन्! जिन के चरणों की आप दिन-रात सेवा करते हैं जिन को परमपूज्य मानते है, उनका दुष्कृत्य देखो, कितनी नीच है- उसकी चर्या।" उस भॉड की लीला देखकर राजा के क्रोध की सीमा नहीं रही। उसने आज्ञा दी कि सारे मुनियो को घानी मे पेल दो। मत्री तो यह चाहता ही था, उसका मन बॉसो उछलने लगा। सत्य ही है, मनोकामना पूरी होने पर किसको आनन्द नहीं आता। राजाज्ञा पाकर राजमत्री ने अभिनन्दन आदि पाँच सौ मुनिराजों को तिल के समान घानी मे डालकर पेल दिया।

सारे मुनिराजो ने स्वकीय कर्मविपाक फल का विचार कर समभावो से उपसर्ग सहन किया। वे निर्विकल्प समाधि मे लीन हुए और केवलज्ञान प्राप्त कर उन्होने मोक्षपद प्राप्त किया।

हे क्षपक! तुझे कोई घानी मे तो नहीं पेर रहा है, मानवकृत घोरोपसर्ग सहन करने वाले उन अभिनन्दन आदि मुनिराजो का चिन्तन कर। वेदना का अनुभव मत कर। यह वेदना नगण्य है। पराधीन होकर तूने अनेक दु ख भोगे अत समता भाव धारण कर।

### ❊ अकम्पन मुनिराज की कथा ❊

उज्जयिनी नगरी मे धर्मात्मा, न्यायी, प्रचण्ड योद्धा श्रीवर्मा नामक राजा राज्य करता था। उसके राज्य मे प्रजा चैन की वशी बजाती थी। उस राजा के बलि, बृहस्पति, प्रह्लाद और नमुचि नामक चार राजमत्री थे। ये चारो जैनधर्म के द्रोही थे- इसलिए वह धर्मात्मा श्रीवर्मा राजा सर्पों से वेष्टित चन्दन वृक्ष के समान प्रतीत होता था।

एक दिन सात सौ मुनियो के साथ अकम्पनाचार्य उज्जयिनी नगरी के बाह्य उद्यान मे आकर ठहर गये। अकम्पनाचार्य ने अपने निमित्तज्ञान के द्वारा 'सघ पर कोई उपसर्ग होने की सभावना है' ऐसा जानकर सघस्थ सर्व मुनियो को आदेश दिया कि "कोई भी मुनिराज राजा तथा राज्य-कर्मचारियो के साथ

वार्त्तालाप न करे। सब मौन धारण कर आत्मध्यान मे मग्न रहे, अन्यथा सघ पर उपसर्ग आने की सभावना है।'' गुरु की आज्ञा अनुसार सर्व मुनिराजो ने मौन ग्रहण कर लिया। ठीक ही है- जो गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य करते हैं वे शिष्य प्रशसनीय होते है।

जब राजा ने मुनिराज का आगमन सुना तो उसका शरीर पुलकित हो उठा और मन मयूर नाच उठा। पुरजन-परिजन सहित राजा मुनिराज के दर्शन करने निकला। राजा को जाते देखकर अनमने भाव से चारो मन्त्री भी साथ चलने लगे। उनका हृदय कपट से भरा हुआ था।

बाह्य उद्यान मे जाकर मुनिराज के दर्शन करके राजा के नेत्र आनन्द अश्रु से भीग गये। शरीर रोमाचित हो गया। वाणी मे गद्‌गदपना आ गया। राजा ने हर्षित होकर सर्व मुनिराजो को पृथक्-पृथक् नमस्कार किया परन्तु किसी भी मुनिराज ने न तो आशीर्वाद दिया और न वार्त्तालाप किया।

तत्त्ववेत्ता राजा उनको ध्यानस्थ देखकर बहुत आनन्दित हुआ। मुनिराज के दर्शन कर जब राजा अपने घर जाने लगा तब चारो मन्त्री मुनिराज की निन्दा करने लगे और कहने लगे ''राजन् ! ये महामूर्ख हैं इसलिये मौन का आश्रय लेकर बैठ गये। आपने सबको नमस्कार किया परन्तु मूर्खों ने आपको आशीर्वाद भी नहीं दिया।'' राजा उनकी बाते सुन रहा था किन्तु प्रत्युत्तर नहीं दे रहा था। उसके हृदय में जिनधर्म की श्रद्धा अटूट भरी हुई थी। कुछ दूर चलने के बाद मार्ग मे श्रुतसागर नामक मुनिराज दृष्टिगोचर हुए जो नगर से आहार करके आ रहे थे। मुनिराज को देखकर मत्रियो को क्रोध उमडा और उन्होने कुवचन कहकर मुनिराज का तिरस्कार किया। बात-ही-बात मे मत्रियो के साथ श्रुतसागर महाराज का शास्त्रार्थ प्रारभ हो गया। मुनिराज ने स्याद्वादमय वाणी से मत्रियो को पराजित कर दिया।

मत्रियो को परास्त कर मुनि श्रुतसागर ने गुरुदेव अकम्पनाचार्य के समीप जाकर सारा समाचार निवेदन किया। क्योकि यह मुनियो की समाचार विधि है कि मार्ग मे या स्थान मे जो कुछ किसी के साथ बोलना या किसी वस्तु की प्राप्ति होती है, वह सब गुरु को जाकर कहना।

मुनि श्रुतसागर के द्वारा कथित वृत्तान्त को सुनकर खेद प्रकट करते हुए आचार्यदेव ने कहा- ''हाय ! सर्वनाश उपस्थित हो गया। तुमने अपने हाथो से सघ पर कुठाराघात किया। देखो, तुमने उन मत्रियो से शास्त्रार्थ कर सघ की इतनी हानि की है, जिसका कथन करना भी सभव नहीं है।''

श्रुतसागर मुनिराज आहारचर्या के लिए नगर मे गये हुए थे। उनको गुरु-आज्ञा की जानकारी नहीं थी, इसलिए उन्होने मत्री के साथ विवाद किया था, यदि उनको आज्ञा विदित होती तो वे गुरु-आज्ञा का भग कभी नहीं करते।

मुनि श्रुतसागर ने हाथ जोड नमस्कार कर विनय से पूछा "गुरुदेव! कोई ऐसा उपाय हे जिससे सघ की रक्षा हो सकती हो?" गुरुदेव ने कहा "जहॉ तुमने मत्रियो के साथ शास्त्रार्थ किया था, उसी स्थान पर जाकर रात्रिमे कायोत्सर्ग से खडे रहो तो सघ की रक्षा हो सकती है, अन्यथा नहीं।" धन्य है श्रुतसागर मुनि जिन्होने सघ की रक्षा के लिए रात्रि मे वहॉ जाकर कायोत्सर्ग करना स्वीकार कर लिया। वे उसी समय उस स्थान पर जाकर आत्मध्यान मे लीन हो गए।

जब मुनिराज के साथ शास्त्रार्थ मे चारो मत्रिगण परास्त हो गये तव उन्होने विना कारण क्रोधित होकर अपने मन मे उनको मारने का निश्चय किया। ठीक ही है, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि को तत्त्व का उपदेश रुचिकर नहीं होता। उसी दिन एक प्रहर रात्रि बीत जाने पर वे चारो मत्री हाथ मे तलवार लेकर सर्वसघ का सर्वनाश करने के लिए निकल पडे। मार्ग मे श्रुतसागर मुनिराज को देखकर उन्होने विचार किया कि बडे भाग्य से हमारा शत्रु यहीं मिल गया। इस समय अपनी मानहानि करने वाले का वध कर अपमान का प्रतिशोध लेना चाहिए। इस प्रकार चारो ने निश्चय कर मुनि का मस्तक विदीर्ण करने के लिए उनकी ग्रीवा पर खड्ग का प्रहार किया। परन्तु मुनिराज के तप के प्रभाव से शासन देवता ने आकर मुनि की ग्रीवा पर तलवार खींचे हुए दुष्ट मत्रियो को खड्ग सहित स्तभित कर दिया।

प्रात काल होते ही मत्रियो के दुष्कृत्य के समाचार बडवानल के समान सारे नगर मे फैल गये। सारे नगर-निवासी उन्हे देखने के लिए दौड पडे। राजा भी उनको देखने के लिए गया।

सारी जनता ने एक स्वर मे मत्रियो को धिक्कारना प्रारभ किया। ठीक ही है- निरपराध महापुरुषो को कष्ट देने वाले इस लोक मे धिक्कार-अपयश आदि को प्राप्त होते है और पर-लोक मे दुर्गति मे जाते है। अन्त मे, शासनदेवता ने प्रकट होकर मत्रियो की भर्त्सना की, ताडना की और उनको बधनमुक्त कर दिया तथा मुनिराज के चरणारविन्द की पूजा करके शासनदेवता अपने स्थान पर चले गए।

राजा श्रीवर्मा मत्रियो की इस दुष्टता को जान कर बहुत क्रोधित हुआ। उसने उनको मत्रिपद से च्युतकर गधे पर चढाकर स्वकीय राज्य की सीमा से बाहर निकाल दिया। ठीक ही है- पापियो को दण्ड मिलना ही चाहिए।

निष्कासित मत्रियो के भाग्यचक्र ने पलटा खाया और वे चारो हस्तिनापुर के अनुशास्ता पद्मनामक राजा के राज्य मे जाकर पद्म राजा के शत्रु सिंहबल को अपने पराक्रम से वश कर, उसे पद्म के आधीन कर उसके मत्री बन गए। राजा ने खुश होकर इच्छित वस्तु मागने के लिए प्रेरित किया परन्तु उन्होने कहा "समय आने पर याचना करेगे। अत अभी हमारा वर आपके पास धरोहर मे सुरक्षित रहे।"

कुछ दिन बाद अनेक देशो मे विहार कर धर्मप्रचार करते हुए अकम्पनाचार्य सघ सहित हस्तिनापुर

के बाह्य उद्यान मे आकर उपस्थित हुए। मुनिसघ के शुभागमन का सवाद सुनकर नगरनिवासी उत्साह के साथ वन्दना करने के लिए जाने लगे।

मुनिराज के आगमन की सूचना सुनकर क्रोधित होकर मत्रियो ने प्रतिशोध लेने का निर्णय किया।

एक मत्री ने कहा - ''बन्धु! यही अवसर है, अब हम राजा से अपनी अभिलाषा प्रकट करे। देखो, अभी तक अपमान की ज्वाला से मेरा हृदय धधक रहा है, मित्रो! इन दुष्ट साधुओं के कारण हमे राज्य से निष्कासित होकर भटकना पडा था, हमारी बडी दुर्दशा हुई थी। हमे गर्दभ पर चढाकर देश-निर्वासन का दण्ड इन्हीं के कारण दिया गया था। आज तक इन्हीं दुष्टो के कारण हम अपमानित जीवन व्यतीत कर रहे हैं, अत ऐसे अवसर को अपने हाथो से नहीं जाने देना चाहिए।'' दूसरे मत्री ने उसके कथन का समर्थन किया और प्रतिशोध लेने की भावना प्रकट की।

तीसरे मत्री ने कहा- ''राजा तो इनका भक्त है, वह कैसे इनकी दुर्दशा होने देगा? अत कोई ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे हम इनका प्रतिशोध करके अपमान का बदला ले सके।'' इतने मे प्रसन्नचित्त होकर बलि नामक मत्री ने कहा- ''तुम लोग व्यर्थ चिता मे पडे हो। सिहबल को बन्दी बना कर राजा के आधीन किया था, उस समय राजा ने हमे पुरस्कार देने का वचन दिया था- आज वह सुअवसर आया है। पुरस्कार मे राजा से सप्त दिवसीय राज्य लेकर इन दुष्टो के प्राणो का सहार कर प्रतिशोध लेना चाहिए।'' बलि के कथन का तीनो मत्रियो ने समर्थन किया और राजा के समीप जाकर सात दिन के लिए राज्य देने की याचना की।

राजा वचनबद्ध थे और उन्हे यह कल्पना भी नहीं थी कि मत्री इसका दुरुपयोग कर करुणा-सागर मुनिराजो के प्राणो का सहार करेगे। उन्होने उनको सप्त दिवस के लिए राज्य दे दिया।

कपटी मत्री-चतुष्टय ने राज्य-शासन का सूत्र अपने हाथ मे आया हुआ देखकर मुनिराजो के प्राण हरने के लिए यज्ञ करने का उपक्रम किया, जिससे किसी के मनमे अनिष्ट की आशका न हो।

दुष्ट मत्रियो ने मुनिसघ को यज्ञ मण्डप के मध्य स्थापित कर उनके चारो तरफ ईधन एकत्र किया और वेद की ऋचाओं का उच्चारण करते हुए यज्ञ प्रारम्भ किया। उसमे हजारो निरपराध पशुओ की आहुति दी जाने लगी। देखते-देखते दुर्गन्ध के मारे वहॉ ठहरना असभव हो गया। दुर्गन्धित धुँए से व्योम मण्डल इस प्रकार व्याप्त हो गया, मानो इस महापाप को न देख सकने के कारण ही सूर्य अस्त हो गया हो।

इस विषम परिस्थिति मे सर्व मुनिराज (सात सौ मुनिराज) नियम सल्लेखना धारण कर मेरु के समान अचल रहकर ध्यानमग्न हो जिनेन्द्रदेव के गुणो का और शुद्धात्मा का ध्यान करने लगे। सत्य है-

दिगम्बर जैन साधु दु सह परीषहो को सहन करने मे भयभीत या आकुल-व्याकुल नहीं होते। वे धीरता से सारे कष्टो को सहन कर अपने मार्ग पर दृढ रहते है।

हस्तिनापुर मे जब सात सौ मुनिराजो पर घोरोपसर्ग हो रहा था, उस समय मिथिलानगरी मे श्रुतसागर मुनिराज ने श्रवण नक्षत्र के कॅपने से अपने निमित्तज्ञान से जान लिया कि हस्तिनापुर मे अकम्पनादि सातसौ मुनिराजोंपर घोर उपसर्ग हो रहा है, तब उनके मुख से अकस्मात् हाय ! हाय ! शब्द निकल पडा। वे बोल पडे, 'अरे ! मुनिराजो को कितना कष्ट हो रहा है।' उनके समीप बैठे हुए पुष्पदन्त नामक क्षुल्लक ने पूछा, "हे गुरुदेव ! किस स्थान पर यह अनर्थ हो रहा है? मुनिराजो पर घोर उपसर्ग हो रहा है ?" क्षुल्लक पुष्पदन्त ने पुन· जिज्ञासा की। "हे देव ! इसके निवारण का उपाय क्या है?" मुनिराज ने कहा- विक्रियाऋद्धिधारी विष्णुकुमार मुनि इस उपसर्ग का निवारण कर सकते हैं।" मुनिराज की बात सुनकर शीघ्र ही क्षुल्लक विष्णुकुमार मुनिराज के पास पहुॅचे और उन्होंने उनको सारा वृत्तान्त कहा।

सर्वप्रथम विष्णुकुमार मुनिराज ने अपनी ऋद्धि की परीक्षा की। जब उन्होने अपना हाथ फैला कर देखा-तब उनका हाथ बहुत दूर तक फैल गया।

हस्तिनापुर के राजा विष्णुकुमार के अग्रज थे। महापद्म राजा के दो पुत्र थे विष्णु और पद्म। विष्णु कुमार ने महापद्म राजा के साथ तपोवन को स्वीकार किया और पद्म ने राज्य।

विष्णुकुमार तत्काल हस्तिनापुर आये। उन्होने अपने अग्रज पद्म राजा को सम्बोधित करते हुए कहा-"हे भव्य ! आपने यह क्या किया? हा दैव? आपके देखते देखते तपस्वी जैन मुनियो पर इस प्रकार का अत्याचार होता रहे और आप मूक बनकर दृश्यावलोकन करते रहे ? क्या आपको ज्ञात नहीं है कि आपके ही नगर मे निर्दोष मुनिसघ पर घोर उपसर्ग हो रहा है। आप शीघ्र ही इस अत्याचार को रोकिए अन्यथा आपको भयकर दु खो का सामना करना पडेगा।"

अपने प्रिय अनुज मुनिराज के सारगर्भित शिक्षायुक्त उपदेश को सुनकर राजा पद्म ने विनीत शब्दों में कहा- "हे गुरुदेव ! मैं इस समय प्रतिज्ञा के कठिन बधन मे जकडा होनेसे विवश हूॅ। मुझे यह ज्ञात नहीं था कि दुष्ट मायावी मत्री मेरे राज्य मे ऐसा अनर्थ करेगे। हे गुरुदेव ! आप ही कोई उपाय कीजिए जिससे मुनिसघ की विपत्ति का निवारण हो जावे।"

विष्णुकुमार मुनिराज विक्रिया ऋद्धि से वामन ब्राह्मण का वेष धारण कर वेदमत्रो का उच्चारण करते हुए बलि के यज्ञ-मण्डप मे पहुॅच गए। यज्ञमण्डप मे उपस्थित सभी लोग ओजस्वी ब्राह्मण के मुख से वेदमत्र का पाठ सुनकर मत्रमुग्ध हो गए। बलि के आनन्द का पारावार नहीं था। उसने भावविह्वल होकर कहा,

"हे विप्रवर! मैं आपके शुभागमन के लिए कृतज्ञ होकर आपका सहर्ष स्वागत करता हूँ। आपने यज्ञमण्डप में आकर मुझ पर बडी कृपा की है, अत आज मै आप पर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। इस समय आप अपनी इच्छानुसार वस्तु माग सकते हो, बोलो! आपको क्या चाहिए?"

बलि की प्रेरणा से वामनरूप धारी विष्णुकमार ने कहा, "हे राजन्! यदि आप मुझे कुछ देना चाहते हो तो मेरे पैर से मापित तीन डग जमीन मुझे प्रदान करे, मै अपनी इच्छानुसार छोटी सी झोपडी बना कर रहूगा।"

वामन ब्राह्मण की बात सुनकर सारे लोग हँसने लगे। उन्होने ब्राह्मण को कहा- "हे विप्र! तुम इतनी छोटी वस्तु की क्या याचना करते हो? इस दानी राजा के समीप आये हो ऐसी वस्तु की याचना करो जिससे तुम्हारा सारा दारिद्र्य दूर हो जाये।"

ब्राह्मण ने कहा, "अधिक लोभ नहीं करना चाहिए क्योकि सारे पापो की जड लोभ है। यदि आप कुछ देना चाहते हो तो मेरी इच्छानुसार जमीन प्रदान करो, अन्यथा मै यहाँ से चला जाता हूँ।"

बलि ने तीन डग जमीन देने की स्वीकृति दी और कहा- "विप्रराज! तुम अपनी इच्छानुसार अपने पैरो से जमीन नाप लो।"

बलि की अनुमति पाकर विक्रिया से उन्होने अपने पैर को बढाया। एक पैर मेरु पर्वत पर रखा और दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर, जब तीसरा पैर रखने के लिए जगह नहीं रही, पैर नभस्थल मे लटक गया, तो देवताओ के आसन कम्पायमान हो उठे। "क्षम्यता, क्षम्यता, क्षम्यता" ध्वनि से नभस्थल गुजित हो उठा। विष्णुकुमार ने बलि की ताडना की। सात सौ मुनिराजो का उपसर्ग दूर किया। सब लोग धन्य-धन्य कहने लगे।

हे क्षपक! तुम अपने परिणामो को निर्मल कर कष्टो पर विजय प्राप्त करने के लिए उन मुनिराजो का चिंतन करो, जिससे कष्ट सहन करने की क्षमता प्राप्त होगी। परिणामो मे स्थिरता आयेगी।

जैसी आत्मा उनकी है, वैसी ही तेरी आत्मा है। उस अपनी आत्मा का अनुभव करो। वह भूख, प्यास, आधि, व्याधि से रहित है। ये सारी बाधाये या कष्ट शरीर के साथ सम्बन्धित हैं। तुम शरीर के ममत्व का त्याग करके स्व-स्वरूप मे रमण करने का प्रयत्न करो। शरीर सम्बन्धी सुख-दु ख का अनुभव मत करो।

यह तुम्हारा अन्तिम समय है, इसमे तुम सावधान रहो, किसी भी विषय मे स्वमन को मत भटकाओ, अन्यथा ससार के अनेक दु खो का सामना करना पडेगा। अत· तुम सावधान होकर अपने मन को शुद्धात्मा के चितन मे स्थिर करो।

देवनिकायनिर्मितोपसर्गविषहण यैरकारि तानुदाहरति -

**अमरकओ उवसग्गो सिरिदत्तसुवण्णभद्दआईहिं।**
**समभावणाए सहिओ अप्पाणं झायमाणेहिं ॥५१ ॥**

अमरकृत उपसर्ग श्रीदत्तसुवर्णभद्रादिभि ।
समभावनया सोढ आत्मान ध्यायद्भि ॥५१ ॥

**सहिओ** सोढ । कोसौ। उपसर्ग विषमतरवेदना। कीदृश उपसर्ग· **अमरकओ** अमरकृत देवनिकायविहित । तीव्रतरोपसर्ग विसोढ । कैरित्याह। **सिरिदत्तसुवण्णभद्दआईहि** श्रीदत्तसुवर्णभद्रादिभि श्रीदत्तश्च सुवर्णभद्रश्च श्रीदत्तसुवर्णभद्रौ तावादी येषा ते श्रीदत्तसुवर्णभद्रादयस्तै श्रीदत्तसुवर्णभद्रादिभि । कया सोढ । **समभावणया** समभावनया शत्रौ मित्रे तृणे स्त्रैणे समाना या भावना सा-समभावना तया समभावनया। किं कुर्वद्भिस्तैरुपसर्ग सोढ । **अप्पाणं झायमाणेहि** आत्मान सहजशुद्धबुद्धैकस्वभाव ध्यायद्भि ध्यानगोचरी-कुर्वद्भि । अत्र श्रीदत्तस्य कथा यथा। इलावर्धननगरे राजा श्रीदत्तो राज्ञी अशुमती तयोर्द्यूत क्रीडतो सतो राज्ञ्या पराभव गते राजनि राज-पत्नीशुक एका रेखा दत्तवान्। एकवार राज्ञा हारितमिति कुपितेन भूपेन शुको गल मोटयित्वा मारित । स केनचिद्ध्यानविशेषेण मृत्वा व्यतर-देवोऽजनि। राजा श्रीदत्तोप्यन्यदा धवलगृहोपरि स्थितो जलधरजनितप्रासादविनाश दृष्ट्वा सजातवैराग्य पुत्राय राज्य वितीर्य जैनीं दीक्षामशिश्रियत्।

---

जिन्होने चतुर्निकायदेव कृत उपसर्गों को सहन किया है, अब उनका उदाहरण देते हैं –

**श्रीदत्त, सुवर्णभद्र आदि महान् पुरुषों ने आत्मा का ध्यान करते हुए समभावना के द्वारा देवकृत उपसर्ग सहन किया है ॥५१ ॥**

श्रीदत्त, सुवर्णभद्र आदि मुनिराजों ने सहज शुद्ध बुद्ध, एक स्वभाव आत्मा का ध्यान करते हुए, शत्रु-मित्र, काच-कचन, तृण-कोमल बिस्तर आदि में समभावना से चार निकाय देवकृत विषमतर वेदनापूर्ण तीव्र घोरोपसर्ग सहन किया था।

**❊ श्रीदत्त की कथा ❊**

इलावर्धन नगर में श्रीदत्त नामका राजा रहता था। उसके अशुमती नाम की रानी थी। मनोरजन के लिए राजा और रानी राजमहल मे जुआ खेलते थे। तब अशुमती के द्वारा पाला हुआ तोता हार-जीत का सकेत स्वकीय नख से रेखा खींच कर करता था। पर साथ ही उसमें यह दुष्टता थी कि जब श्रीदत्त जीतता था तब वह एक रेखा खींचता और जब उसकी मालकिन अशुमती जीतती थी तब वह दो रेखाये खींच देता था। श्रीदत्त ने तोते की इस चालाकी को बहुत बार सहन किया किन्तु तोते की दुष्टता जारी रही। अन्त में श्रीदत्त को क्रोध उत्पन्न हुआ और उन्होंने तोते की गर्दन मरोड़ दी। तोता उसी समय मर गया और मरण समय किसी ध्यान विशेष से मरकर व्यतर जाति का देव हुआ।

एक दिन सध्या के समय धवल महल पर बैठे हुए श्रीदत्त प्राकृतिक सौन्दर्य देख रहे थे कि बादल का एक बडा भारी टुकड़ा आँखों के सामने से गुजरा और देखते-देखते छिन्न-भिन्न हो गया। यह दृश्य देखकर श्रीदत्त का हृदय ससार, शरीर और भोगों से विरक्त हो गया। ससार की क्षणभगुरता उनके सामने नाचने लगी। उपयोग की सारी वस्तुये उन्हे विद्युत् (बिजली) के समान नाशवत प्रतीत होने लगीं। सर्प जैसे विषैले विषय भोगों से उनका हृदय काँप उठा। शरीर की अपवित्रता जानकर उससे ममत्व हट गया। तत्काल पुत्र को राज्य देकर उन्होंने दैगम्बरी मुद्रा धारण कर ली।

तत श्रुताभ्यास विदधान परम तपश्चिन्वान कालमतिवाहयामास।

अन्यदा तीव्रतरे शीततौ प्रवर्तमाने पुरबाह्योद्याने कायोत्सर्गमाश्रित्य तस्थिवान्। शुकचरेण व्यतरदेवेन तेन पूर्ववैरमनुस्मृत्य शीतलवारिणा सिक्त तथा शीतलवातेन कदर्थित सहजशुद्ध परमात्मानमाराध्य केवलाख्य च ज्योतिरुत्पाद्य निर्वाण प्राप्तवान् श्रीदत्तो मुनि ॥५१॥

---

दैगम्बर मुद्रा धारण कर सर्वप्रथम उन्होने गुरु के चरण सान्निध्य मे श्रुत का अभ्यास किया। राजकीय सुखों से पले हुए शरीर के ममत्व का त्याग कर घोर तपश्चरण करते हुए अनेक देशो मे विहार करके अनेक भव्य जीवो को धर्मोपदेश देकर सन्मार्ग मे लगाते हुए कुछ काल के बाद अत्यन्त शीत ऋतु के समय स्वनगर में आकर बाह्य उद्यान मे कायोत्सर्ग मुद्रा से खडे होकर आत्मध्यान करने लगे।

मानव कषायो के उद्रेक मे आकर अनुचित कार्य करके कर्म बॉधता है और जब उनका फल भोगना पडता है तब दु ख का अनुभव करता है, दु खी होता है।

राजा ने क्रोध मे आकर जिस तोते को मारा था वह मरकर व्यतर हुआ था। वह श्रीदत्त मुनिराज की तरफ से गुजरा तो उनको देखकर उसका क्रोध उमड आया। पूर्वभव के स्मरण से राजा को अपना शत्रु समझ कर उसने प्रतिशोध के लिए उपद्रव करना प्रारभ कर दिया। एक तो जाडे के दिन उस पर उसने ठण्डी हवा चलाई। पानी बरसाया और ओले गिराये। हर प्रकार से मुनिराज को कष्ट देने का प्रयत्न किया परन्तु श्रीदत्त मुनिराज के मन मेरु को वह किञ्चित् भी विचलित नही कर सका।

श्रीदत्त मुनिराज ने शातिपूर्वक उन कष्टो को सहन किया। तोते के जीव व्यतरदेव के द्वारा पूर्व वैर का स्मरण कर के शीतल जल और शीतल वायु के द्वारा कदर्थित (दु ख) होने पर भी, स्वकीय मन को बाह्य से हटाकर सहज शुद्ध परमात्मा के ध्यान मे लगाकर निर्विकल्प समाधि के द्वारा क्षपक श्रेणी मे आरूढ होकर पृथक्त्व वितर्क शुक्ल ध्यान के बल से मोहनीय कर्म का विध्वस करके तथा एकत्व वितर्क शुक्ल ध्यान के द्वारा शेष तीन घातिया कर्मो का नाश कर उन्होने केवलज्ञान प्राप्त किया और सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान के बल से योग निरोध करके व्युपरतक्रियानिवृत्ति शुक्लध्यान के बल से शेष अघातिया कर्मो का नाश कर शाश्वत अविनाशी मोक्षपद को प्राप्त किया।

हे आत्मन् ! श्रीदत्त मुनिराज के चिन्तन रूप अग्नि के द्वारा शीत के कारण होने वाले दु ख को दूर कर स्व आत्मा के ध्यान मे मग्न हो जाओ। बाह्य मे होने वाले शीत का अनुभव मत करो। शीत के कारण अपने मन को विचलित मत होने दो॥५१॥

**श्रीदत्त की कथा समाप्त हुई।**

यथा प्रागुक्तै राजर्षिभिरुपसर्ग सोढस्तथा त्वमपि सहस्वेत्युत्साहयन्नाह-

**एएहिं अवरेहिं य जहं सहिया थिरमणेहिं उवसग्गा।**
**विसहसु तुमंपि मुणिवर अप्पसहावे मणं काऊ॥५२॥**

एतैरपरैश्च यथा सोढा स्थिरमनोभि उपसर्गा ।
विषहस्व त्वमपि मुनिवर आत्मस्वभावे मन. कृत्वा॥५२॥

**विसहसु** विषहस्व **मुणिवर** मुनिवर क्षपक। कान्। अर्थादुपसर्गान्। **जहं एएहि अवरेहिं य** यथा एतै पूर्वोक्तै सुकुमालादिभि. अनुक्तै सजयतादिभि **सहिया** सोढा । के। उपसर्गा । कीदृशै·। **थिरमणेहि** स्थिरमनोभि स्थिरचित्तै । यथा सुकुमालसुकोशलगुरुदत्तपाडवादिभिराराधनास्वर्धुनीमध्यमध्यासीनैरुपसर्गा चतुर्विधा समभावनया सोढास्तथा त्वमपि यद्युत्तमा गतिं जिगमिषसि तर्हि सहस्व। किं कृत्वा। **अप्पसहावे मणं काऊ** आत्मस्वभावे परमात्मनि मनश्चित्त कृत्वा सहस्वेत्यर्थ ॥५२॥

---

सुवर्णभद्रादि मुनिराजो ने भी देवकृत उपसर्ग को सहन कर चेलना नदी के तीर पर कर्मों का नाश कर मुक्तिपद प्राप्त किया है।

जिस प्रकार उपरिकथित राजऋषियो (दिगम्बर महामुनियो) ने चार प्रकार के घोर उपसर्ग सहन करके उत्तम पद प्राप्त किया है, वैसे हे क्षपक ! तुम भी सहन करो। इस प्रकार क्षपक को उत्साहित करते हुए आचार्य कहते हैं-

**हे क्षपक ! जैसे चार प्रकार का उपसर्ग सुकुमाल और अन्य मुनियो ने स्वकीय मन को स्थिर करके सहन किया है, वैसे तुम भी स्व-आतमभाव में मन को स्थिर करके उपसर्ग सहन करो॥५२॥**

हे क्षपक ! जिस प्रकार स्वकीय मन को शुद्ध परमात्मा के चिन्तन में स्थिर करके उपर्युक्त सुकुमाल, सुकोशल, गुरुदत्त, पाण्डव आदि महापुरुषो ने तथा जिनका कथन नहीं किया गया, जिनका नाम भी नहीं लियागया ऐसे सजयत, अकम्पन, अभिनन्दन आदि अन्य महापुरुषों ने चार प्रकार की आराधना रूप देवगगा के मध्य में बैठ कर समभावना के द्वारा चार प्रकार के उपसर्ग को सहन करके उत्तम गति प्राप्त की है, अविनाशी मोक्षपद प्राप्त किया है। यदि तुम भी उत्तम पद को प्राप्त करना चाहते हो तो स्वकीय मन को शुद्धात्म स्वभाव में वा परम के गुणों के चिंतन में स्थिर करके उन उपसर्गों को वा भूख, प्यास, शीत, उष्ण आदि बाधाओं को समभावों से सहन करो।

### सजयन्त मुनि का चरित्र

वीतशोकपुर मे वैजयन्त नाम का राजा राज्य कर रहा था। उसकी भव्यश्री नामक रानी की कुक्षि से दो पुत्र उत्पन्न हुए सजयन्त और जयन्त।

एक दिन बिजली गिरने से हाथी की मृत्यु का समाचार सुनकर राजा का हृदय सासारिक भोगों से विरक्त हो गया। उन्होंने अपने दोनो पुत्रों को बुलाकर कहा- "बेटो ! तुम इस राज्य को स्वीकार करो, मैं दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर के आत्मकल्याण करना चाहता हूँ।"

दोनो पुत्रों ने हाथ जोडकर विनम्र भावो से कहा-"तात ! आपने आकुलता एव पाप का कारण समझकर राज्य को छोडने का निश्चय किया है, आपके द्वारा वमन किये हुए, छोडे हुए राज्य को हम स्वीकार नहीं करेगे। यह राज्य पाप और वैर का कारण है। हम दोनो आपके साथ दिगम्बर मुद्रा ग्रहण करेगे।"

जब दोनो पुत्रो ने राज्य स्वीकार नहीं किया तब राजा सजयन्त के पुत्र को राज्यभार देकर दोनो पुत्रो के साथ दीक्षा ग्रहण कर घोर तपश्चरण करने लगे। कुछ दिनो के तपश्चरण के बाद वैजयन्त मुनिराज ने घातिया कर्मों का नाश कर केवलज्ञान प्राप्त किया। उनके केवलज्ञान की पूजा करने के लिए चारो निकाय के देवता गण आये। उन देवताओ के समूह मे धरणेन्द्र के अलौकिक रूप को देखकर तत्रस्थ जयन्त मुनिराज ने निदान-बध किया। अर्थात् चारित्र तथा सम्यग्दर्शन से च्युत होकर यह भाव किया कि मेरे इस तपश्चरण के फल से मुझे धरणेन्द्र के समान सौन्दर्य और विभूति प्राप्त हो। निदानबध के कारण जयन्त मुनिराज मरकर धरणेन्द्र हो गये। ठीक ही है- जिस चारित्र एव सम्यग्दर्शन के फल से मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है, उससे यदि तुच्छ सासारिक सुख प्राप्त हो जाये तो इसमे आश्चर्य की क्या बात है!

सजयन्त मुनिराज एक दिन एक अटवी मे कायोत्सर्ग से स्थित होकर शुद्धात्मा का ध्यान कर रहे थे। उनके ऊपर से गमन करते हुए विद्युद्रष्ट नामक विद्याधर का विमान वहीं पर स्थगित हो गया (रुक गया)।

विमान को रुका हुआ देखकर आश्चर्यचकित हो उसने नीचे की ओर देखा। तत्रस्थ सजयन्त मुनिराज को देखकर उसने निश्चय किया कि मेरे विमान को इसीने स्तम्भित किया है। उसकी क्रोधाग्नि भभक उठी। उसने मुनिराज पर घोरोपसर्ग किया परन्तु सजयत मुनिराज का मनमेरु अडोल अकम्प रहा। ठीक ही है- प्रलय काल की वायु के झकोरो से मेरु कम्पित नहीं हो सकता।

जब मुनिराज ध्यान से विचलित नहीं हुए तब विद्याधर की क्रोधाग्नि अधिक भभक उठी। उस अधम विद्याधर ने मुनिराज को अपने विद्याबल से उठाकर भारतवर्ष की पूर्व दिशा मे बहने वाली भयकर सिंहवती नामक नदी में डाल दिया। इतनी विपत्तियों से भी उनके दु खो का अन्त नहीं हुआ। इसलिए तत्रस्थ लोगो ने उनको राक्षस समझकर उन पर पत्थर बरसाना प्रारभ कर दिया परन्तु इस प्रकार भयकर कष्ट आने पर भी सजयन्त मुनि ध्यान-मग्न रहे, स्व शुद्ध स्वभाव से चलायमान नहीं हुए। निर्विकल्प समाधि मे लीन हो शुक्ल ध्यान के बल से उन्होंने घातिया कर्मो का नाशकर केवलज्ञान प्राप्त किया और अतकृत केवली होकर उसी समय अघातिया कर्मो का नाशकर अविनाशी मोक्षपद प्राप्त कर लिया।

हे आत्मन् ! जैसे सजयन्त मुनिराज घोरोपसर्ग आने पर भी स्व स्वभाव से च्युत नहीं हुए, उसी प्रकार तुम भी इन उपसर्गों से वा शारीरिक वेदनाओ से आकुल-व्याकुल होकर अपने स्वभावसे च्युत मत होओ। अपने मनको वश मे कर स्वानुभव के रस का आस्वादन करो। शरीर की तरफ लक्ष्य मत दो।

**॥ सजयन्त मुनिराज की कथा समाप्त ॥**

इस प्रकार **आराधनासार** मे विस्तारपूर्वक घोर उपसर्गो की व्याख्या और उनको सहन करने वाले महापुरुषो के चरित्र का कथन किया। क्योकि उन महापुरुषों के स्मरण वा ध्यान से आराधक के परिणामो में स्थिरता और उपसर्ग सहन करने की शक्ति का प्रादुर्भाव होता है।

प्रपचत प्रकृष्टोपसर्गान् व्याख्याय सप्रति क्रमायातस्येद्रियजयस्य प्रपचयन् गाथापचक निरूपयति इति समुदायपातनिका।

तत्रादौ रूपकेण कृत्वा इद्रियाणा व्याधत्व समर्थयन् स्मरे शरत्व विषयेषु वनत्व जनेषु हरिणत्व प्रतिपादयति-

**इंदियवाहेहिं हया सरपीडापीडियंगचलचित्ता।**
**कत्थवि ण कुणंति रई विसयवणं जंति जणहरिणा ॥५३॥**

इद्रियव्याधैर्हता. शरपीडापीडितागचलचित्ता ।
कुत्रापि न कुर्वति रति विषयवन, याति जनहरिणा ॥५३॥

**इदियवाहेहि** इद्रियव्याधै इद्रियाण्येव व्याधा आखेटिका परनिमित्तसुखरूपपलाभिलाषित्वेन स्वव्यापारे प्रवर्तमानत्वात्। तैरिन्द्रियव्याधै **हया** हता घातिता शल्यगोचरीकृता **सरपीडापीडियगचलचित्ता** शरपीडापीडितागचलचित्ता । शरो बाण । बाणस्थानीयोत्र क इति चेत्। शरशब्देन स्मरो लभ्यते प्राकृतलक्षणदर्शनत्वात् स्मर एव शर । शरशब्द एक एवेति चेत् नास्ति दोष॰। एकस्मिन्नेव शब्देऽपि मुख्योपचारयोरुभयार्थयो प्राप्यमाणत्वात्। न भवेदिति चेत् तदा चिंत्यमेतत् दूष्य वैदुष्यै । स्मररूपशरस्य पीडा बाधा तया पीडितागे बाधितागे सति चलचित्ता लोलमनस **जणहरिणा** जनहरिणा जना एव हरिणा

---

इस प्रकार उपसर्गो के सहन करने का कथन करके अब क्रम से आगत इन्द्रियविजय का पाँच गाथाओं के द्वारा कथन करते है-

अब रूपक अलकार मे इन्द्रियो को व्याध (शिकारी), काम को बाण, विषय को वन और मानव को हंरिण की उपमा देकर कथन करते हैं-

**इन्द्रिय रूपी व्याध के द्वारा मारे गये, काम के बाण की पीड़ा से पीडित अग से चलायमान चित्त वाले मानव रूपी हरिण किसी भी (धार्मिक) कार्य में रति नहीं करते, स्थिर नहीं होते, अपितु विषय रूपी वन में प्रवेश करते हैं॥५३॥**

परनिमित्त-परपदार्थ के उपभोग से उत्पन्न सुख रूप मास की अभिलाषा से स्वकीय व्यापार मे प्रवर्त्तमान होने से इन्द्रियों को व्याध (शिकारी) कहा है। कामवासना को बाण की उपमा दी है।

उन इन्द्रिय रूपी शिकारी के द्वारा शल्य (लक्ष्य) गोचर किये गए और काम रूपी बाण से अग के पीड़ित होने से जिनका चित्त चचल हो रहा है, ऐसे ये ससारी प्राणी रूपी हरिण आर्त्त, रौद्र ध्यान के परिहार करने में निमित्तभूत स्वगत[१] तत्त्व, परगत[२] तत्त्व, शास्त्रश्रवण (शास्त्रो का श्रवण-पठन-मनन), देव-पूजा आदि किसी भी शुभ अवलबन में प्रीति नहीं करते हैं, शुभोपयोग वा शुद्धोपयोग में स्थिर रहने के लिए समर्थ नहीं होते हैं, कैसे भी शुभ परिणामों मे रजायमान नहीं होते हैं। यह ससारी प्राणी रूपी हरिण अनादिकालीन कर्मबध से अनन्त वीर्यावरण के कारण स्वकीय अनन्त शक्ति को भूलकर विषयवासना के वन मे गमन करता है अर्थात् विषय-वासनाओं में पडता है।

---

१ स्वकीय शुद्धात्मा। २ पचपरमेष्ठी परगत तत्त्व।

मृगा **कत्थवि** कुत्रापि रई रति **ण कुणंति** न कुर्वन्ति। कस्मिन्नपि स्थाने स्वगततत्त्वे पर-गततत्त्वे वा शास्त्रश्रवणे देवपूजाया आर्तरौद्रपरिहारनिमित्तमन्यस्मिन्नपि शुभावलबने वा न रज्यते न स्थिति कुर्वन्ति स्थातुमपि न वाछतीत्यर्थ । कस्मात्। अनादिकर्मबधवशादनतवीर्यावरणेनात्मनोऽधैर्यप्रादुर्भावात्। तदा ते किं कुर्वन्तीति प्रश्ने। **विसयवणं जंति** विषयवन याति विषया एव वन विषयवन याति गच्छति। यथा व्याधेन बाणेन बाधिता चलचित्ता भूत्वा कुत्रापि रतिमकुर्वाणा मृगा वनमाश्रयति तथेद्रियैरमनस्कता नीता स्मर-पीडनेन चलचेतसो जाता जना कुत्रापि रति न कुर्वन्ति। तर्हि किं कुर्वन्ति। स्रक्चदनवनितादीन् विषयानेव सेवते येषु सेवितेषु तदलाभे सति इहैव दारुण दु ख भवति, परभवे नरकतिर्यग्योन्यादेर्भूरि दु खान्यनुभवति। एव ज्ञात्वेद्रियविजय विधाय परमात्मध्यानविधान विधीयतामिति तात्पर्यम्॥५३॥

ननु समस्तसन्यस्तत्वेन प्रतिज्ञानिष्ठाना यदि विषयाभिलाष स्यान्न तु सेवने प्रवृत्तिस्तदा किंचिद्रूप प्रादुर्भवतीति वदत प्रत्याह-

**सव्वं चायं काऊ विसए अहिलससि गहियसण्णासे।**
**जइ तो सव्वं अहलं दंसण णाणं तवं कुणसि॥५४॥**

सर्व त्याग कृत्वा विषयानभिलषसि गृहीतसन्यासे ।
यदि तदा सर्वमफल दर्शन ज्ञान तप करोषि॥५४॥

---

जिस प्रकार शिकारी के बाणो से पीडित होकर चचलचित्त हुआ हरिण किसी देश मे वा किसी भी काल मे स्थिरता को प्राप्त नहीं होता है, और कहीं पर स्थिरता को प्राप्त न होकर वन का आश्रय लेता है। मन के चलायमान होने से वन का आश्रय लेते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियो के द्वारा अमनस्कता को प्राप्त होकर, कामबाण से चलायमान चित्त होकर किसी भी धार्मिक कार्य मे तथा आत्मध्यान मे लीन नहीं हो सकता और इन विषयो की प्राप्ति नहीं होने पर इस लोक (इसभव) मे विषयवियोगजन्य दारुण दु खो को भोगते हैं और पर भव मे नरक तिर्यञ्च आदि योनियो मे अनेक दु:खो को भोगते है।

हे क्षपक! इस प्रकार इन्द्रियसुख की अभिलाषा के दु खो को जानकर इन्द्रियविजयी बनो। इन्द्रिय-विषयो को विष के समान आत्मघातक समझकर इनका त्याग करो और परमात्मा का ध्यान कर स्व मे स्थिर होने का प्रयत्न करो ॥५३॥

हे गुरुदेव! सकल परिग्रह के त्याग की प्रतिज्ञा रूप सन्यास धारण करके यदि विषयो की अभिलाषा रखते हैं और विषयो को सेवन नही करते है तो उसको चिदूप की प्राप्ति नहीं होती है क्या? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं-

**''सर्व प्रकार के आरम्भ और परिग्रह का त्याग कर संन्यास को ग्रहण कर लिया है, फिर भी यदि उसकी विषय-अभिलाषा नष्ट नही होती है, तो उसका दर्शन, ज्ञान, तपश्चरण आदि आराधना करना सर्व निष्फल हो जाते हैं॥५४॥**

सर्व त्याग कृत्वा गृहीतसन्यासे सति यदि विषयानभिलषसि तदा दर्शन ज्ञान तप सर्वमफल करोषि। तथाहि-भो क्षपक ! पूर्व तावत्त्व ससारस्वरूपमनित्य नित्य मोक्षस्वरूप निश्चित्य चेतसि सार्वभौमसाम्राज्यराज्यलक्ष्मीं तृणवदवगण्यस्व **सव्वं चायं काऊ** सर्वपरिग्रहत्यागमेव कृत्वा। क्व सति। **गहियसण्णासे** गृहीतश्चासौ सन्यासश्च तस्मिन् सति **जइ** यदि **त्व** पुनरपि **विसए अहिलससि** विषयानभिलषसि **तो** तदा **दंसण णाण तवं** दर्शन ज्ञान तपश्च **सव्व** सर्वं **अहल** अफल फलरहित **कुणसि** करोषि दर्शनज्ञानतपसा यत्सवरनिर्जरामोक्षस्वरूप फल विषयाभिलाषे सति तप· कुर्वत्स्वपि तन्न भवतीत्यर्थ.। तथा चोक्तम्-

**पठतु सकलशास्त्र सेवता सूरिसघान्**
**दृढयतु च तपश्चाभ्यस्यतु स्फीतयोगम्।**
**चरतु विनयवृत्ति बुध्यता विश्वतत्त्वं**
**यदि विषयविलासः सर्वमेतन्न किचित्॥**

एव ज्ञात्वा विवेकिना धर्मे विधीयमाने कस्मिन्नपि क्वापि अभिलाषो न विधेय समीहितनिधिकत्वात्। तथा चोक्त-

**स्पृहा मोक्षेपि मोहोत्था तन्निषेधाय जायते।**
**अन्यस्मिन् तत्कथं शांताः स्पृहयंति मनीषिणः॥**

कितु शुद्धपरमात्मन्येव भावनाभिलाषो योग्यो भवतीति तात्पर्यम्॥५४॥

---

हे क्षपक ! सार्वभौम साम्राज्य और पुत्र-पोत्रादिक सर्व सासारिक वैभव का त्याग करके तूने सन्यास ग्रहण किया है। ससार असार है, अनित्य है, मोक्ष अवस्था नित्य है, सारभूत है, ऐसा चित्त मे विचार करके तूने वैभव का त्याग किया और सन्यास ग्रहण किया है। यदि तू इस समय किंचित् मात्र भी मन मे विषयों की अभिलाषा करेगा तो दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपश्चरण रूप तेरी आराधना सर्व निष्फल हो जायेगी, सवर, निर्जरा और मोक्ष फल को देने में समर्थ नहीं होगी। तपश्चरण करने पर भी यदि विषयाभिलाषा का मन से वमन नहीं करता है तो तुझे स्वात्माधीन मोक्षफल की प्राप्ति नहीं होगी। कहा भी है-

सकल शास्त्रो को पढ़ो, आचार्यसघ की सेवा करो, तपश्चरण मे दृढ़ रहो, आतापन आदि महान् योग का अभ्यास करो, विनयवृत्ति का आचरण करो अर्थात् देवशास्त्रगुरु का विनय करो ओर सर्व तत्त्वों का ज्ञान करो, उनको जानो। यदि हृदय मे विषयाभिलाषा स्थित है तो ये दर्शन आदि सर्व निष्फल हैं, इनका कुछ भी फल प्राप्त नहीं हो सकता।

ऐसा जानकर विवेकी मानव को धार्मिक क्रिया को स्वीकार करके सासारिक वस्तुओ की किंचित् भी अभिलाषा नहीं करनी चाहिए। मन को निर्विकल्प कर स्थिर करना चाहिए। कहा भी है-

आचार्यो ने मोह से उत्पन्न मोक्ष की भी अभिलाषा का निषेध किया है अर्थात् जब तक हृदय मे मोक्ष की भी अभिलाषा (इच्छा) रहती है तब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। इसलिये शात (शुद्धात्मा के अनुभव के अभिलाषी/मनीषी बुद्धिमान्) लोग अन्य (पचेन्द्रियों के) पदार्थों की अभिलाषा कैसे कर सकते हैं अर्थात् नहीं करते।

विषयों की अभिलाषा करना योग्य नहीं है अपितु शुद्धात्म भावना की अभिलाषा करना योग्य है, ऐसा समझना चाहिए॥५४॥

ननु निखिलदोषान् परिहर्तुकामो मुनि कस्मादशक्य इति वदत प्रति वदति वदतावर· सूरिवर ।

**इंदियविसयवियारा जाम ण तुट्टंति मणगया खवओ।**
**ताव ण सक्कइ काउं परिहारो णिहिलदोसाणं ।।५५ ।।**

इद्रियविषयविकारा यावन्न त्रुट्यति मनोगता क्षपकः।
तावन्न शक्नोति कर्तु परिहार निखिलदोपाणाम् ।।५५ ।।

मनोगता इद्रियविषयविकारा यावन्न त्रुट्यति तावत् क्षपको निखिल-दोषाणा परिहार कर्तु न शक्नोति। तथाहि-**मणगया** मनोगता मन प्राप्ता इद्रियाणा रूपादिविषयाणा च परस्पर दूरादेव सबधे सत्यपि तेषु मनसि सकल्प सप्रतिपद्यते तदनु मुहुर्मुहु प्रसरण यस्मात्तस्मात् मनोगता व्याख्यायत इत्यर्थ । **इंदियविसयवियारा** इद्रियविषयविकारा. इद्रियाणा विषयास्त एव विकारा । विकार इति कोर्थ । स्वस्वभावात्प्रच्याव्यान्यथाभावे प्रेरणाशीला यावत्काल **ण तुट्टंति** न त्रुट्यति मन·सगतिं परित्यज्य न गच्छति **ताव** तावत्काल **खवओ** क्षपक कर्मक्षपणशीलपुरुष **णिहिलदोसाणं** निखिलदोषाणा निखिला समस्ता रागद्वेषमोहादयो दोषास्तेषा **परिहारो** परिहार मोचन **काउं** कर्तु **ण सक्कइ** न शक्नोति कारण विना कार्य न दृष्टमिति वचनात्। इन्द्रियविषयविकारपरिहारकारणाभावे निखिलदोषाभाव कार्यं न सभवति। तस्मात्तपस्विना समतत इद्रियविषयविकारान्निराकृत्य रागादिदोषाभावेन शुद्धपरमात्मा भावितव्य इत्यभिप्राय ।।५५ ।।

---

निखिल दोषो का परिहार करने की इच्छा करने वाले मुनिराज किस कारण से दोषो के निराकरण में अशक्य है ऐसा पूछने वाले के प्रति विद्वानो मे श्रेष्ठ आचार्य कहते है-

**जब तक मनोगत इन्द्रिय-विषयो का व्यापार नही छूटता है तब तक क्षपक निखिल दोषो का निराकरण (नाश) नही कर सकते ।।५५ ।।**

पचेन्द्रियो के रूपादि विषयो का दूर से भी सम्बन्ध होने पर मन मे सकल्प-विकल्प उत्पन्न होते है। पुन , बार-बार उनका प्रसरण होता है, अर्थात् पुन पुन उनका चिन्तन होता है इसलिए इनको मनोगत कहते हैं।

आत्मा को स्व स्वभाव से च्युत करके अन्य विकार भाव को उत्पन्न करने वाले मनोगत पाँचो इन्द्रियों के रूप-रसादि विषय जब तक मन की सगति को छोडकर नष्ट नही होते हैं, मानसिक सकल्प-विकल्प नहीं छूटते है तब तक कर्मो का क्षय करने मे तत्पर क्षपक समस्त राग-द्वेष-मोहादि दोषो का परिहार करने मे समर्थ नहीं होता क्योकि कारण के सद्भाव मे तज्जन्य कार्य का अभाव नहीं होता। मनोगत पचेन्द्रिय विषय-व्यापार कारण हैं और राग, द्वेष, मोहादि दोष कार्य है। इसलिए इन्द्रिय-विषय-व्यापार रूप कारण का परिहार किए बिना, राग-द्वेष-मोहादि कार्य का अभाव नहीं हो सकता। इसलिए तपस्वियो को मनोगत पचेन्द्रिय विषय व्यापार को दूर कर राग-द्वेष आदि दोषो का परिहार कर के शुद्धात्मा का ध्यान करना चाहिए।।५५ ।।

नन्विन्द्रियमल्लैर्निहिताना क्वाश्रयोऽज्ञानिना भवति तत्प्रतिपादयति-

**इंदियमल्लेहिं जिया अमरासुरणरवराण संघाया।**
**सरणं विसयाण गया तत्थवि मण्णंति सुक्खाइ ॥५६॥**

इद्रियमल्लैर्जिता अमरासुरनरवराणा सघाता ।
शरण विषयाणा गतास्तत्रापि मन्यते सौख्यानि ॥५६॥

अमरासुरनरवराणा सघाता सतो विषयाणा शरण गतास्तत्रापि सौख्यानि मन्यते। तथाहि- **अमरासुरणरवराण** अमरासुरनरवराणा अमरा देवा कल्पवासिन असुरा दैत्या भवनवासिनो वा नरवरा· नराणा मध्ये वरा· श्रेष्ठा मनुष्येषु मध्ये शास्त्रेण शौर्येण वीर्येण विज्ञानेन लब्धप्रतिष्ठा ये ते नरवरा कथ्यते, अमराश्च असुराश्च नरवराश्च ते अमरासुरनरवरास्तेषा **संघाया** सघाता समुदाया:। कथभूता सत । **इंदियमल्लेहि जिया** इद्रियमल्लैर्जिता सत इद्रियाण्येव मल्लानि विड्दु खावाससससारगर्भपातकत्वात् इद्रियमल्लास्तै इद्रियमल्लै । **गया** गता प्राप्ता । किं शरण आश्रय केषा। **विसयाणं** विषयाणा इन्द्रियार्थाना **तत्थवि** तत्रापि च तत्र तेषु स्रक्चदनवनितावा-तायनादिषु विषयेषु **मण्णंति** मन्यते विदति। कानि। **सुक्खाइ** सौख्यानि न खल्विय प्रवृत्तिस्तत्त्वविदा चित्तेषु चमच्चरिकरीति नैते विषया शरण गताना स्वप्नेपि त्रायका । यदुक्त-

**मीना मृत्युं प्रयाता रसनवशमिता दंतिन: स्पर्शरुद्धा,**
**नद्धास्ते वारिमध्ये ज्वलनमुपगता. पत्रिणश्चाक्षिदोषात्।**
**भृंगा गंधोद्धताशा. प्रलयमुपगता गीतलोला. कुरंगा:,**
**कालव्यालेन दष्टास्तदपि तनुधियामिद्रियार्थेषु राग: ॥**

---

इन्द्रियमल्लो के द्वारा दु खित हुए अज्ञानी किसकी शरण जाते है, उनकी क्या गति होती है, इसका प्रतिपादन करते हैं-

**इन्द्रियमल्लों के द्वारा जीते गये (विषयों के वशीभूत हुए) देव, असुर और श्रेष्ठ मनुष्यों के समूह विषयों की शरण में जाते हैं और उसी में सुख का अनुभव करते हैं ॥५६॥**

कल्पवासी देवो को सुर कहते हैं और भवनवासी देवों को असुर वा दैत्य कहते हैं। मनुष्यो के मध्य में शास्त्रज्ञान, शूरता-वीरता और विज्ञान के द्वारा जिन्होंने प्रतिष्ठा प्राप्त की है वे नर-वर कहलाते हैं। सुर, असुर और नर-वरों का समूह अमर-असुर-नर-वर-सघात कहलाता है।

दु ख के स्थान ससार के गर्त (गड्ढे) मे गिराने वाले इन्द्रियमल्लो के द्वारा पराजित हुए देव, असुर और श्रेष्ठ मानवों के समूह इन्द्रिय-विषयो की शरण मे जाते हैं और उन माला, चन्दन, स्त्री तथा उत्तम-उत्तम पक्वान्न रूप इन्द्रियविषयों के उपभोग मे ही आनन्द का अनुभव करते हैं, सुख मानते हैं। परन्तु ये पचेन्द्रियजन्य विषय वास्तव में सुख के कारण नहीं हैं। ये पदार्थ तत्त्वज्ञो के हृदय को रजायमान करने वाले नहीं हैं। ये पचेन्द्रिय-विषय स्वप्न में भी सुखद नहीं हैं, रक्षक नहीं हैं, शरणभूत नहीं हैं अपितु दु खदायक हैं। सो ही कहा है-

रसना इन्द्रिय की वशीभूत हुई मछली जाल मे फँसकर अपने प्राण खो देती है, मृत्यु को प्राप्त होती है। स्पर्शन इन्द्रिय के वशीभूत हुआ मदोन्मत्त हाथी बन्धन मे पडकर अनेक दु खों को भोगता है। घ्राण इन्द्रिय के विषय का लोलुपी भ्रमर कमल में फँसकर मर जाता है। चक्षुइन्द्रिय के परवश होकर पतगा अग्नि में गिरकर प्राण खोता

प्रत्युत दु·खदा एव। यत -

न तदरिरिभराजः केशरी केकिस्तुत्यो,
नरपतिरतिरुष्टः कालकूटोतिरौद्रः।
अतिकुपितकृतांतः पन्नगेद्रोपि रुष्टः,
यदिह विषयशत्रुर्दुःखमुग्रं करोति।

तदिद्रियमल्लैर्जितेनापि क्षपकेण प्रसह्य विषयाणा शरण विहाय तत्र च सुखान्यवगणय्य परमब्रह्मपदमेव शरण गतव्य तत्रैव परमसौख्य मत्त्वेष्टव्यमिति भाव । यत -

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया,
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून्।
व्रजंतः स्वातंत्र्यादतुलपरितापाय मनसः,
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनंतं विदधति ॥५६॥

---

है और गीत सुनकर चचल हुआ (गीत सुनने का लोलुपी) हरिण शिकारी के जाल मे फँस जाता है। इस प्रकार पचेन्द्रिय-विषयो के लोलुपी जन को काल रूपी व्याल के द्वारा डसा हुआ देखकर भी अल्पज्ञ प्राणी इन्द्रियजन्य सुखों मे अनुराग करते हैं। यह आश्चर्य की बात है।

इस प्रकार एक-एक इन्द्रिय के वशीभूत हुए प्राणियो की यह दशा है तो जो पॉचो इन्द्रियो के विषयो में फॅसे हुए है, उनके तो दु ख का कथन भी नहीं कर सकते।

जितना उग्र दु ख इस लोक मे विषय रूपी शत्रु देते हैं उतना दु ख शत्रु, मदोन्मत्त हाथी, सिह, सर्प, अतिरुष्ट हुआ राजा, अति भयकर कालकूट (विष), अति कुपित हुआ यमराज (मृत्यु) और रुष्ट हुआ अजगर भी नहीं देते हैं अर्थात् पचेन्द्रियजन्य विषयो की अभिलाषा हाथी, सिंह, सर्प आदि से भी महा दु·खदायी है।

हे क्षपक ! इन्द्रिय-भटो के द्वारा बाधित (पीडित) हुए क्षपक को इन सब दु खो को सहन कर, इन्द्रिय-सुख को सुख न मानकर, विषयो की शरण छोडकर, परम ब्रह्म परमात्मा की शरण ही महासुखकारी है, ऐसा मानकर उसी परम ब्रह्म मे लीन होना चाहिए क्योकि ये विषय चिरकाल तक रहकर भी अवश्य ही नष्ट होने वाले है तो इनके वियोग मे क्या भेद है? जो मानव इन विषयो को स्वय नहीं छोडते है वे इस ससार मे ताप को प्राप्त होते हैं, उनके मन को अतुल परिताप देकर स्वतत्रता से जाने वाले (नष्ट होने वाले) इन विषयो को जो स्वय छोडते है, वे अनन्त शम सुख को प्राप्त होते है ॥५६॥

हृषीकज सुख सुख न भवति ततस्तस्मिन् वैमुख्य विधातव्यमिति स्तवयति-

**इंदियगयं ण सुक्खं परदव्वसमागमे हवे जम्हा।**
**तम्हा इंदियविरई सुणाणिणो होइ कायव्वा।।५७।।**

इन्द्रियगत न सौख्य परद्रव्यसमागमे भवेद्यस्मात्।
तस्मादिद्रियविरति· सुज्ञानिनो भवति कर्तव्या।।५७।।

भो क्षपक इदियगयं ण सुक्ख इन्द्रियगत न सौख्य सौख्य न भवति। कीदृश। इन्द्रियगत हृषीकसभव विचार्यमाण सुख न भवति किंतु सुखाभावमेव। कुतः सौख्य न भवति इत्याह। परद्रव्यसमागमे सति भवेत् जायेत परद्रव्याणि अन्नपानवसनताबूलस्रक्चदनवनितादीनि तेषा ममागम सम्यगागमन परद्रव्यसमागमस्तस्मिन् परद्रव्यसमागमे। यतः परद्रव्यसमागमादिंद्रियजं सुखमुपजायते ततश्च दु·खमेव। यदुक्तम्-

सुखमायाति दुःखमक्षजं भजते मंदमतिर्न बुद्धिमान्।
मधुलिप्तमुखाममंदधीरसिधारा खलु को लिलिक्षति।।

यदींद्रियज सुख वास्तव न भवति तर्हि किं कर्तव्यमित्याह। तम्हा इंदियविरई तस्मात्कारणात् इद्रियविरति. विरमण विरति· इद्रियेभ्यो विरति· इद्रियविरति । इद्रियजेषु सुखेषु वैमुख्यमित्यर्थ । कायव्वा कर्तव्या इद्रियसभवसुखविरति· कर्तव्या हवे भवेत्। सा कस्य कर्तव्या भवतीत्याह। सुणाणिणो सुज्ञानिन शोभन ज्ञान परमानदामृतसभृतावस्थस्य परमात्मन परिज्ञान शोभन ज्ञानमुच्यते सुज्ञानमस्यास्तीति सुज्ञानी तस्य सुज्ञानिन ततो विषयज सुख विनश्वर निस्सार ज्ञात्वा अविनश्वरे स्वात्मोत्थे सुखे रतिर्विधातव्या सुज्ञानिन इति भावार्थ ।।५७।। इंद्रियजयाधिकार·।

---

इन्द्रियजन्य सुख, सुख नहीं है, दु खरूप है, इसलिए इन विषयों से विमुख होना चाहिए, ऐसा कहते हैं-

**इन्द्रियसुख वास्तव में सुख नही है क्योंकि वह पर-द्रव्य के समागम से होता है। इसलिए ज्ञानी जनों को इन्द्रियसुख से विरक्त होना चाहिए।।५७।।**

अन्न, पानी, वस्त्र, ताम्बूल, माला, चन्दन, स्त्री आदि पर-द्रव्य के सयोग से उत्पन्न होने वाला इन्द्रियजन्य सुख वास्तव में सुख रूप नहीं है, अपितु सुखाभास हे। राग के उदय के कारण वह सुख रूप प्रतीत होता है। इसलिए इन्द्रियसुख दु ख रूप ही है। कहा भी हे-

''इन्द्रियजन्य सुख, दुखरूप है, मूर्ख अज्ञानी उनको सेवन करते हैं, ज्ञानीजन नहीं। मधुलिप्त तलवार की धार को कौन ज्ञानी चाटना चाहते हें? अर्थात् ज्ञानी जन उसको चाटना नहीं चाहते।''

इन्द्रियसुख आकुलता का कारण है, इसलिए इन विषय-वासनाओं से विरक्त होना ही श्रेष्ठ है। परमानन्द रूप अमृत से उत्पन्न अवस्था वाले परमात्मा का ज्ञान ही सुज्ञान हे। उस शुद्धात्मा के ज्ञान के रसिक ज्ञानीजनों को विषयजन्य सुखों को विनाशीक ओर निस्सार समझकर उनसे विरक्त होना चाहिए और अविनाशी, सारभूत, अनन्त सुख के कारणभूत स्वात्मोत्थ सुख मे रति, अनुराग, प्रीति करनी चाहिए।

हे क्षपक ! अनादिकाल से इन्द्रियजन्य सुखों का अनुभव करके तू अनन्त दु खों का पात्र बना है। इसलिए तृष्णा को उत्पन्न करने वाले, हेयोपादेय ज्ञान से हृदय को शून्य करने वाले और दुर्गति में ले जाने वाले, इन्द्रियजन्य विषयों की अभिलाषाओं का तू त्याग कर और स्वकीय शुद्धात्मा मे रमण करने का प्रयत्न कर ।।५७।।

।। इन्द्रियविजय-अधिकार पूर्ण हुआ ।।

ननु मनोनृपप्रेरितायामवश्यायामिन्द्रियसेनाया प्रसरत्या क्षपकेण कि कर्तव्यमित्यावेदयति-

**इंदियसेणा पसरइ मणणरवइपेरिया ण संदेहो।**
**तम्हा मणसंजमणं खवएण य हवदि कायव्वं ॥५८॥**

इद्रियसेना प्रसरति मनोनरपतिप्रेरिता न सदेह ।
तस्मान्मन सयमनं क्षपकेण च भवति कर्तव्यम् ॥५८॥

**इंदियसेणा** इद्रियाणि हृषीकाणि तान्येव सेना चमू इद्रियसेना **मण-णरवइपेरिया** मनोनरपतिप्रेरिता मनश्चित्त तदेव नरपति राजा तेन प्रेरिता आदिष्टा सती **पसरइ** प्रसर करोति **ण संदेहो संदेहः** सशयो न, यस्मादित्यध्याहार । यत्तदोर्नित्यसबध इत्यभिधानात् **तम्हा** तस्मात् कारणात् **मण-सजमणं** मन सयमन मनश्चित्त तस्य सकोचन स्पर्शादिविषयेभ्यो व्यावृत्य सहजशुद्धचिदानदैकस्वभावसकलविकल्पविकलात्मपरमात्मत्त्वैकाग्रचिताया स्थापनमित्यर्थ । **खवयेण** क्षपकेन कर्मक्षपणशीलेन पुरुषेण **कायव्वं** कर्तव्य करणीय च भवति। तथाहि। यथा सैन्यस्य राजा नायको भवति तथा इद्रियाणा मनो नायक नायकेनैवादिष्ट सैन्य प्रसरति न हि नायकमतरेण क्वचित्कथचित्तत्सामर्थ्यं

---

अब 'मन पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए' यह कथन करते हैं।

मन रूपी राजा के द्वारा प्रेरित इन्द्रियसेना स्व-स्व विषयो मे प्रवृत्ति कर रही है, फैल रही है; उसको रोकने के लिए क्षपक को क्या करना चाहिए, ऐसा पूछने पर आचार्य कहते है-

**मनरूपी राजा के द्वारा प्रेरित इन्द्रिय रूपी सेना अपने-अपने विषयों मे प्रवृत्ति करती है। इसमें संशय नहीं है। इसलिए क्षपक को मन का संयम करना चाहिए ॥५८॥**

इस गाथा मे रूपक अलकार है। इसमे मन को राजा की उपमा दी है और इन्द्रियो को उसकी सेना बताया है। जिस प्रकार राजा के आदेश से सेना कार्य करती है, उसी प्रकार मनरूपी राजा के द्वारा प्रेरित हुई यह पॉचो इन्द्रिय रूपी सेना स्व-स्व विषय मे प्रवृत्ति करती है, आत्मा के भावो का मथन करती है, विकारी करती है। इसमे सशय नहीं है। इसलिए क्षपक को मन को सयमित करना चाहिए। स्पर्शनादि विषयो मे जाते हुए मन को उन विषयो से हटाकर सहज शुद्ध, चिदानन्द स्वभाव, सकल विकल्प-जालो से रहित परमात्म तत्त्व-चिन्तन रूप 'एकाग्र चिता' मे मन को स्थिर करना चाहिए। अर्थात् विषय वासना से मन को हटाकर (आर्त्त, रौद्र ध्यान से रहित होकर) शुद्धात्मतत्त्व वा पचमरमेष्ठी के गुण-चिन्तन मे लगाना चाहिए।

कर्मों का क्षपण करने मे तत्पर मानव को क्षपक कहते हैं।

हे क्षपक ! सेना का नायक जैसे राजा होता है वैसे ही इन्द्रिय रूपी सेना का नायक मन है। जैसे अपने नायक राजा के द्वारा प्रेरित होकर सेना युद्ध मे गमन करती है, नायक के बिना कुछ भी करने मे समर्थ

विजृंभते। अत्र तत्त्व-विचारचतुरचेतसा चेतोनिकेतने कथं नाम संशयविलेशयो विलसति न क्वापि। अतः इंद्रियाणि निगृहीतुमना मनसि प्रथमं मनःसंयमनं तनोतु इति तात्पर्यार्थः ॥५८॥

इंद्रियाणि मनःप्रेरितानि प्रसरतीति व्याख्यायेदानीं मनोनरेंद्रस्य सामर्थ्यं यथा तथा दर्शयति-

**मणणरवइ सुहभुंजइ अमरासुरखगणरिंदसंजुत्तं।**
**णिमिसेणेक्केण जयं तस्सत्थि ण पडिभडो कोइ ॥५९॥**

मनोनरपतिः संभुंक्ते अमरासुरखगनरेंद्रसंयुक्तं।
निमिषेणैकेन जगत्तस्यास्ति न प्रतिभटः कोपि ॥५९॥

**मणणरवइ** मनोनरपतिः मनो मानसं तदेव नरपतिः राजा कर्ता **अमरासुरखगणरिंदसंजुत्तं** अमरासुरखगनरेंद्रसंयुक्तं अमरा: कल्पवासिनः असुरा दैत्याः खगा विद्याधरा नरेंद्राश्चक्रवर्त्यादयः। अत्र सर्वत्र द्वंद्वसमासः अमरासुरखगनरेंद्रैः संयुक्तं **जयं** जगत् त्रैलोक्यं **णिमिसेणेकेण** निमिषेनैकेन संभुंक्ते एकक्षणमात्रेण स्वभोगयोग्यं करोतीत्यर्थः । **तस्स** तस्य मनसः **कोइ** कोपि तेषाममरासुरनरेंद्राणां मध्ये एकतमोपि **पडिभडो** प्रतिभटः प्रतिमल्लो न विद्यते इत्यर्थः । तथा चोक्तं ज्ञानार्णवे शुभचंद्राचार्यैः-

---

नहीं है; उसी प्रकार इन्द्रियो के नायक मन के द्वारा प्रेरित हुई इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में प्रवृत्ति करती हैं, मन रूपी नायक के बिना इन्द्रियाँ कुछ भी करने मे समर्थ नहीं हैं। इसलिए हे क्षपक ! तू अपने मन को तत्त्वचिंतन में स्थिर कर, क्योकि तत्त्वविचार मे चतुर चित्त वाले के चित्त रूपी घर मे संशय रूपी सर्पका निवास नहीं रह सकता। इसलिए हे क्षपक ! इन्द्रियो का निग्रह करने के लिए सर्वप्रथम मन का संयमन करो। तत्त्वज्ञान के चिन्तन से अपने मन को वश मे करो। जिसका मन वश मे नहीं है, वह इन्द्रियो को वश मे नहीं कर सकता। इन्द्रियो को वश में किये बिना आत्मकल्याण नहीं हो सकता ॥५८॥

अब मन की प्रेरणा से प्रेरित होकर अपने विषयो मे प्रवृत्ति करने वाली इन्द्रियों की व्याख्या कर के मनरूपी राजा का सामर्थ्य दिखाते हैं-

**यह मन रूपी राजा एक निमेष मात्र काल में अमर, असुर, विद्याधर और राजाओं से संयुक्त सुखों को भोगता है, अतः उस मन के समान इस जगत् मे दूसरा कोई प्रतिभट नहीं है ॥५९॥**

संसारी पदार्थों का भोक्ता मन रूपी राजा, कल्पवासी देवो, भवनवासी असुरो, विद्याधर, नरेन्द्र, चक्रवर्ती आदि के सर्वभोगो को एक क्षण मात्र मे अपने भोग का विषय बना लेता है। मानसिक विचारो के द्वारा पदार्थ के नहीं होते हुए भी उनका उपभोग करता है। उनमे मग्न हो जाता है। इसलिए इस संसार में देव, विद्याधर आदि के मध्य मे मन के बराबर कोई दूसरा प्रतिमल्ल नहीं है। सो ही **ज्ञानार्णव** में **शुभचन्द्राचार्य** ने कहा है-

दिक्चक्र दैत्यधष्ण्यां त्रिदशपतिपुराण्यंबुवाहांतरालं
द्वीपांभोधिप्रकांडं खचरनरसुराहींद्रवासं समग्रम्।
एतत्त्रैलोक्यनीडं पवनचयचितं चापलेन क्षणार्धे-
नाश्रांतं चित्तदैत्यो भ्रमति तनुमतां दुर्विचिंत्यप्रभावः ॥

इति बुद्ध्वा शुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मनो भावनाबलेन मनोराजबलमबलीकृत्य निजात्मनि स्थापनीयमित्युपदेशार्थ गाथा गता॥५९॥

इदानीं मनोनरपतेर्मरणे सभूते उत्तरोत्तरमिद्रियादीना मरणमपि जायते ततो मोक्षसुख यतो जायते तस्मान्मनसो मारणाय प्रयोजयति यथा तथा दर्शयति-

**मणणरवइणो मरणे मरंति सेणाइं इंदियमयाइ।**
**ताणं मरणेण पुणो मरंति णिस्सेसकम्माइ॥६०॥**

**तेसिं मरणे मुक्खो मुक्खे पावेइ सासयं सुक्खं।**
**इंदियविसयविमुक्कं तम्हा मणमारणं कुणइ॥६१॥ जुअलं॥**

---

"दिशाओ के समूह मे, दैत्यो के स्थानो मे, त्रिदशपति (देव) के पुरो मे, बादलो के अन्तरालो मे, द्वीप-समूहो के समूहो मे, विद्याधर-नर-नागेन्द्र के वास मे, पवन के चय (समूह) से वेष्टित तीन सौ तैंतालीस राजू प्रमाण सारे तीन लोकरूप नीड मे यह प्राणियो का मन रूपी दैत्य अपनी चपलता से क्षणार्ध मे बिना थकावट के भ्रमण कर सकता है। अत इस मन का प्रभाव दुर्विचित्य है। अर्थात् उसका हम चिन्तन करके कथन नहीं कर सकते है।

हे क्षपक ! यह मन दुर्जेय है, ऐसा जानकर शुद्ध बुद्ध एकस्वभाव परमात्मा की भावना के बल से मनोराजा के बल को निर्बल करके अपनी आत्मा मे स्थापना करनी चाहिए॥५९॥ इस प्रकार क्षपक को उपदेश देने वाली यह गाथा पूर्ण हुई।

हे क्षपक ! इस दुर्जय मन को वश मे करने मे आत्मध्यान ही समर्थ है, अन्य कोई वस्तु नहीं, इसलिए उस शुद्ध परमात्मा का ध्यान करो, आत्मा का अनुभव करो और मन पर विजय प्राप्त करो।

अब मनरूपी राजा के मर जाने पर उत्तरोत्तर इन्द्रियो का मरण हो जाता है, इन्द्रियों और मन के मर जाने पर मोक्षसुख की प्राप्ति होती है, अत मन को मारने का, वश मे करने का प्रयत्न करना चाहिए, ऐसा कहते हैं-

**मन रूपी राजा के मर जाने पर शेष इन्द्रिय रूपी सेना भी मर जाती है। उन मन और इन्द्रियों के मर जाने पर नि:शेष कर्म मर जाते हैं, अर्थात् कर्मागमन के कारणभूत विभाव भाव भी नष्ट हो जाते है। उन कर्मों का नाश हो जाने पर आत्मा शाश्वत सुखरूप मोक्ष को प्राप्त करता है। इसलिए हे क्षपक! इन्द्रियों से विमुक्त होकर मन को मारने का प्रयत्न करना चाहिए॥ ६०-६१॥**

मनोनरपतेर्मरणे म्रियते सैन्यानि इद्रियमयानि।
तेषा मरणेन पुनर्म्रियते नि शेषकर्माणि ॥६०॥

तेषा मरणे मोक्षो मोक्षे प्राप्नोति शाश्वत सौख्यम्।
इद्रियविषयविमुक्त तस्मान्मनोमारण कुरुत ॥६१॥ युग्म।

**मणणरवइणो मरणे** मनोनरपतेर्मरणे मनसो विकल्पाभावे सति 'सकल्पविकल्पस्वरूप हि मन इति निर्वचनात्' **मरंति सेणाइ इदियमयाइ** इद्रियमयानि सेन्यानि म्रियते स्वकीयस्वकीयविषयेषु तानींद्रियाणि न प्रवर्तत इत्यर्थः। स्वस्वामिप्रयोगाभावात् तदभावे हि तस्यैवाभावात् **ताणं मरणेण पुणो** तेषामिंद्रियाणा मरणेन निजविषयप्रवृत्तिराहित्येन पुन पुनरपि **णिस्सेसकम्माइं** नि शेषकर्माणि सकलकर्माणि ज्ञानावरणादीनि **मरंति** म्रियते क्षय याति तदवस्थाया बधाभावात्।

बधाभावे हि नवतरकर्मणामास्रवाभावात् पुरातनकर्मनिर्जीर्यमाणत्वात्। आस्रवाभावो हि योगाभावात् योगाभावस्तु तदवयवस्वप्रवृत्तिनिषेधात्। तदवयवाश्च मनोवाक्कायलक्षणा कायवाड्मन कर्मयोग इति लक्षणाभिधानत्वात्। ततो योगागत्वात् मनसो विकल्पाभावपूर्वत्वे सतीन्द्रियाणा काययोगमयाना प्रवृत्तिनिषेधे सति सवरनिर्जरासद्भावात् सर्वाणि कर्माणि क्षय याति इति सिद्ध। **तेसि मरणे मुक्खो** तेषा कर्मणा मरणे विनाशे सति मोक्ष अनतज्ञानादिगुणव्यक्तिनिष्ठाना सिद्धपरमेष्ठिनामाधार । बधहेत्वभावनिर्जराभ्या कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष इत्यभिहितत्वात्। मोक्षे किमस्तीत्याह। **मुक्खे** मोक्षे सर्वकर्मक्षयलक्षणे **सासय** शाश्वतमविनश्वर **इंदियविसयविमुक्क** इद्रियविषयविमुक्त इद्रियाणा हृषीकाणा विषया गोचरास्तैर्विमुक्त रहित **सुक्खं** सौख्य निराकुलतालक्षण **पावेइ** प्राप्नोति लभते यत एव **तम्हा** तस्मात्। एव ज्ञात्वा भो भव्या **मणमारणं कुणह** मनोमारण कुरुत। मनोमारणमिति कोर्थ । विषयेषु गच्छतो मनसो निवारण कुरुत कुरुध्वमित्यर्थ ॥६०-६१॥

---

मन रूपी राजा के मर जाने पर अर्थात् मानसिक सकल्प-विकल्परूप विभावभावो के नाश हो जाने पर इन्द्रिय रूपी सेना स्व-स्व विषयों मे प्रवृत्ति करना छोड देती है। उनकी विषयो की अभिलाषायें मर जाती हैं। जैसे स्वामी के अभिप्राय अनुसार चलने वाली राजा की सेना राजा के मर जाने पर अपने-अपने कार्यों से निवृत्त हो जाती है। इन्द्रियो के मर जाने पर (इन्द्रियो के अपने-अपने विषयों से रहित हो जाने पर) सम्पूर्ण ज्ञानावरण, मोहनीयादि कर्म भी मर जाते है अर्थात् उन कर्मों की बध-व्युच्छित्ति हो जाती है, बध का अभाव होकर सवर हो जाता है। बध का अभाव हो जाने पर (आस्रव के रुक जाने पर) नूतन कर्मों का आगमन रुक जाता है, सवर हो जाता है और पुरातन कर्म निर्जरित हो जाते हैं। कर्मों के आगमन मे कारणभूत योग का अभाव हो जाने पर, सवर और निर्जरा का सद्भाव होने पर सर्व कर्मों का क्षय हो जाता है। कर्मों का क्षय हो जाने पर अनन्त ज्ञानादि गुणों की व्यक्ति रूप सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है। कहा भी है- बध के कारणो का अभाव और निर्जरा के द्वारा सर्व कर्मो का क्षय हो जाने पर शाश्वत अविनाशी सुख की प्राप्ति होती है। इन्द्रियविषयो से रहित निराकुलता लक्षण आत्मीय सुख को क्षपक प्राप्त करता है।

इसलिए हे क्षपक ! इन्द्रियविषयों से विमुक्त होकर मन को वश मे करने का प्रयत्न करो। विषयों मे जाते हुए मन को रोककर स्व शुद्धात्मा के ध्यान मे लीन होकर अपने आप मे रमण करो। बाह्य विषय-वासना में भटकते हुए मन को तत्त्वचिन्तन के बल से निश्चल निर्विकल्प करके शुद्धात्मा का ध्यान करो ॥६०-६१॥

ये तु पुरुषा मनसो निवारण न कुर्वन्ति ते कथभूता भवतीत्याह-

**मणकरहो धावंतो णाणवरत्ताइ जेहिं ण हु बद्धो।**
**ते पुरिसा संसारे हिंडंति दुहाइं भुंजंता।।६२।।**

मन करभो धावन् ज्ञानवरत्रया यैर्न खलु बद्ध ।
ते पुरुषा ससारे हिडन्ते दु खानि भुजत ।।६२।।

**मणकरहो** मन करभ मन एव करभ उष्ट्र पाठान्तरेण कलभ करिशावको वा धावतो धावन् प्रसरन् सन् जेहि यै पुरुषै **णाणवरत्ताइ** ज्ञानवरत्रया बोधरज्जुरूपया **ण बद्धो** न बद्ध न सकोचित **ते पुरिसा** ते पुरुषा ससारे आजवजवे द्रव्यक्षेत्रकालभवभावलक्षणे **दुहाइं** दु खानि व्याकुलत्वोत्पादकलक्षणानि **भुंजंता** भुजत अनुभवत **हिंडंति** हिडते परिभ्रमति खलु निश्चयेन। तथाहि-यथा कश्चन करभरक्षाया नियुक्तो गजरक्षणे वा पुरुष करभ गज वा राजमत्रिपुरोहितादीना नदनवन प्रति विध्वसनाय धावत वरत्राकुशादिना कृत्वा यदि न निवारयति स तदा नदनवनविध्वसनापराध विलोक्य लोकाचारविचारचतुरचातुरीचमत्कारनी-तिशास्त्रानुसारविलोकितन्यायमार्गेण नरपतिना निगृह्यमाण कारागाराद्यनेकविधदु खान्यानुभवति स्वाधिकारक्रियाकूटकारित्वात्। य कश्चन स्वाधिकारक्रियाकूट कुरुते

---

जो मानव मन का निरोध नहीं करते है, सकल्प-विकल्प नहीं छोडते है, उनकी दशा कैसी होती है उनका कथन करते है-

**विषयवासना मे दौड़ते हुए मन रूपी ऊँट को जो ज्ञान रूपी रस्सी से नही बॉधते है वे पुरुष अनेक दुःखों को भोगते हुए संसार मे परिभ्रमण करते है।।६२।।**

आचार्यों ने मन को ऊँट की उपमा दी है वा पाठान्तर मे करभ का अर्थ अबोध बच्चा भी है। जो मानव विषयवासना के वन मे दौडते हुए मन रूपी ऊँट को ज्ञान रूपी रस्सी से नहीं बॉधते है, ज्ञान के द्वारा तत्त्व का चिंतन कर विषयो मे जाते हुए मन को नहीं रोकते हैं, अपने स्वरूप मे स्थिर नहीं करते हैं वे द्रव्य क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप (पॉच परिवर्तन रूप) ससार मे निश्चय से उत्पन्न होकर आधि-व्याधि रूप अनेक दु खो को भोगते हुए परिभ्रमण करते हैं।

जैसे-हाथी, घोडे, आदि की रक्षा मे नियुक्त किया हुआ कोई पुरुष राजा, मत्री, पुरोहित आदि के नन्दनवन का विध्वस करने के लिए दौडते हुए हाथी-घोडे आदि पशुओ को अकुशादि के द्वारा नहीं रोकता है, उन पशुओ से राजादि के बगीचे की रक्षा नहीं करता है तो अपनी अधिकारक्रिया मे सावधान न रहने से अपनी क्रिया मे कुटिलता करने के कारण वह पुरुष लोकाचार-विचार मे चतुर चमत्कारी नीतिशास्त्र के अनुसार न्यायमार्ग के ज्ञाता राजा के द्वारा निगृहीत होकर कारागार मे अनेक दु खो का अनुभव करता है। जो कोई भी पुरुष अपनी अधिकारक्रिया मे कुटिलता करता है, उसे अनेक प्रकार के दु खो का अनुभव करना पडता है, इसमे कोई सशय नहीं है। वैसे ही हे क्षपक ! जो अपनी क्रियाओ मे कुटिलता करते हैं, स्वकीय

स एवविधो न सदेह· तथेद विषयेषु प्रवर्तमान मनो नियन्त्रणीयमिति। उक्त च-

अनेकातात्मार्थप्रसवफलभारातिविनिते
वच:पर्णाकीर्णे विपुलनयशाखाशतयुते।
समुत्तुंगे सम्यक् प्रततमतिमूले प्रतिदिन
श्रुतस्कधे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम्॥

वीतरागसर्वज्ञवचनैर्नियुक्तो जनो यस्तु ज्ञानभावनया न निवारयति स वराकश्चतुरशीतिशतसहस्रपरिमाणेषु योनिषु ससारदु खानि सहते न सदेह । एव ज्ञात्वा स्वसवेदनज्ञानाभ्यासबलेन मन प्रसर निरुध्य शुद्धपरमात्मनि स्थापनीयमिति भावार्थ ॥६२॥

मनसो निरोधफल व्याख्याय इदानीममुमेवार्थं बहुशास्त्रप्रसिद्धदृष्टातेन दृढीकृत्य-पश्चादवश्य मुनिना मनोनिरोधो विधातव्य इत्युपदिशति-

---

मानसिक परिणति को विशुद्ध नहीं करते हे, विषय-वासनाओ मे भटकते हुए मन को ज्ञान रूपी रस्सी से नहीं बॉधते हैं, अपने वश मे नहीं करते हैं, वे ससार-वन मे भटकते हैं और जन्म-मरणादि अनेक दु खो को भोगते है, इसलिए सर्व प्रथम अपने मन को वश मे करना चाहिए। सो ही आत्मानुशासन मे कहा है

"अनेक-धर्मात्मक वस्तु के कथन रूप फूल और फलो से झुके हुए, वचन रूपी पत्तो से व्याप्त, विपुल नय रूपी सैकडो शाखाओ से युक्त, सम्यग् मतिज्ञान जिसका मूल है ऐसे अति उत्तुग शोभनीय श्रुतस्कन्ध रूपी वृक्ष मे धीमान् (बुद्धिमान्) अपने मन रूपी वन्दर को रमण कराओ। अर्थात् बन्दर के समान इस चचल मन को हे आत्मन् ! श्रुतस्कन्ध के अभ्यास द्वारा, वा श्रुतकथित, तत्त्व चिन्तन के द्वारा अपने वश मे करो।"

वीतराग सर्वज्ञ वचनो के द्वारा नियुक्त जन-अर्थात् जिनेन्द्र भगवान के वचनो को जानने वाला भी कोई मानव यदि विषय-वासनाओ मे दौडते हुए अपने मन को ज्ञान भावना के द्वारा नहीं रोकता है, विषय-वासनाओ से मन को नहीं हटाता है तो वह बेचारा चौरासी लाख योनियो मे भ्रमण करके अनेक सासारिक दु खो को सहन करता है। इसमे कोई सशय नहीं है। ऐसा जानकर हे आत्मन् ! स्वसवेदन ज्ञान के अभ्यास के बल से स्वकीय मन के प्रसार को रोक कर अपने मन को परमात्मा के चिन्तन मे स्थिर कर। स्व-स्वभाव मे लीन कर॥६२॥

मन के निरोध के फल का कथन करके अब आगे की गाथा मे इसी कथन को बहुशास्त्र प्रसिद्ध दृष्टान्त द्वारा मन को दृढ करके पश्चात् मुनिराज को अवश्य ही अपने मन का निरोध करना चाहिए, ऐसा कहते हैं-

**पिच्छह णरयं पत्तो मणकयदोसेहिं सालिसित्थक्खो।**
**इय जाणिऊण मुणिणा मणरोहो हवइ कायव्वो ॥६३॥**

प्रेक्षध्व नरक प्राप्तो मन.कृतदोषै. शालिसिक्थाख्य ।
इति ज्ञात्वा मुनिना मनोरोधो भवति कर्तव्य· ॥६३॥

भो भव्यजना **पिच्छह** प्रेक्षध्व पश्यत विलोकयत बहुशास्त्रेषु प्रसिद्ध-वाक्य समाकर्णयत इत्यर्थ । किंतत्। **मणकयदोसेहि** मन कृतदोषै चित्तविरचितापराधै **सालिसित्थक्खो** शालिसिक्थाख्य मत्स्यविशेष **णरयं** नरक श्वभ्र **पत्तो** प्राप्तो गत इति। **इय जाणिऊण** इति एत्र ज्ञात्वा विज्ञाय मुनिना सयमिना **मणरोहो** मनोरोध चित्तसकोच **कायव्वो** कर्तव्य करणीय **हवइ** भवति युज्यते इति तात्पर्यम्। तथाहि। शालिसिक्थनाममत्स्यविशेष महामत्स्यकच्छाकुले जलराशौ महामत्स्यकर्णे स्थित । तस्य महानिद्रानुभवतो व्यावृतो मुखे अनेकमत्स्यादीना जतुचराणा समूहा प्रविशति नि सरति क्रीडति स्वेच्छया तिष्ठति चेति पश्यन् व्याकुलत्वेन चिंतापरायणो जात किमय मूढात्मा मुख न सवृणोति येन **सर्वाणीमान्यस्योदरे** तिष्ठति, यद्यहमेवभूतोऽभविष्यस्तदा सकलानीमान्यकवलयिष्यामिति रौद्रध्यानपराधीनस्तेषामलाभेपि मनोरचितदुश्चरित्रेणैव तथाविध पाप समुपार्ज्य नरक गत इति श्रुति । एव ज्ञात्वा मुनिसमूहेन मनोरचितदोषासमर्थ अनावरणत्वादिति सदेह निर्मूल्य मनसो ज्ञानबलेन निरोध एव **करणीय** इति तात्पर्यार्थ ॥६३॥

---

**हे क्षपक ! देखो, मनकृत दोष के द्वारा शालिसिक्थ नामक मच्छ नरक को प्राप्त हुआ, ऐसा जानकर मुनिराजों को मन का निरोध करना चाहिए॥६३॥**

हे भव्यजन ! देखो, बहुत शास्त्रो मे प्रसिद्ध वाक्य को सुनो, मानसिक अपराध के कारण शालिसिक्थ नामक मगरमच्छ नरक में गया था। ऐसा जानकर सयमीजनो को अपने मन का निरोध करना चाहिए।

असख्यात द्वीप-समुद्रो के अन्त मे स्वयभूरमण नामक समुद्र के मध्य मे एक हजार योजन लम्बा, पाँचसौ योजन चौडा और ढाई सौ योजन ऊँचा महामगरमच्छ रहता है। उस मगरमच्छ के कर्ण के मैल को खाकर जीवित रहने वाला, तन्दुल के बराबर छोटा शालिसिक्थ नामक मच्छ रहता है। मुख फाडकर (खोलकर) महानिद्रा का अनुभव करने वाले उस मगरमच्छ के विकराल मुखमे जल मे विचरण करने वाले अनेक विशालकाय मत्स्यादि जीवों का समूह प्रवेश करता है, निकलता है, क्रीडा करता है और स्वेच्छा से उसके मुख मे कुछ देर के लिए बैठ भी जाता है।

इस प्रकार उन जलचर जीवो को मुख मे घुसकर जीवित निकलते देखकर वह शालिसिक्थ मच्छ व्याकुल होकर सोचता है कि यह मूढात्मा (मूर्ख) अपने मुख को बन्द क्यो नहीं करता जिससे अनायास मुख में आगत सारे जन्तु इसके उदर मे रह जाते। व्यर्थ ही स्वयमेव मुख मे आगत जीवो को छोड देता है। यदि कहीं मुझे यह शक्ति प्राप्त हो जाती तो मैं एक भी जल-जन्तु को जीवित नहीं छोडता। सर्व जीवो को अपना ग्रास बना लेता। इस प्रकार रौद्र ध्यान मे लीन और उन जन्तुओ के भक्षण का लाभ प्राप्त नहीं होने पर भी अर्थात् उनको न खाकर के भी केवल मनोजन्य दुर्भावना से पाप उपार्जन करके नरक (सातवे नरक) मे गया। यह शास्त्रीय कथन है, आचार्यों के वाक्य हैं। क्योकि प्राणियो के परिणाम ही पुण्य-पाप के कारण हैं। हे क्षपक ! इन सर्वज्ञ प्रणीत वाक्यों का श्रद्धान कर के अपने मन को बाह्य पचेन्द्रिय विषयो मे मत जाने दो। तत्त्वचिंतन और शुद्ध परमात्मा के ध्यान द्वारा अपने उपयोग को स्व मे स्थिर करने का प्रयत्न करो॥६३॥

[illegible]

**सिक्खह मणवसियरणं सवसीहूएण जेण मणुआणं।**
**णासंति रायदोसा तेसिं णासे समो परमो ॥६४॥**
**उवसमवंतो जीवो मणस्स सक्केइ णिग्गहं काउं।**
**णिग्गहिए मणपसरे अप्पा परमप्पओ हवइ ॥६५॥ जुअलं ॥**

शिक्षत मनोवशीकरणं स्ववशीभूतेन येन मनुजानाम्।
नश्यतः रागद्वेषौ तयोर्नाशे समः परमः ॥६४॥

उपशमवान् जीवो मनसः शक्नोति निग्रहं कर्तुम्।
निगृहीते मनःप्रसरे आत्मा परमात्मा भवति ॥६५॥ युगलम्।

**मणवसियरणं** [illegible] **सिक्खह** [illegible] **सवसीहूएण** [illegible] **मणुआणं** [illegible] **रायदोसा** [illegible] **णासंति** [illegible] **णासे** [illegible] **परमो** [illegible] **उवसमवंतो** [illegible] **जीवो** [illegible] **मणस्स** [illegible] **णिग्गहं** [illegible] **काउं** [illegible] **सक्केइ** [illegible] **णिग्गहिए** [illegible] **अप्पा** [illegible] **परमप्पओ** [illegible] **हवइ** भवतीति तात्पर्यं ॥६४॥६५॥

---

इस प्रकार 'मन की [illegible] है' इसका [illegible], 'वश में जाने हुए मन को वश में [illegible]', ऐसा उपदेश [illegible] उपाय बताकर मन-निरोध के फल का कथन करते हैं-

हे क्षपक ! मन को वश में करने का अभ्यास करो। क्योंकि मन के स्ववश हो जाने पर मानवों के हृदयस्थ रागद्वेष नष्ट हो जाते हैं। रागद्वेष के नष्ट हो जाने पर परम समता भाव की प्राप्ति होती है। उपशम (समता) भाव को प्राप्त हुआ जीव मन का निग्रह करने में समर्थ होता है और मन के प्रसार का निग्रह हो जाने पर आत्मा परमात्मा बन जाता है ॥ ६४-६५ ॥

आचार्यदेव कहते हैं कि हे क्षपक ! सर्वप्रथम तुम स्वकीय अवश (बाह्य विषय-वासनाओं में दौड़ने वाले) मन को अपने वश में करो, स्वाधीन करने का अभ्यास करो। क्योंकि मन के वश में हो जाने पर इष्टानिष्ट पदार्थों में प्रीति और अप्रीति रूप रागद्वेष नष्ट हो जाते हैं। रागद्वेष के नष्ट हो जाने से मानव को परम उपशम भाव प्राप्त होता है, रागद्वेष के नाश होने पर वीतरागत्व के आधारभूत परिणाम उत्पन्न होते हैं। उपशमवान आत्मा पूर्ण

ननु केन प्रकारेणास्य मन प्रसरस्य निवारण भवतीति प्रश्ने प्रत्युत्तरमाह-

**जहं जहं विसएसु रई पसमइ पुरिसस्स णाणमासिज्ज।**
**तहं तहं मणस्स पसरो मज्जइ आलंबणारहिओ ।।६६।।**

यथा यथा विषयेषु रति प्रशमति पुरुषस्य ज्ञानमाश्रित्य।
तथा तथा मनस प्रसरो भज्यते आलबनारहित ।।६६।।

**जह जह** यथा यथा **विसएसु** विषयेषु इद्रियार्थेषु **पुरिसस्स** पुरुषस्य जीवस्य **रई** रति·राग **पसमइ** प्रशमति उपशमति उपशमता गच्छति। किकृत्वा। **णाणमासिज्ज** ज्ञानमाश्रित्य पूर्व तावदस्य जीवस्य रतिरनादि-कालसबधवशात् परविषयाधारा इदानीं तु कालादिलब्धि समवाप्य। स्वसवेदनज्ञानेनाकृष्टा सती ज्ञानमाश्रयतीति तात्पर्येण पूर्वार्धगाथार्थ.। **तह तह** तथा तथा **मणस्स** मनस चित्तस्य **पसरो** प्रसरो विस्तार **आलंबना-रहिओ** आलबनारहित सन् रत्याश्रयमुक्त सन् **भज्जइ** भज्यते विनश्यति अस्य **मन·प्रसरस्य** रतिरेवाश्रय रतिस्तु विषयाश्रय परित्यज्य ज्ञानाश्रयणी जाता **यत्रैव** रतिस्तत्रैव मन प्रसर इति श्रुति । अत मन प्रसरोपि ज्ञानाश्रयी भवतीत्यायात मनोप्यात्मान ज्ञानलीन करोतीति तात्पर्यार्थ ।।६६।।

---

रूप से मन को निग्रह करने मे समर्थ होता है। जिनका मन पूर्ण रूप से बाह्य विषयो से विरक्त होकर विलीन हो जाता है, निर्विकल्प हो जाता है, निर्विकल्प समाधि को प्राप्त हो जाता है तो वह अन्तर्मुहूर्त्त मे चारघातिया कर्मो का नाश कर अर्हन्त अवस्था को प्राप्त होता है। केवलज्ञानादि अनन्त क्षायिक गुणो से युक्त होकर सकल परमात्मा बन जाता है।।६४-६५।।

किन कारणो से वा किस प्रकार से मन के प्रसार का निरोध किया जाता है? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते है-

**जैसे-जैसे ज्ञान का आश्रय लेकर पुरुष की विषयो मे रति (राग) नष्ट हो जाती है, वैसे-वैसे निरालम्ब (अवलम्ब रहित) हो जाने से मन का प्रसार भी नष्ट हो जाता है।।६६।।**

मन की चचलता वा विषयो से विरक्ति होने का वा मन को वश मे करने का मुख्य कारण ज्ञान है। क्योकि ज्ञान के अवलम्बन से आत्मा की पचेन्द्रिय विषयो की रति (राग) नष्ट हो जाती है अर्थात् काल-लब्धिवश यह आत्मा परपदार्थो मे जाने वाली ज्ञानधारा को स्वसवेदन ज्ञान के बल से रोककर स्व मे स्थिर करने का प्रयत्न करता है, तब पॉचो इन्द्रियजन्य विषयो से रति नष्ट हो जाती है और विषयो के अवलम्बन से रहित होने से मन का प्रसार वा चचलता भी नष्ट हो जाती है। अर्थात् ज्ञानधारा विषयो के आश्रय को छोडकर ज्ञान मे लीन हो जाती है। अत मन के प्रसार को ज्ञान मे लीन करने का अभ्यास करना चाहिए। अथवा मनके प्रसार का आश्रय रति है, रति का आश्रय विषय है, इसलिए इन्द्रियजन्य विषय का परित्याग कर देने पर मन ज्ञान मे लीन हो जाता है। अत मन को ज्ञान मे लीन करने के लिए विषयो का परित्याग करो ।।६६।।

अमुमेवार्थं पुनरपि दृढीकरोति-

**विसयालंबणरहिओ णाणसहावेण भाविओ संतो।**
**कीलइ अप्पसहावे तक्काले मोक्खसुक्खे सो ॥६७॥**

विषयालबनरहित ज्ञानस्वभावेन भावित सत्।
क्रीडति आत्मस्वभावे तत्काले मोक्षसौख्ये तत् ॥६७॥

अत्र प्राकृतलक्षणे पुन्नपुसकलिगयो कुत्रचिद्रूपभेदो नास्ति तथा च द्विवचनवहुवचनभेदो नास्तीत्यादि सर्वत्र यथासभव विचारणीय। **विसयालबणरहिओ** विपयालवनरहित अनादिकालससेव्यमानविपयाधारवर्जित तत् मन **णाणसहावेण** ज्ञानस्वभावेन ज्ञानवासनया **भाविओ संतो** भावित वासित सत् **तक्काले** तत्काले तदानीं **अप्पसहावे** आत्मस्वभावे शुद्धपरमात्मस्वरूपे **सुक्खे** मोक्षसुखे भावमोक्षलक्षणसमुद्भूतसुखे **कीलइ** क्रीडति क्रीडमानस्तिष्ठतीति गाथार्थ ॥६७॥

मन प्रसरणनिवारणफल दर्शयित्वा सप्रति तद्रूपवृक्षखडनाय शिष्योपदेश ददति-

**णिल्लूरह मणवच्छो खंडह साहाउ रायदोसा जे।**
**अहलो करेह पच्छा मा सिचह मोहसलिलेण ॥६८॥**

निर्लूयत मनोवृक्ष खडयत शाखे रागद्वेषौ यौ।
अफल कुरुध्व पश्चात् मा सिचत मोहसलिलेन ॥६८॥

---

इसी अर्थ को फिर भी दृढ करते है-

**ज्ञान स्वभाव से भावित मन विषयो के अवलम्बन से रहित होकर आत्मस्वभाव मे क्रीडा करता है और तत्काल (शीघ्र ही) वह आत्मा मोक्षसुख को प्राप्त हो जाता है ॥६७॥**

प्राकृत व्याकरण मे पुलिग और नपुसक लिंग में कहीं रूपभेद नही भी होता है। उसी प्रकार प्राकृत व्याकरण मे दो वचन और बहुवचन का भेद भी नहीं है। ऐसा सर्वत्र यथासभव विचारणीय है।

अनादि काल से सेवित, विषय आधारसे रहित (विषयावलम्बन से रहित) हुआ मन ज्ञान स्वभाव से भावित होकर शीघ्र ही शुद्ध परमात्म स्वभाव रूप भावमोक्ष लक्षण से समुत्पन्न मोक्षसुख मे क्रीडा करता है, रमण करता है। अर्थात् निर्विकल्प समाधि मे लीन हो जाता है ॥६७॥

मन के प्रसार के निवारण के फल को दिखाकर इस समय मन रूपी वृक्ष का खण्डन करने के लिए आचार्य शिष्य को उपदेश देते हैं-

हे क्षपक ! **मन रूपी वृक्ष को निर्मूल करो और रागद्वेष रूप शाखा का खण्डन करो और उस को फल रहित करो तथा मोह रूप जल से सिचन मत करो ॥६८॥**

**मणवच्छो** मनोवृक्ष मनोरूपतरु निर्लूयत छिन्नविस्तार **कुरुत** रागद्वेषद्वितया शाखे शाखाशब्दे द्विवचन **अहलं** अफल **करेह** कुरुध्व। यथा स मनोवृक्षो न फलति। पुनरपि रागद्वेषवशात् सकल्पविकल्पेषु न प्रवर्तते तथा कुरुत। **पच्छा** पश्चात् पुन मोहसलिलेन ममेदमस्याहमिति विभ्रमो मोह मोहरूपजलेन **मा सिचह** मा सिंचतु मनोवृक्षमूले मा मोहरूप जल ददत इत्यर्थ ॥६८॥

एव मनोवृक्षमुत्पाटनाय शिष्यमुपदेश्याधुना मनोव्यापारे विनष्टे इद्रियाणि विषयेषु न यातीति दर्शयन्नाह-

**णट्ठे मणवावारे विसएसु ण जंति इंदिया सव्वे।**
**छिण्णे तरुस्स मूले कत्तो पुण पल्लवा हुंति॥६९॥**

नष्टे मनोव्यापारे विषयेषु न याति इद्रियाणि सर्वाणि।
छिन्ने तरोर्मूले कुत पुन पल्लवा भवति॥६९॥

**मणवावारे** मनोव्यापारे चित्तस्य सकल्पविकल्पस्वरूपे व्यापारे **नट्ठे** विनष्टे सति **सव्वे** सर्वाणि समस्तानि **इंदिया** इद्रियाणि हृषीकानि **विसएसु** विषयेषु गोचरेषु **ण जंति** न याति न गच्छति। अत्रैवार्थे अर्थान्तरन्यासमाह। **तरुस्स मूले** तरोर्मूले वृक्षस्य जटाकदादिविशेषे **छिण्णे** छिन्ने नि सतानीकृते **कत्तो पुणु**

---

आचार्यदेव ने मन को वृक्ष की, रागद्वेष को शाखा की और सकल्प-विकल्प को फल की उपमा दी है। अत आचार्यदेव कहते है हे क्षपक ! मन रूपी वृक्ष के विस्तार का निर्मूलन करो, राग-द्वेष रूपी शाखा को उखाड दो जिससे यह मन रूपी वृक्ष सकल्प-विकल्प रूप फल से रहित हो जावे अर्थात् इस मन मे सकल्प-विकल्प न उठे, यह मन निर्विकल्प बन जावे। पुन इसे 'यह मेरा है' इस प्रकार का विभ्रम मोह है। उसे मोहरूपी जल से मत सीचो - क्योकि जैसे जल के सींचने पर सूखा हुआ वृक्ष भी पुन अकुरित और शाखा और फल वाला बन जाता है, उसी प्रकार हे क्षपक ! यदि तू इसको मोह रूपी जल से सींचता रहेगा तो ग्यारहवे गुणस्थान मे निर्विकल्प हुआ मन रूपी वृक्ष पुन रागद्वेष रूपी शाखा से लुब्ध हो सकल्प-विकल्प रूप फल से फलित हो जायेगा॥६८॥

इस प्रकार शिष्य को मन रूपी वृक्ष के उखाडने का उपदेश देकर अब ''मनोव्यापार के नष्ट हो जाने पर इन्द्रियाँ विषयो मे प्रवृत्ति नहीं करती है,'' ऐसा दिखाते हुए आचार्य कहते है-

**मन का व्यापार नष्ट हो जाने पर सारी इन्द्रियाँ स्वकीय-स्वकीय विषयो मे नही जाती हैं। (अपने विषयो से विरक्त हो जाती है) क्योकि वृक्षमूल के कट जाने पर पत्ते कैसे रह सकते हैं॥६९॥**

सकल्प-विकल्प रूप चित्त का व्यापार मनोव्यापार कहलाता है। उस मनोव्यापार के नष्ट हो जाने पर पाँचो इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयो मे प्रवृत्ति नहीं करती है, स्वकीय विषयो मे नहीं जाती है। इसी अर्थ को अर्थान्तरन्यास वा दृष्टान्त के द्वारा कहते है। वृक्ष की मूल के नष्ट हो जाने पर (वृक्ष की जड को काट

कुत पुन **पल्लवा** हुंति पल्लवा भवति कुत पुनरपि पल्लवा प्ररोहति। यथा मूलाभावे अकुरपल्लवादीनामभाव· तथा मनोव्यापाराभावे इद्रियाणा विषयगमनाभाव इत्यर्थ ॥६९॥

मनोव्यापारविनाशफलमुपदर्श्य तन्मात्रव्यापारे विनष्टे उत्पन्ने च विशेपमुपदर्शयन्नाह-

**मणमित्ते वावारे णट्ठुप्पण्णे य बे गुणा हुंति।**
**णट्ठे आसवरोहो उप्पण्णे कम्मबंधो य॥७०॥**

मनोमात्रे व्यापारे नष्टे उत्पन्ने च द्वौ गुणो भवत ।
नष्टे आस्रवरोध उत्पन्ने कर्मवधश्च॥७०॥

**मणमित्ते** मनोमात्रे चित्तमात्रे सकल्पविकल्पलक्षणमात्रे **वावारे** व्यापारे **णट्ठे** नष्टे विनष्टे **उपण्णे य** उत्पन्ने च जातमात्रे च **वे गुणा** द्वौ गुणो सवरकर्मवधलक्षणो **हुति** भवत । कस्मिन् सति को गुणो भवतीत्याह।

---

देने पर) उसमे पत्तो की उत्पत्ति नहीं होती हे। जेसे वृक्ष की जड कट जाने पर उसमं अकुर-पत्ते-फूल-फलादि नहीं होते हैं, उसी प्रकार मनोव्यापार के नष्ट हो जाने पर अर्थात् मन के सकल्प विकल्प नष्ट होकर निर्विकल्प हो जाने पर इन्द्रियो के विपयो मे प्रवृत्ति का भी अभाव हो जाता है ॥६९॥

मनोव्यापार के नष्ट होने पर जो फल होता है उसको दिखाकर मन के सकल्प-विकल्प रूप व्यापार के होने पर क्या होता है, उसका विशेष रूप से कथन करते हुए आचार्य कहते हैं-

**मनोव्यापार के नष्ट हो जाने पर और मनोव्यापार के उत्पन्न होने पर भिन्न-भिन्न दो गुण (गुण दोष) होते है। मननिमित्त व्यापार के नष्ट होने पर आस्रव का निरोध होता है और मनोव्यापार के उत्पन्न होने पर कर्मबन्ध होता है॥७०॥**

मानसिक सकल्प-विकल्प ही मनोव्यापार है। मानसिक सकल्प-विकल्प के नष्ट हो जाने पर कर्मो का आगमन रुक जाता है अर्थात् आस्रवनिरोध लक्षण सवर होता है और जब मनोव्यापार (सकल्प-विकल्प) उत्पन्न होता है तब कर्मवन्ध होता है।

कर्मबध चार प्रकार का है- प्रकृति बध, प्रदेश बध, स्थिति बध और अनुभाग बध।

स्वभाव, प्रकृति, शील एकार्थवाची है अत कर्मो का स्वभाव है वह प्रकृति बध है- जैसे **ज्ञानावरणीय** कर्म का स्वभाव है- ज्ञान गुण का आच्छादन करना। **दर्शनावरणीय** का स्वभाव है आत्मा के दर्शन गुण का आच्छादन करना। सुख दु ख देना वा सुख वा दु ख का वेदन कराना **वेदनीय कर्म** का स्वभाव है। जो आत्मा को मोहित करता है अर्थात् **मोहनीय कर्म** का स्वभाव है आत्मा को मोहित, कलुषित वा कषाययुक्त करना। **आयु कर्म** का स्वभाव है जीव को शरीर मे रोक कर के रखना।

**नाम कर्म** का स्वभाव है- शरीर के निमित्त से आत्मा के अनेक आकार बनाना।

**गोत्र कर्म** का स्वभाव है आत्मा को उच्च-नीच कुल मे उत्पन्न करना।

**अन्तराय** का स्वभाव है- दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य मे विघ्न डालना।

**णट्ठे** नष्टे सति **आसवरोहो** आस्रवनिरोध कर्मास्रवरोधो भवति उप्पण्णे उत्पन्ने सति उत्पन्नमग्नस्य सकल्पस्यानिषेधे सति **कम्मबंधो य** कर्मबधश्च प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशलक्षणात्मको भवति ॥७० ॥

यावत्काल विषयव्यापारपरिणतमत करण तावत्काल कर्माणि हतु न शक्तोस्तीत्यावेदयति-

**परिहरिय रायदोसे सुण्णं काऊण णियमणं सहसा।**
**अत्थइ जाव ण कालं ताव ण णिहणेइ कम्माइ ॥७१ ॥**

परिहृत्य रागद्वेषौ शून्य कृत्वा निजमन सहसा।
तिष्ठति यावन्न काल तावन्न निहति कर्माणि ॥७१ ॥

**अत्थइ जाव ण कालं** यावत्काल न तिष्ठति यावत काल स्वात्माभिमुखपरिणामत्वेन न वर्तते। कोसौ। क्षपक । किकृत्वा न तिष्ठति। **परिहरिय रायदोसे** परिहृत्य रागद्वेषौ इष्टेषु स्रक्चदनवनितादिषु प्रीति राग अनिष्टेषु अप्रीतिर्द्वेष रागश्च द्वेषश्च रागद्वेषौ परित सर्वप्रकारेण त्यक्त्वा। न केवल रागद्वेषौ परिहृत्य। **सुण्ण काऊण णियमण सहसा** शीघ्र निजमन शून्य च कृत्वा। अत्र मनस शून्यत्वमेतत् यत् नि शेष-विषयविमुखत्व यच्च चिच्चमत्कारमात्रनिजशुद्धात्मपरिणतत्व रागद्वेषौ परिहृत्य शून्य च मन कृत्वा यावत् क्षपको न तिष्ठति। तावत् कि न स्यादित्याह। **ताव ण णिहणेइ कम्माइ** तावन्न निहति कर्माणि तावत काल कर्माणि ज्ञानावरणादीनि न निहन्यात्। इति ज्ञात्वा शुद्धात्मस्वरूप जिज्ञासुना अलोल मन कार्यम्। यदुक्तम्-

---

एक समय मे बँधे हुए कर्मों की आत्मा के साथ एकक्षेत्रावगाही होकर रहने की मर्यादा **स्थितिबध** है जैसे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, अन्तराय की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडा कोडी सागर प्रमाण है। नाम, गोत्र की बीस कोडा कोडी सागर प्रमाण है। आयु की उत्कृष्ट स्थिति तैतीस सागर है और मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडा कोडी सागर है। कर्मों मे फलदान देने की शक्ति को **अनुभाग** बध कहते है और जो एक समय मे सिद्धो के अनन्तवे भाग और भव्य राशि से अनन्त गुणी जो कार्माण वर्गणा आती है, वह **प्रदेश बध** है। इस प्रकार मानसिक सकल्प विकल्प मे चार प्रकार का कर्मबध होता है ॥७० ॥

जब तक विषयव्यापार की परिणति अत करण मे स्थित है तब तक कर्मों का नाश करने मे आत्मा समर्थ नहीं होता है, इसी सम्बन्ध मे आचार्य कहते है-

**जब तक यह आत्मा शीघ्र ही रागद्वेष का त्याग करके निज मन को शून्य करके (निर्विकल्प करके) नहीं रहता है, तब तक कर्मो का नाश नहीं कर सकता ॥७१ ॥**

जो क्षपक इष्ट माला, चन्दन, स्त्री आदि मे प्रीति रूप राग और अनिष्ट माला आदि मे अप्रीतिरूप द्वेष का त्यागकर अपने मन को शीघ्र ही सकल्पो से शून्य करके, स्वात्माभिमुख परिणामो से जब तक स्व मे परिणमन नहीं करता है, स्वमन की चचलता दूर कर अपने मे स्थिर नहीं करता है, जब तक पचेन्द्रियजन्य विषयो से विमुख होकर, रागद्वेष से मन को शून्य करके चिच्चमत्कार मात्र निज शुद्धात्म परिणत हो रागद्वेष को छोडकर स्व मे मन को स्थिर नहीं करता है, तब तक ज्ञानावरणादि कर्मो का नाश नहीं कर सकता। ऐसा जानकर शुद्धात्म स्वरूप के जिज्ञासु को स्वकीय मन को अडोल अकम्प करना चाहिए। सो ही **पूज्यपाद** स्वामी ने इष्टोपदेश मे कहा है-

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्व सतत्त्व नेतरो जन. ॥
अविक्षिप्त मनस्तत्त्व विक्षिप्त भ्रांतिरात्मन:।
धारयेत्तदविक्षिप्त विक्षिप्त नाश्रयेत्तत. ॥

ततश्च चेतनाचेतनेषु परद्रव्येषु रागद्वेषौ हित्वा शुभाशुभमनोवचन-कायव्यापाररूपयोगत्रयपरिहार-परिणताभेदरत्नत्रयलक्षणज्ञानबलेन शून्य विषयविमुख च मन कृत्वा यो वीतरागचारित्राविनाभूतशुद्धात्मा-भिमुख-परिणामस्तिष्ठति स सकलकर्माणि जयतीति भावार्थ ॥७१॥

यावच्चिदानदात्मकपरमब्रह्मोपासनवासनाबलेन मनो निश्चल न विधीयते तावत् कर्मास्रवा वारयितु न शक्यते इत्याह-

**तणुवयणरोहणेहि रुज्झंति ण आसवा सकम्माणं।**
**जाव ण णिप्फंदकओ समणो मुणिणा सणाणेण॥७२॥**

तनुवचनरोधनाभ्या रुध्यते न आस्रवा स्वकर्मणाम्।
यावन्न निष्पदीकृत स्वमनो मुनिना स्वज्ञानेन॥७२॥

जिसका मनरूपी जल रागद्वेष रूपी कल्लोलो से चचल नहीं है वही आत्मतत्त्व का अवलोकन कर सकता है परन्तु जिनका मन रागद्वेष से चचल है वे आत्मतत्त्व का अवलोकन नहीं कर सकते।

मन का विक्षिप्त नहीं होना ही तत्त्व है और मन का विक्षिप्त होना आत्मविभ्रान्ति है। इसलिए अविक्षिप्त मन को धारण करना चाहिए और विक्षिप्त मन का आश्रय नहीं लेना चाहिए। अर्थात् मन की चचलता के कारणभूत रागद्वेष का त्याग कर उसे निज स्वभाव मे स्थिर करना चाहिए।

हे आत्मन्! जो मानव चेतन एव अचेतन रूप परद्रव्य सम्बन्धी रागद्वेष को छोडकर और शुभ एव अशुभ मन, वचन, काय के व्यापार रूप तीन योगो का परिहार कर अभेद रूप से परिणत रत्नत्रय लक्षण ज्ञान के बल से मन को विषयो से विमुख कर, चचलता से शून्य कर, वीतराग चारित्र के अविनाभावी शुद्धात्मा के अभिमुख परिणाम मे स्थिर होता है, वही मानव सकल कर्मों पर विजय प्राप्त करता है अर्थात् सारे कर्मों का विनाश कर स्वकीय शुद्धावस्था को प्राप्त होता है ॥७१॥

हे क्षपक! जब तक यह प्राणी चिदानद आत्मिक परम ब्रह्म की उपासना के बल से स्वकीय मन को निश्चल नहीं करता है, तब तक वह कर्मास्रव को रोकने मे समर्थ नहीं होता है, ऐसा आचार्य कहते हैं-

**जब तक मुनिराज स्वकीय ज्ञान के बल से अपने मन को निश्चल नही करते है तब तक काय और वचन के रोकने मात्र से ही स्वकीय कर्मास्रव का निरोध नही कर सकते॥७२॥**

**रुज्झंति ण** न निरुध्यते न निवार्यन्ते ते **आसवा** आस्रवा **सकम्माणं** स्वकर्मणा स्वेन आत्मीयेन जीवेन सहैकीभाव गताना ज्ञानावरणाद्यष्टविध-कर्मणा। काभ्या न निवार्यते। **तणुवयणुरोहणेहिं** तनुवचनरोधनाभ्या तनु काय वचन वच तयोर्निरोधने ताभ्या तनुवचनरोधनाभ्या 'दुब्वयणे बहुवयणमिति' प्राकृते। अथवा स्वकर्मणामित्यस्य पदस्यायमर्थ । कायेनोपार्जितानि कर्माणि स्वकर्माणि कायकर्माणि वचनेनोपार्जितानि कर्माणि स्वकर्माणि वचनकर्माणि उच्यते। मनोनिरोधेन विना कायनिरोधेन कायकृताना कर्मणामास्रवा न निषिध्यते, वचननिरोधेन वचनकृतानामपि कर्मणामास्रवा न निषिध्यते किंतु सर्वकर्मणामास्रवा एकेनैव मनोनिरोधेन निषिध्यते तस्मादाह **जाव ण णिप्फंदकओ** यावन्न निष्पदीकृत निश्चलीकृत। कि तत्। **समणो** स्वमन स्वचित्त द्रव्यभावरूप। केन। **मुणिणा** मुनिना महात्मना क्षपकेन। केन निश्चलीकृत। **सणाणेण** स्वज्ञानेन स्वसवेदनज्ञानगुणेन ततो निर्मलचैतन्यस्वभावस्वात्माभिमुखपरिणाममाहात्म्येन दुर्जयमनोजय कृत्वा कर्मास्रवा निवारयितव्या इति हेतोर्मनोजय एव श्रेयान्।।७२।।

मन प्रसरे निवारिते सति यत्फल भवति तदावेदयति-

**खीणे मणसंचारे तुट्टे तह आसवे य दुवियप्पे।**
**गलइ पुराणं कम्म केवलणाणं पयासेइ।।७३।।**

क्षीणे मन सचारे त्रुटिते तथास्रवे च द्विविकल्पे।
गलति पुरातन कर्म केवलज्ञान प्रकाशयति।।७३।।

---

हे भव्य ! जब तक भव्यात्मा महामुनि क्षपक स्वसवेदन ज्ञान के द्वारा अपने मन को निश्चल नहीं करता है, निर्विकल्प नहीं करता है, तब तक वचन और काय का निरोध करने पर भी जीव के साथ एकीभाव (एकक्षेत्रावगाह) को प्राप्त, जीव के द्वारा उपार्जित ज्ञानावरणादि आठ कर्मो का निरोध (सवर) नहीं कर सकता है। अथवा स्वकर्म का अर्थ है काय की चेष्टा से उपार्जित किया हुआ कर्म, कार्यनिरोध से नष्ट नहीं होता और वचन से उपार्जित किया हुआ कर्म, वचन के निरोध से नष्ट नहीं होता है- परन्तु मन के निश्चल (निरोध) हो जाने पर मन, वचन और काय इन तीनो से उपार्जित किए हुए कर्म एक क्षण मे नष्ट हो जाते हैं और नवीन कर्मो का आगमन रुक जाता है। इसलिए आत्महित इच्छुक क्षपक को स्वसवेदन ज्ञान गुण के बल से वा निर्मल चैतन्य स्वभाव स्वात्माभिमुख परिणाम के माहात्म्य से दुर्जय स्वकीय मन को निश्चल करने का अभ्यास करना चाहिए। स्वकीय मन को निश्चल करके कर्मास्रव का निरोध करना चाहिए। सर्वकर्मो के क्षय सवर और निर्जरा का कारण मन को निश्चल करना ही है अत मन का निरोध करना ही श्रेयस्कर है वा श्रेष्ठ है।।७२।।

मन का निरोध होने पर जो फल प्राप्त होता है उसको आचार्य सूचित करते हैं-

**मन के संचार के नष्ट हो जाने पर शुभ, अशुभ वा द्रव्य, भावरूप दो प्रकार का आस्रव रुक जाता है और आस्रव के रुक जाने पर पुराने (पूर्व मे बॉधे हुए) कर्म गल जाते है, निर्जीर्ण हो जाते है और केवलज्ञान प्रकट होता है।।७३।।**

**गलइ** गलति विलीयते क्षय याति। कि तत्। **कम्म** कर्म। कीदृश। **पुराणं** पुरातन अनेकभवातरोपार्जित। न केवलमनेकभेदभिन्न कर्म विगलति किंतु **केवलणाणं पयासेइ** केवलज्ञान केवल च तत् ज्ञान च केवलज्ञान प्रकाशयति आविर्भवति प्रकटीभवति। कस्मिन् सति। **खीणे मण-सचारे** प्रक्षीणे मन सचारे सचरण सचार मनस सचारो मन सचारस्तस्मिन् मन·सचारे क्षय विनाश गते सति। न केवल मन सचारे क्षीणे सति। **तुट्टे तह आसवे य दुवियप्पे** तथा तेनैव प्रकारेण आस्रवे कर्मास्रवे त्रुटिते सति विलय गते सति। कीदृशे आस्रवे। दुविकल्पे द्वौ विकल्पौ भेदौ यस्य स द्विविकल्प तस्मिन् द्विविकल्पे शुभाशुभे द्रव्यभावरूपे वा। मन प्रसरे क्षीणे सति कर्मास्रवे च निवर्तिते सति भवभवार्जित कर्म विगलति केवलज्ञान चाविर्भवतीति समुच्चयार्थ । तथाहि-यो ध्याता अनतज्ञानादिचतुष्टयलक्षणकार्यसमयसारस्योत्पादकेन विशुद्धतरसमाधिपरिणामपरिणतकारणसमयसारेणात करणमत नयति स कर्मास्रवशत्रून् हत्वा केवलज्ञानविभूतिभाग्भवति नि सशयमिति ।।७३।।

यदि कर्मक्षयस्तवाभिप्रेतस्तदा मन शून्य विधेहीति शिक्षा प्रयच्छन्नाह-

**जइ इच्छहि कम्मखयं सुण्णं धारेहि णियमणो झत्ति।**
**सुण्णीकयम्मि चित्ते णूणं अप्पा पयासेइ ।।७४।।**

यदीच्छसि कर्मक्षय शून्य धारय निजमनो झटिति।
शून्यीकृते चित्ते नूनमात्मा प्रकाशयति ।।७४।।

---

शुभ और अशुभ के भेद से, द्रव्य और भाव के भेद से कर्म-आस्रव दो प्रकार का है। जिस समय मन का प्रचार-प्रसार-सचार वा चचलता नष्ट हो चुकती है, मन का निरोध हो जाता है, तब शुभ-अशुभ विकल्प वाले दोनो प्रकार के कर्मो का आगमन रुक जाता है, (कर्मो का सवर हो जाता है)। तथा आस्रव के रुक जाने पर मन, वचन, काय के द्वारा अनेक भवो मे उपार्जित कर्म एक क्षण (अन्तर्मुहूर्त्त) मे नष्ट हो जाते है और कर्मो का नाश हो जाने पर केवलज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। अर्थात् मन की चचलता नष्ट हो जाने पर नवीन कर्मोका आस्रव रुक जाता है, पुरातन कर्मो की निर्जरा होती है और केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। यह इसका समुच्चय अर्थ है।

तथाहि - जो ध्याता भव्यात्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य इन अनन्त चतुष्टय लक्षण कार्य समयसार के उत्पादक विशुद्धतर समाधि परिणाम से परिणत कारण समयसार के द्वारा अपने अत करण (मन) को अतरग मे लीन करता है, मन को निर्विकल्प करता है, वह कर्मशत्रुओं का सहार (घात) करके केवलज्ञान रूपी विभूति का भोक्ता बन जाता है। इसमे किसी प्रकार का सशय नहीं है ।।७३।।

"हे क्षपक ! यदि तुम्हे कर्मों का क्षय करना इष्ट है तो मनको निर्विकल्प करने का प्रयत्न करो", ऐसी शिक्षा देते हुए आचार्य कहते है-

**हे क्षपक ! यदि तुम कर्मों का क्षय करना चाहते हो तो शीघ्र ही स्वकीय मन को निर्विकल्प करो। क्योंकि मन के निर्विकल्प हो जाने पर निश्चय से आत्मा प्रकाशित होती है।।७४।।**

भो क्षपक **जइ इच्छहि** यदि चेत् इच्छसि वाछसि अभिलषसि। किं तत्। **कम्मक्खय** कर्मणा द्रव्यभावरूपाणा क्षयो विनाश कर्मक्षयस्त कर्मक्षय तदा **सुण्णं धारेहि** शून्य लाभपूजाभोगकाक्षाविरहित धारय। कि तत्। **णियमणो** निजमन सकल्पविकल्परूप स्वकीयचित्त। कथ। झक्ति झटिति त्वरित। ततश्च **सुण्णीकयम्मि चित्ते** शून्यीकृते विषयविमुखीकृते चित्ते मनसि। किं स्यादित्याह। **अप्पा पयासेहि** आत्मा प्रकाशयति जलधरपटलविघटनाद्रविरिव प्रकटीभवति। कथ। **णूण** नून निश्चित। तथाहि-अयमात्मा सकलविमलकेवलज्ञानमयमूर्ति रागद्वेषादिदोषोज्झिते मनसि सर्वभावविलये वावभासते। यदुक्त-

**सर्वभावविलये विभाति यत्सत्समाधिभरनिर्भरात्मनः।**
**चित्स्वरूपमभितः प्रकाशकं शर्मधाम नमताद्भुत मह॰॥**

यदि चित्तमुद्वासयसि तदा स्वात्मान पश्यसीत्यावेदयति-

**उव्वासहि णियचित्तं वसहि सहावे सुणिम्मले गंतुं।**
**जइ तो पिच्छसि अप्पा सण्णाणो केवलो सुद्धो॥७५॥**

उद्वासयसि निजचित्त वससि सद्भावे सुनिर्मले गतुम्।
यदि तदा पश्य स्वात्मान सज्ञान केवल शुद्धम् ॥७५॥

---

हे क्षपक ! यदि तू द्रव्य कर्म, भाव कर्म, रूप सर्व कर्मों का क्षय करना चाहता है तो सकल्प-विकल्प से आकुलित अपने मन को ख्याति, लाभ, पूजा और भोगो की काक्षा आदि विचारो (भावनाओ) से शीघ्र ही शून्य कर। क्योकि मन के निर्विकल्प हो जाने पर, पचेन्द्रियजन्य विषयो से विमुख हो जाने पर, आत्मज्योति का प्रकाश होता है। जैसे बादलो का विघटन हो जाने पर, सूर्य प्रकट होता है। तथाहि - रागद्वेष से रहित मन के हो जाने पर वा सर्व विभाव भावो के विलीन हो जाने पर निर्मल ज्ञान मे सकल विमल केवल-ज्ञानमय मूर्त्ति यह आत्मा अवभासित होती है, प्रकट होती है। सो ही कहा है-

जब सत्समाधि मे रत, निर्भर आत्मा के सर्व विभाव भावो का नाश हो जाता है, तब चारो तरफ से अद्भुत महातेज, सुखधाम, चित्स्वरूप प्रकाश (केवलज्ञान) प्रकट होता है, उस महातेजस्वरूप केवल ज्ञान को नमस्कार करो ॥७४॥

हे क्षपक ! यदि तू चित्त को निर्विकल्प करता है (करेगा) तो निर्मल स्वात्मा का अवलोकन करेगा। ऐसा आचार्य कहते हैं-

**हे क्षपक ! तू स्वकीय चित्त को विषयो से विमुख करता है, अपने सुनिर्मल आत्मा को जानने के लिए स्व-स्वभाव में मन को स्थिर करता है, तो तू शुद्ध केवलज्ञानमय अपनी आत्मा को देख सकता है॥७५॥**

भो क्षपक **उव्वासहि णियचित्त** यदि निजचित्त स्वकीयातरग उद्वासयसि पचेद्रियविषयेषु विमुखता नयसि उद्वसति कश्चित्तमुद्वस अन्य प्रयुक्ते धातोश्च हेताविनीति इन्नतो वस् धातुरिहावगतव्य। तथा भो क्षपक सद्भावे शोभने भावे विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगमये परमात्मनि वससि स्थितिं करोषि यदि। किंविशिष्टे सद्भावे। सुनिर्मले शुद्धनिश्चयनयापेक्षया रागद्वेषमोह· मदादिदोषोज्झिते। कि कर्तुं सद्भावे वसति। **गंतु** तमेव परमात्मान सम्यक् परिछेतु। सर्वे गत्यर्था धातवो ज्ञानार्था इति। यद्येव करोषि **तो पिच्छसि-अप्पा** तदा आत्मान चिदात्मक स्वस्वरूप पश्यसि अवलोकयसि स्वसवेदनेन स्वात्मान सवेदयसीत्यर्थ । कथभूतमात्मान। **सण्णाणं** सज्ज्ञान सत् शोभमान सशयविमोहविभ्रमवर्जित ज्ञान यस्य स त सज्ज्ञान। पुन किंविशिष्टमात्मान। केवलमसहाय। पुन कीदृश। शुद्ध सर्वोपाधिरहित । यदिचेत् निजचित्तमुद्वासयसि सद्भावे च वससि तदा स्वात्मान पश्यसीति समुच्चयार्थ । तथाहि। भो क्षपक! यदि त्व ससारशरीरभोगादिषु पराङ्मुखत्व गतोसि तर्हि परमब्रह्मोपासनवासनानिष्ठो भव॥ यदुक्तम्-

**यदि विषयपिशाची निर्गता देहगेहात्**
**सपदि यदि विशीर्णो मोहनिद्रातिरेकः।**
**यदि युवतिकरके निर्ममत्व प्रपन्नो**
**झगिति तनु विधेहि ब्रह्मवीथीविहारम्॥**

---

हे क्षपक! तू स्वकीय मन को पचेन्द्रिय-विषयो से विमुख करके स्वकीय शुद्धात्मा को जानने के लिए स्वकीय मन को शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा राग-द्वेष, मोह-मद आदि दोषो से रहित निर्मल, विशुद्ध ज्ञान, दर्शन उपयोगमय परमात्मा मे स्थिर कर। स्वस्वभाव मे अपने मन को लीन कर। इस गाथा मे गतु शब्द ज्ञान अर्थ मे है क्योकि जितने भी गमनार्थ धातु है वे ज्ञान अर्थ मे भी है। अत हे आत्मन्! यदि तू अपने मन को परमात्मा को जानने के लिए परमात्मा मे स्थिर करेगा तो निश्चय से सशय, विमोह, विभ्रम से रहित केवलज्ञानमय, शुद्ध ज्ञान स्वरूप आत्मा का अवलोकन करेगा। स्वसवेदन ज्ञान के द्वारा शुद्ध सर्व उपाधि रहित अपनी आत्मा का वेदन-अनुभव करेगा। अर्थात् यदि तू अपने मन को विषय-वासनाओ से विमुख करके अपने आप मे स्थिर करेगा तो अपने ज्ञान मे अपने आपका अवलोकन करेगा। अपने आप का अनुभव करेगा। हे क्षपक! यदि तू व्यवहार मे इस समय ससार शरीर, और भोगो से पराङ्मुख हुआ है, सारे बाह्य पदार्थों का त्याग कर सन्यास धारण किया है तो उसका सार प्राप्त करने के लिए अपने मनको परम ब्रह्म परमात्मा के ध्यान मे, चिन्तन मे स्थिर कर। परम ब्रह्म परमात्मा की भावना मे लीन हो। सो ही कहा है- ''हे आत्मन् (क्षपक!) शरीर रूपी घर से विषय-पिशाचिनी निकल गई है, यदि इस समय मोह रूपी निद्रा का अतिरेक विशीर्ण हो गया है, नष्ट हो गया है। यदि तू नारी के शरीर से निर्ममत्व को प्राप्त हुआ है तो शीघ्र ही ब्रह्म वीथी मे विहार कर। परम ब्रह्म परमात्मा स्वरूप अपने शुद्ध आत्मा मे रमण कर, उसी का अनुभव कर''। बाह्य विषयो से विमुख होकर शुद्ध आत्म स्वभाव मे लीन हो॥७५॥

यदि क्षपक का मन परमात्मा के सद्भाव (ध्यान) से शून्य हो जाता है तो क्या दोष आता है, उसको आचार्य कहते है-

क्षपकस्य परमात्मसद्भावशून्यत्वे दूषणमाह-

**तणुमणवयणे सुण्णो ण य सुण्णो अप्पसुद्धसब्भावे।**
**ससहावे जो सुण्णो हवइ वसो गयणकुसुमणिहो।।७६।।**

तनुमनोवचने शून्यो न च शून्य आत्मशुद्धसद्भावे।
स्वसद्भावे य शून्यो भवति वशो गगनकुसुमनिभ ।।७६।।

क्षपको ध्याता **सुण्णो** शून्यो भवतु। कस्मिन् शून्यो भवतु। **तणुमणवयणे** तनु शरीर मनश्चित्त वचन प्रतीत तनुश्च मनश्च वचन च तनुमनोवचन तस्मिन् तनुमनोवचने। इद शरीरादिक मदीयमिति परिछिनत्ति। अथवा तनुक्रिया शुभरूपा देवार्चनादिका अशुभरूपा प्राणिहननादिका, मन क्रिया शुभरूपा देवगुरुगुणस्मरणादिका अशुभरूपा वधबधन-चितनादिका , वचनक्रिया शुभरूपा देवगुरुस्तुत्यादिका अशुभरूपा मिथ्याभाषणादिका इत्येतासु शून्य । यदुक्त-

**आस्तां बहिरुपधि च यस्तनुवचनविकल्पजालमप्यपरम्।**
**कर्मकृतत्वान्मत्तः कुतो विशुद्धस्य मम किचित्।।**

**कर्मणो यथास्वरूपं न तथा तत्कर्म कल्पनाजालम्।**
**तत्रात्ममतिविहीनो मुमुक्षुरात्मा सुखी भवति।।**

---

**जिस प्रकार क्षपक मन, वचन, काय की क्रिया से शून्य हो जाता है वैसे आत्मा के शुद्ध स्वभाव के सद्भाव से शून्य नही होता है। क्योकि यदि ध्याता क्षपक स्व स्वभाव से शून्य हो जाता है तो आकाश के फूल के समान मिथ्या वा असत् रूप हो जायेगा।।७६।।**

यह शरीर, वचन और मन मेरा है ऐसी ज्ञप्ति (ज्ञान) होना। अथवा देवपूजा, गुरु उपासना आदि कायिक क्रिया शुभ है, प्राणियो को मारना आदि अशुभ है। देव, शास्त्र, गुरु आदि के गुणो का स्मरण करना मानसिक शुभ क्रिया है और राग-द्वेष के वशीभूत होकर किसी के वध, बधन, आदि का चिन्तन करना अशुभ क्रिया है। देव, शास्त्र, गुरु की स्तुति करना वाचनिक शुभ क्रिया है और मिथ्या भाषण, निन्दा आदि करना अशुभ वचन क्रिया है। इन क्रियाओ से ज्ञानधारा का शून्य हो जाना निर्विकल्प ध्यान है। कहा भी है-

"बाह्य उपाधिरूप मन, वचन और काय के विकल्प जाल तो दूर रहो परन्तु कर्मकृत होने से विभाव भाव मुझ शुद्धात्मा के कैसे हो सकते है? अर्थात् मन, वचन और काय का समूह तथा कर्मकृत विभाव भाव आदि मुझ विशुद्धात्मा के कुछ भी नही है। कर्मो का यथार्थ स्वरूप और उन कर्मो के उदय से उत्पन्न विभावो का विकल्प जाल कुछ भी मेरा नहीं है, मै विशुद्धात्मा हूँ। ये विकल्पजाल मेरे है," इस प्रकार की बुद्धि से जो विहीन है, रहित है वही मुमुक्षु आत्मा सुखी होता है। कर्मजाल से रहित शुद्धात्म तत्त्व को प्राप्त हो जाता है।

तथा **ण य सुण्णो अप्पसुद्धसब्भावे** न च शून्य आत्मशुद्धसद्भावे आत्मनश्चिदात्मकस्य शुद्धो रागादिमलरहित सद्भावोस्तिस्वभाव· तस्मिन् आत्मशुद्धसद्भावे न च शून्यो ध्याता। नित्यानदैकस्वभाव परमात्मतत्त्व तत्र ननु जाग्रदवस्थ इत्यर्थ । यदुक्तम्-

**अस्पृष्टमबद्धमनन्यमयुतमविशेषमभ्रमोपेत. ।**
**य: पश्यत्यात्मानं स पुमान् खलु शुद्धनयनिष्ठ. ॥**

---

जिस प्रकार शुद्धात्मा का ध्यान करने वाला क्षपक मन, वचन, काय की क्रियाओ से और रागादि भावो से शून्य (रहित) हो जाता है, उसी प्रकार वह क्षपक रागादिमल रहित आत्मा के सद्भाव से वा स्वकीय दर्शन और ज्ञानोपयोग से शून्य नहीं होता हे। शुद्धात्मा के स्वभाव के अस्तित्व से रहित नहीं होता है। इसलिए हे क्षपक ! तुम निरतर नित्य आनन्द एक स्वभाव रूप परमात्म तत्त्व हो, उसमे हमेशा जाग्रत रहो, उसके अस्तित्व का हमेशा अनुभव करो। सो ही कहा हे-

जो भव्यात्मा पुरुष अस्पृष्ट, अवद्ध, अनन्य, अयुत, अविशेष, अभ्रम से युक्त ऐसी अपनी आत्मा को देखता है, अनुभव करता है, वही पुमान् निश्चय से शुद्धनय मे निष्ठ होता है।

**भावार्थ-** पुमान्, पुरुष, आत्मा ये एकार्थवाची हैं। (अ) जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त तथा स्वकीय गुण पर्यायो से सहित चिदात्मा हे, वही पुरुष कहलाता हे। (व) वह पुमान् कर्मो के स्पर्श से गहित है यद्यपि कर्मो के साथ अनादिकाल से एकक्षेत्रावगाही हो रहा है फिर भी वह आत्मा का स्पर्श नहीं करता है अत आत्मा अस्पृष्ट है। (स) अनादि काल से यद्यपि आत्मा व्यवहाग नयसे कर्मों से बँधा है, परन्तु निश्चयनय से आत्मा कर्मो से बँधा हुआ नहीं है। इसलिए अवद्ध है।

नर-नारकादि अनेक पर्यायो की अपेक्षा पर्यायार्थिक नय से अन्यत्व है, परन्तु द्रव्यार्थिक नय से अनन्य है। आत्मा की वृद्धि-हानि रूप पर्यायो की अपेक्षा अनियतता है। परन्तु नित्य स्थिर आत्मस्वभाव का अनुभव करने पर नियतता है।

ज्ञान, दर्शन आदि गुणो को भेदरूप ग्रहण करने पर विशेषता और अभेदरूप ग्रहण करने पर अविशेषता प्रतीत होती है। यद्यपि मोहनीय कर्म के साथ सयुक्त रूप अवस्था का अनुभव करने पर सयुक्त है तथा शुद्धात्मा का अनुभव करने पर रागादि से असयुक्त (अयुत) है। यद्यपि व्यवहार नय से विभ्रम सहित है तथापि निश्चय नय से विभ्रमरहित है, अविभ्रम है। इस प्रकार जो क्षपक अस्पृष्ट, अबद्ध, अनन्य, असयुक्त (अयुत), अविशेष, अभ्रम रूप शुद्धात्मा का अवलोकन करता है, अनुभव करता है वह शुद्धनयनिष्ठ होता है। अनादि काल से यह आत्मा पुद्गलकर्म के साथ बँधा हुआ होने से पुद्गल कर्म के साथ स्पर्श वाला दृष्टिगोचर होता है। कर्म के निमित्त से होनेवाली नर-नारकादि पर्यायों की अपेक्षा भिन्न-भिन्न दीख रहा है।

शक्ति के अविभागी प्रतिच्छेद (अश) घटते भी है और बढते भी है, यह वस्तु-स्वभाव है इसलिए अनित्य भी है, एक रूप नहीं है। दर्शन, ज्ञान आदि अनेक गुणो का पिण्ड रूप आत्मा गुणभेद की अपेक्षा विशेष रूप भी है।

कर्म के निमित्त से होने वाले मोह, राग, द्वेष आदि परिणामो सहित होनेसे सुख-दु ख रूप भी है, इस प्रकार व्यवहार नय से अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा आत्मा अनेक भेदरूप है परन्तु अनुभव करते समय अभेद रूप ग्रहण करना चाहिए। क्योकि अभेद रूप ग्रहण करनेपर आत्मानुभूति होती है अथवा उसे ही आत्मानुभूति कहते हैं।

स्वसद्भावे य शून्य स कीदृश इत्याह। ससहावे जो सुण्णो स्वसद्भावे टकोत्कीर्णपरमानदैकस्वभावे यो ध्याता शून्योऽविकल्प स गगनकुसुमनिभो भवति च, गगनस्य आकाशस्य कुसुम गगनकुसुम तन्निभ गगन-कुसुमनिभ आकाशकुसुमतुल्य· स मिथ्यारूपो भवतीत्यर्थ । ततोऽमदचिदानदोत्थनिरुपमसुखामृतरस पिपासुना विशुद्धे स्वात्मनि सावधानीभूय स्थातव्य इति मन सयमनम्॥७६॥

शून्यध्यानप्रविष्ट क्षपक कीदृगवस्थो भवतीत्याह-

**सुण्णज्झाणपइट्ठो जोई ससहावसुक्खसंपण्णो।**
**परमाणंदे थक्को भरियावत्थो फुडं हवइ॥७७॥**

शून्यध्यानप्रविष्टो योगी स्वसद्भावसौख्यसपन्न ।
परमानदे स्थितो भृतावस्थ स्फुट भवति॥७७॥

जोई योगी क्षपको भृतावस्थो भवति। कीदृशो योगी। **सुण्णज्झाणपइट्ठो** शून्यध्यानप्रविष्ट शून्य च ध्यान च **शून्यध्यान निर्विकल्पसमाधिलक्षण** तत्र प्रविष्ट स्थित शून्यध्यानप्रविष्ट निर्विकल्पसमाध्या-विष्ट·। यत्र च-

जायंते विरसा रसा विघटते गोष्ठी कथाकौतुकं,
शीर्यंते विषयास्तथा विरमति प्रीतिः शरीरेपि च।
जोष वागपि धारयंत्यविरतानंदात्मनः स्वात्मन-
श्चिंतायामपि यातुमिच्छति मनो दोषै. समं पंचताम्॥

---

सद्भाव से शून्य वस्तु कैसी होती है, सो कहते है। टकोत्कीर्ण परमानन्द अद्वितीय रूप स्व-स्वभाव से जो ध्याता शून्य हो जाता है, स्व-स्वभाव से रहित अविकल्प हो जाता है, वह आकाश के फूल के समान मिथ्यात्व रूप हो जाता हे अर्थात् उसका अभाव हो जाता है। इसलिए अमन्द चिदानन्द आत्मा से उत्पन्न निरुपम सुखामृत रस के पिपासु क्षपक को विशुद्ध स्व-आत्मा मे सावधान होकर स्थिर होना चाहिए। स्वकीय मन को स्वस्वभाव मे स्थिर करना चाहिए॥७६॥

शून्य ध्यान मे प्रविष्ट क्षपक की कैसी अवस्था होती है, उसका कथन करते है-

**शून्य ध्यान मे प्रविष्ट योगी स्व सद्भाव रूप सुखमें सम्पन्न होकर परमानन्द में स्थित होता है, स्फुट रूप से भृतावस्था को प्राप्त होता है॥७७॥**

योगी (क्षपक) निर्विकल्प समाधिलक्षण, शून्य ध्यान मे प्रविष्ट होता है। जहाँ पर-

"जिस शून्य (निर्विकल्प) ध्यान में रस विरस हो जाते है, कथा-कौतुक-गोष्ठी विघट जाती है अर्थात् वार्तालाप नष्ट हो जाता है, विषय-वासना जीर्ण हो जाती है तथा उस योगी की शरीर में भी प्रीति नष्ट हो जाती है, वचन भी मौन को धारण कर लेते है। निरन्तर आनन्द स्वरूप स्वात्मा की चिन्ता मे अर्थात स्वात्म चिन्तन मे मन भी सर्व दोषों के साथ मृत्यु को प्राप्त होना चाहता है, अर्थात् निर्विकल्प ध्यान मे मन वचन, काय की सारी क्रियाएं निश्चल हो जाती है।'

तच्छून्यध्यानमिह गृह्यते। पुन कीदृशो योगी। **ससहावसुक्खसंपण्णो** स्वसद्भावसौख्यसपन्न स्वस्य परमात्मनो य सद्भावोऽनतज्ञानपरमानदादिलक्षण स्वसद्भावस्तदुत्थ यत्सौख्य स्वसद्भावसौख्य तेन सपन्न सयुक्त स्वसद्भावसौख्यसपन्न । कीदृशो योगी। **परमाणंदे थक्को** परमानदे स्थित परमश्चासावानदश्च परमानदस्तस्मिन् परमानदे स्थित विशुद्धतरपरब्रह्माराधनोद्भूतस्फीतानदामृतरसतृप्त इत्यर्थ । अत एव क्षपक **भरियावत्थो फुडं हवइ** पूर्णकलशवत् भृतावस्थ अविनश्वरनिरुपमानदसुधारससभृत स्फुट निश्चित भवतीत्यर्थ । एव ज्ञात्वा विषयशून्य ध्यानमवलब्य स्वात्माराधनीयोऽनतसौख्य प्राप्सुनेति ॥७७॥

अधुना शून्यध्यानलक्षणमाह-

**जत्थ ण झाणं झेयं झायारो णेव चिंतणं किंपि।**
**ण य धारणा वियप्पो तं सुण्णं सुट्ठु भाविज्ज ॥७८॥**

यत्र न ध्यान ध्येय ध्यातारो नैव चितन किमपि।
न च धारणा विकल्पस्त शून्य सुष्ठु भावये ॥७८॥

भो क्षपक **तं सुण्ण सुट्ठु भाविज्ज** तत् शून्य सुष्ठु अतिशयेन भावयेस्त्व जानीया इति भावार्थ । तत् कि। यत्र आर्तरौद्रधर्मशुक्लभेदाच्चतुर्विकल्प ध्यान नास्ति जिनसुगतहरब्रह्मभेदाद्यनेकविकल्प ध्येय च नास्ति **तथा झायारो**

**शुचि· प्रसन्नो गुरुदेवभक्त. सत्यव्रत· शीलदयासमेत.।**
**दक्ष· पटुर्बीजपदावधारी ध्याता भवेदीदृश एव लोके।**

---

यहाँ पर शून्य ध्यान का अर्थ निर्विकल्प समाधि ग्रहण करना चाहिए। निर्विकल्प समाधिस्थ योगी अनन्त ज्ञानादि परमानन्द लक्षण स्वसद्भाव से उत्पन्न सुख से सम्पन्न होता है और विशुद्धतरपरम ब्रह्म की आराधना से उत्पन्न महानन्द अमृत रस मे तृप्त होता है। वह अविनश्वर निरुपम आनन्द सुधारस से परिपूर्ण अवस्था वाला होता है। अर्थात् निर्विकल्प समाधि मे लीन होने वाला योगी अनन्त चतुष्टय रूप अरहन्तावस्था और सिद्ध अवस्था के आनन्द का भोक्ता बनता है। ऐसा जानकर अनन्त अविनाशी सुख की प्राप्ति के इच्छुक क्षपक को पाँचो इन्द्रियो के विषयो से पराङ्मुख हो कर निर्विकल्प समाधिलक्षण शून्य ध्यान का अवलम्बन लेकर स्व-शुद्धात्मा की आराधना करनी चाहिए॥७७॥

अब **शून्यध्यान** का लक्षण कहते है-

**जिसमे ध्यान, ध्येय और ध्याता का विकल्प नही है, जिसमे किसी प्रकार का चिन्तन नही है और जिसमे धारणा का विकल्प नही है, उसकी तुम भली प्रकार से भावना करो॥७८॥**

हे क्षपक ! जहाँ आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल के भेद से चार प्रकार का ध्यान नहीं है, जिन, बुद्ध, शिव, ब्रह्मा, विष्णु आदि अनेक प्रकार के ध्येय का विकल्प नहीं है। तथा ध्याता-

''शुचि, प्रसन्नवदन, गुरु-देव (देव, शास्त्र, गुरु) का भक्त, सत्यव्रत का धारी, शील-दया आदि से युक्त, चतु ध्यान के स्वरूप को जानने मे दक्ष, बीज पद (बीजाक्षरो) की अवधारणा करने वाला, इन

इत्यादिगुणोपेतो ध्यातापि नास्ति तथा यत्र **णेव चिंतणं किंपि,** नैव। किंतत्। चिन्तन शुक्लकृष्णरक्त-पीतादिकमन्यदपि शत्रुवधादिक स्त्रीराजवश्यादिक वा चिन्तन नास्ति। तथा **ण य धारणा** यत्र धारणापि नास्ति कालातरादविस्मरण धारण तन्नास्तीत्यर्थ तथा **वियण्णो** असख्येयलोकप्रमाणो विकल्पोपि नास्ति तच्छून्य ध्यान अर्थान्निर्विकल्पसमाधिलक्षण ध्यान नि सदेह भावयेरिति। ईदृग्विधशून्यतापरिणतो ध्याता नयपक्षपातोज्झित स्वरूपगुप्तो भवति। यश्च स्वरूपगुप्त स परमानदामृतमेवास्वादयति। यदुक्त-

**य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसंति नित्यम्।**
**विकल्पजालच्युतशांतचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति॥**

अनुच-

**अखंडितमनाकुल ज्वलदनतमंतर्बहि-**
**र्मह· परममस्तु नः सहजमुद्विलास सदा।**
**चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालंबतो**
**यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्ललीलायितम् ॥**

---

विशेषणो वाला लोक मे ध्याता होता है। परन्तु जिस अवस्था मे ध्याता का भी विचार नहीं है जिसमे शुक्ल, पीत, रक्त कृष्णादि का वा शत्रु के वध-बन्धनादिका तथा स्त्री या राजा की अधीनता आदिका चिन्तन नहीं है। कालान्तर मे 'नहीं भूलना' रूप धारणा भी जिस अवस्था मे नहीं है तथा असख्यात लोक प्रमाण जो मानसिक विकल्प है वे भी जिस अवस्था मे नहीं है अर्थात् जो निर्विकल्प समाधि लक्षण ध्यान है, उसे शून्य ध्यान समझो और हे क्षपक ! निस्सदेह उसी की भावना करो। इस प्रकार का ध्याता नयपक्ष से रहित होता है, स्व-स्वरूप मे लीन होता है। जो स्वरूप गुप्त होता है, वही ध्याता परमानन्द अमृत का आस्वादन करता है। सोही **समयसार कलश मे अमृतचन्द्रआचार्य** ने कहा है-

"जो ज्ञानी नयपक्षपात को छोडकर सदा स्वरूप मे (अपने स्वरूप मे) गुप्त होकर निवास करते हैं, जिनका चित्त विकल्पजाल से रहित शात हो गया है, वे ही ज्ञानी मानव साक्षात् अमृत (स्वानुभव रूप सुधारस) का पान करते हैं।"

जब तक कुछ भी पक्षपात रहता है तब तक चित्त का क्षोभ नहीं मिटता। जब नय सम्बन्धी पक्षपात वा विकल्प दूर हो जाता है तब वीतराग दशा को प्राप्त होकर स्वरूप मे प्रवृत्ति होती है और अतीन्द्रिय सुख का अनुभव होता है।

**समयसार कलश** मे कहा भी है-

जैसे नमक की डली एक क्षाररस की लीला का अवलम्बन करती है, वैसे ही यह आत्मतेजप्रकाश (ज्ञान) ज्ञेयाकार से खण्डित नहीं होता, इसलिए अखण्डित है। कर्मो के निमित्त होनेवाली आकुलता से रहित होनेसे अनाकुल है। अतरग मे प्रत्येक प्राणी को अह प्रत्यय (चैतन्य स्वभाव) से अनुभव मे आ रहा है और बाह्य में वचन एव काय की क्रिया से देदीप्यमान है। जिसका सहज विलास सदा उदयरूप है और सदा काल चैतन्य भावो से परिपूर्ण है- अर्थात् चैतन्य भावो से उछल रहा है। ऐसे अखण्डित, अनाकुल, अतरग एव बाह्य मे देदीप्यमान सहज चैतन्य के उद्विलास से युक्त और नमक की डली के समान सर्वाग रूपसे, चैतन्य रूप से परिपूर्ण है ऐसे तेजपुज ज्ञान का सदा काल अनुभव करो। अर्थात् यह ज्ञानानन्दमय एकाकार अखण्ड ज्ञानस्वरूप ज्योति हमे सदा प्राप्त हो ॥७८॥

प्रागुक्तलक्षणशून्यतापरिणत आत्मा शुद्ध एव भावो भवति स शुद्धभाव किमाख्यो भवतीत्यावेदयति,-

**जो खलु सुद्धो भावो सो जीवो चेयणावि सा उत्ता।**
**तं चेव हवदि णाणं दंसणचारित्तयं चेव।।७९।।**

य. खलु शुद्धो भाव स जीवश्चेतनापि सा उक्ता।
तच्चैव भवति ज्ञान दर्शनचारित्र चैव।।७९।।

**जो खलु सुद्धो भावो** य खलु निश्चयेन शुद्धो रागद्वेषमोहादिदोषोज्झित भावो भवति स एव भावो जीव चतुर्भिर्द्रव्यभावप्राणै पूर्वमजीवत् सप्रति जीवति अग्रे च जीविष्यति इति जीव ज्ञानदर्शनोपयोगमय तथा **चेयणावि सा उत्ता** स एव भाव सा जगत्प्रसिद्धा चेतना उक्ता प्रतिपादिता। स एव भाव **तं चेव हवदि** इत्यादि तत् विशुद्धं ज्ञानं दर्शनं चारित्र भवति। यदुक्तम्-

**तदेकं परमं ज्ञान तदेकं शुचिदर्शनम्।**
**चारित्र च तदेकं स्यात्तदेकं निर्मलं तप ।।**
**नमस्य च तदेवैक तदेवैकं च मंगलम्।**
**उत्तम च तदेवैकं तदेव शरण सताम्।।**

अनुच- **आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयाभ्या विना,**
**सारो य· समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमान. स्वयम्।**

---

उपरि कथित लक्षण वाली शून्यता से परिणत आत्मा ही शुद्ध भाव है, वे शुद्धभाव किस नाम वाले होते हैं, उसका आवेदन (कथन) करते है-

**जो जीव का शुद्धभाव है वही जीव है, वह शुद्ध भाव ही चेतना शब्द से कहा जाता है और वह शुद्ध भाव ही ज्ञान, दर्शन एव चारित्र स्वरूप है।।७९।।**

जो निश्चय से रागद्वेष-मोहादि दोषो से रहित शुद्धभाव होता है वही भाव जीव है। वह इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, बल, आयु रूप चार द्रव्य प्राणो से जीता था, जी रहा है और जीयेगा, ऐसा ज्ञान दर्शन उपयोगमय भावप्राण वाला जीव है। वह शुद्ध भाव ही जगत् प्रसिद्ध चेतना है। वह शुद्धभाव ही विशुद्ध दर्शन, ज्ञान एव चारित्र है। कहा भी है-

वह शुद्ध भाव ही एक परम ज्ञान है, वह शुद्ध भाव ही पवित्र दर्शन है, वही एक (अद्वितीय) चारित्र है वही एक निर्मल तप है। वह शुद्ध भाव ही एक नमस्कार करने योग्य है, वह शुद्ध भाव ही परम मगल है, वह शुद्ध भाव ही उत्तम है और वह शुद्ध भाव ही सज्जन पुरुषो के लिए शरण है। और भी कहा है-

नय पक्षो से रहित, अचल, निर्विकल्प भाव को प्राप्त जो समय (आत्मा) का सार प्रकाशित है वा दृष्टिगोचर हो रहा है, वह यह समयसार निभृत निश्चल आत्मलीन पुरुषो के द्वारा, स्वय आस्वाद्यमान है

विज्ञानैकरसः स एष भगवान् पुण्यः पुराणः पुमान्,
ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किंचनैकोप्ययम् ॥

य खलु शुद्धो भाव स एव रत्नत्रयमित्याचष्टे-

**दंसणणाणचरित्ता णिच्छयवाएण हुंति ण हु भिण्णा।**
**जो खलु सुद्धो भावो तमेव रयणत्तयं जाण॥८०॥**

दर्शनज्ञानचारित्राणि निश्चयवादेन भवति न हि भिन्नानि।
य खलु शुद्धो भावस्तमेव रत्नत्रय जानीहि॥८०॥

भो क्षपक ! **दसणणाणचरित्ता** दर्शन च ज्ञान च चारित्र च दर्शनज्ञानचारित्राणि **णिच्छयवाएण** निश्चयवादेन निश्चयनयापेक्षया **हुति ण हु भिण्णा** हु स्फुट भिन्नानि परमात्मन स्वरूपात् पृथग्भूतानि न भवति। यदुक्तम्-

**आत्मनि निश्चयबोधस्थितयो रत्नत्रयं भवक्षतये।**
**भूतार्थपथप्रस्थितबुद्धेरात्मैव तत्त्रितयम्॥**

**कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया**
**अपतितमिवात्मज्योतिदुद्गच्छदच्छम्।**
**सततमनुभवामोऽनंतचैतन्यचिह्न**
**न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः॥**

---

(अनुभव मे आ रहा है) वह-विज्ञान ही जिसका रस है ऐसा भगवान है, वह विज्ञानरस शुद्ध आत्मा ही पवित्र पुराण पुरुष हे- वही दर्शन है, वही ज्ञान है, अधिक क्या कहे? जो कुछ अनन्त ज्ञानादि गुणरूप है वह समयसार (शुद्धात्मा) ही है। वह अद्वितीय है। (मात्र भिन्न-भिन्न नामो से कहा जाता हे)

निश्चय से आत्मा का जो शुद्ध भाव है वही रत्नत्रय है, सो कहते है-

**''निश्चय नय से दर्शन, ज्ञान और चारित्र आत्मा से भिन्न नही हैं। इसलिए जो आत्मीय शुद्ध भाव है उसको ही रत्नत्रय समझो॥८०॥**

निश्चय नय की अपेक्षा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र परमात्मा के स्वरूप से पृथकभूत नहीं हैं, कहा भी हे-

''आत्मा मे निश्चय ज्ञान की स्थिति है, ज्ञान की स्थिरता है वही ससार का नाश करने के लिए रत्नत्रय है। भूतार्थ पथमे (निश्चयनय मे) स्थित बुद्धि वाले के लिए आत्मा ही दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनो रूप हे।''

किसी कारण (व्यवहार नय) से तीन प्रकार को अगीकार करनेपर भी जो एकत्व से कभी च्युत नहीं है ऐसी जो निर्मलता को प्राप्त, अनन्त (अविनाशी) चैतन्य चिह्न वाली इस आत्मज्योति का हम निरतर अनुभव करते हें, उसी का हम रसास्वादन करते हे क्योंकि ऐसी शुद्ध आत्म ज्योति के अनुभव के बिना निश्चय मे साध्य की सिद्धि नहीं होती।

किं तु **जो खलु सुद्धो भावो** य खलु निश्चयेन शुद्ध कर्ममलविनिर्मुक्त भाव तमेव भाव रत्नत्रय **जाण** जानीहि। तथाहि **एकमेव परमात्मानमात्मनि** वर्तमानममदानदमेदुरमात्मनैव यो ध्यायति तेन रत्नत्रयमेवाराधित भवेदिति भावार्थ ॥८०॥

अशेषकामक्रोधलोभमदमात्सर्यादिभिर्विभावपरिणामैर्मुक्तत्वादयमात्मा शून्य इत्याद्याह-

**तत्तियमओ हु अप्पा अवसेसालंबणेहिं परिमुक्को।**
**उत्तो स तेण सुण्णो णाणीहि ण सव्वदा सुण्णो ॥८१॥**

तत्त्रिकमयो हि आत्मा अवशेषालबनै परिमुक्त ।
उक्त स तेन शून्यो ज्ञानिभिर्न सर्वदा शून्य ॥८१॥

**अप्पा** आत्मा अतति गच्छति स्वकीयान् द्रव्यपर्यायानित्यात्मा। किं विशिष्ट । **तत्तियमइओ** तत्त्रितयमय दर्शनज्ञानचारित्रमय । ज्ञानिभिरात्मा दर्शनज्ञानमयो निर्दिष्ट इति। यदुक्तम्-

**अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद् दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्**
**तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्सास्तित्वमेव त्यजेत्।**
**तत्त्यागे जडतावतोपि भवति व्याप्यो विना व्यापका-**
**दात्मा चांतमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्तु चित्॥**

---

हे आत्मन् ! निश्चय से आत्मा के कर्ममलरहित जो शुद्ध भाव हैं उन्हीं भावो को रत्नत्रय समझो। तथाहि, जो स्व आत्मा मे अपनी आत्मा द्वारा परमानन्द से व्याप्त परमात्मा का ध्यान करता है, परमात्मा के गुण-स्मरण मे अपने मन को स्थिर करता है, वही रत्नत्रय की आराधना करता है, ऐसा जानना चाहिए। इसलिए हे क्षपक ! अपने मन को परमात्मा के गुण-स्मरण मे स्थिर करो। बाह्य वासना से मन को शून्य करके स्वात्म-चिन्तन मे स्थिर करो ॥८०॥

सम्पूर्ण काम, क्रोध, लोभ, मद, मात्सर्य आदि विभाव-भावो से रहित ही यह आत्मा शून्य कहलाता है, उसका कथन करते है-

**रत्नत्रय स्वरूप यह आत्मा जब अशेष रागादि अवलम्बनो से रहित हो जाता है, उसी को शून्य कहा है- क्योकि ज्ञानादि से सर्वदा शून्य आत्मा कभी नही होता है ॥८१॥**

अपनी द्रव्य, गुण, पर्यायो को जो 'अतति' प्राप्त होता है वा 'अत्' धातु ज्ञान अर्थ मे भी है अत जो स्व-पर को जानता है, वह आत्मा है और वह आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्रमय हे, क्योंकि ज्ञानियो ने आत्मा को ज्ञान, दर्शनमय कहा है। सो ही कहा है-

इस जगत् मे अद्वैत भी चेतना अपने दर्शन, ज्ञान, रूप स्वरूप को नहीं छोडती है। यदि चेतना स्वकीय सामान्य (दर्शन) और विशेष (ज्ञान) से रहित हो जायेगी तो उसका अस्तित्व भी नष्ट हो जायेगा वा वह अपने अस्तित्व का भी परित्याग कर देगी। जव चेतना अपने अम्तित्व दर्शनोपयोग ओर ज्ञानोपयोग

अत आत्मा दर्शनज्ञानोपयोगमयोऽवगतव्य तस्यैव शुद्धबुद्धस्वभावस्यात्मन स्वात्मनि या स्थितिस्तच्चारित्रमिति। अथवा-

**ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्त दसणं णाणं।**
**ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ।।**

अनुच-

**सम्यक्सुखबोधदृशा त्रितयमखंड परात्मनो रूपम्।**
**तत्त्रितयतत्परो यः स एव तल्लब्धिकृतकृत्यः ।।**

ससारव्यवहारव्यापारोत्पादकै रागद्वेषमोहशृगारादिभिरवलबनै **सालबो** भविष्यति आत्मेत्याशक्याह **अवसेसालंबणेहि परिमुक्को** अवशेषाणि समस्तानि यान्यालबनानि अपध्यानादीति तै सर्वप्रकारेण मुक्तो रहित **उत्तो स तेण सुण्णो** स आत्मा तेनैव हेतुना शून्य उक्त प्रतिपादित । ततश्च समस्तेद्रियविषयकषायविषये शून्य चिदानदैकसद्भावे स्वरूपे योऽशून्य स सर्वप्रकारेणोपादेय इति भावार्थ ।।८१ ।।

---

को छोड देती है तो जडपने (अचेतनपने) को प्राप्त हो जाती है क्योकि व्यापक ज्ञान-दर्शन के बिना व्याप्य आत्मा भी अत को प्राप्त हो जाता है। इसलिए आत्मा ज्ञानदर्शनमय नियत है, ज्ञान, दर्शन से कभी शून्य नहीं होता है।

इसलिए आत्मा दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग मय है, ऐसा जानना चाहिए। उस शुद्ध (रागादि रहित), बुद्ध (केवलज्ञान) स्वरूप आत्मा का अपने आत्मा मे स्थिर हो जाना ही चारित्र है। अथवा- **समयसार** मे कहा है-

"व्यवहार नयसे ज्ञानी आत्मा के दर्शन, ज्ञान, चारित्र कहा जाता है परन्तु निश्चय से आत्मा के न दर्शन है, न ज्ञान है और न चारित्र है, केवल शुद्ध ज्ञायक भाव रूप ही आत्मा है।" और भी कहा है-

सम्यक् सुख, ज्ञान और दर्शन इन तीनो की अखण्डता (एकता अभिन्नता) ही परमात्मा का स्वरूप है। जो रत्नत्रयमय आत्मा मे तत्पर होता है वही भव्यात्मा उस रत्नत्रय की प्राप्ति से कृतकृत्य हो जाता है।

ससार-व्यवहार के, व्यापार के उत्पादक राग-द्वेष, मोह, शृगार आदि के अवलम्बन से आत्मा सावलम्ब होता है, ऐसा पूछनेपर आचार्य कहते है कि ये राग-द्वेषादि अवलम्बन ही आत्मा के घातक है इसलिए इन सारे आर्त्त, रौद्र ध्यान, अपध्यान रूप अवलम्बनो से मुक्त हो जाना (ज्ञानधारा का विभावभावो से रहित हो जाना) ही आत्मा शून्य कहलाता है। अर्थात् ज्ञान का रागद्वेष परिणति से रहित होना शून्यता कहलाती है इसलिए जो परिणाम समस्त इन्द्रियजन्य विषय और कषायो से शून्य है और चिदानन्द एक सद्भाव रूप स्वकीय स्वरूप से अशून्य है, वही अवस्था सर्व प्रकार से उपादेय है, ऐसा समझना चाहिए।।८१ ।।

चित्स्वभाव खल्वयमात्मा मोक्षमार्गो मोक्षो वेत्यावेदयति-

**एवं गुणो हु अप्पा जो सो भणिओ हु मोक्खमग्गोत्ति।**
**अहवा स एव मोक्खो असेसकम्मक्खए हवइ॥८२॥**

एव गुणो ह्यात्मा य स भणितो हि मोक्षमार्ग इति।
अथवा स एव मोक्ष अशेषकर्मक्षये भवति॥८२॥

**एवं गुणो हु अप्पा** आत्मा य एवभूता अनतज्ञानादयो गुणा यस्य स एवगुण य एवगुण आत्मा स एव मोक्षमार्ग इति भणित कथित सकलकर्मविप्रमोक्षलक्षणो मोक्षस्तस्य मार्गो दर्शनज्ञानचारित्राणि एवगुणविशिष्ट खल्वात्मा साक्षान्मोक्षमार्ग इत्यवगतव्य **अहवा** अथवा मोक्षमार्गेण किं स एव **मुक्खो** स एवात्मा मोक्ष निरतिशयानदसुखरूप। कदा स आत्मा मोक्षो भवतीत्याह। **असेसकम्मक्खये हवइ** अशेषाणि समस्तानि मूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नानि यानि कर्माणि ज्ञानावरणदर्शनावरणादीनि तेषा क्षय सामस्तेन विनाश अशेषकर्मक्षयस्तस्मिन्नशेषकर्मक्षये सति स एव आत्मा मोक्षो भवतीत्यर्थ॥८२॥

---

निश्चय से चित् स्वभाव वाला यह आत्मा ही मोक्षमार्ग है, आत्मा ही मोक्ष है, ऐसा कहते हैं-

**इस प्रकार के गुणो से विशिष्ट जो आत्मा है, वही मोक्षमार्ग है और वह आत्मा ही अशेष कर्मो का क्षय होने पर मोक्ष रूप होती है॥८२॥**

सर्व कर्मो से रहित जो शुद्धात्मा की अवस्था है, वह मोक्ष है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की एकता मोक्षमार्ग या मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है।

अनन्त ज्ञानादि गुणो से विशिष्ट आत्मा ही सम्यग्दर्शन आदि गुणो का आधार है इसलिए आत्मा ही साक्षात् मोक्षमार्ग है, ऐसा समझना चाहिए। क्योकि आत्मा को छोडकर अन्यत्र सम्यग्दर्शनादि नहीं पाये जाते है।

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ मूल कर्म प्रकृतियाँ है।

ज्ञानावरणीय की पाँच, दर्शनावरणीय की नौ, वेदनीय की दो, मोहनीयकी अट्ठाईस, आयु की चार, नामकर्म की तिरानवे, गोत्र की दो और अन्तराय की पाँच ये एक सौ अडतालीस उत्तर कर्मप्रकृतियाँ है। इन सर्व मूल-उत्तर प्रकृतियो के क्षय हो जाने पर मोक्ष होता है, वह मोक्ष भी आत्मा का ही होता है, आत्मा ही कर्मो से छूटती है अत मोक्ष भी आत्मा ही है। अर्थात् आत्मा ही मोक्ष का कारण है और आत्मा ही मोक्षरूप कार्य है, ऐसा समझकर आत्मा की आराधना करनी चाहिए॥८२॥

यावत्साकल्याभिनिवेशो योगिनस्तावच्छून्य ध्यान नास्तीत्यावेदयति-

**जाम वियप्पो कोई जायइ जोइस्स झाणजुत्तस्स।**
**ताम ण सुण्णं झाणं चिंता वा भावणा अहवा॥८३॥**

यावद्विकल्प कश्चिदपि जायते योगिनो ध्यानयुक्तस्य।
तावन्न शून्य ध्यान चिता वा भावना अथवा॥८३॥

**जोइस्स** योगिन सवृतेद्रियस्य क्षपकस्य **जाम वियप्पो कोई जायइ** यावत्काल कोपि कश्चिदपि विकल्प अह सुखी अह दु खीत्यादि-रूप जायते उत्पद्यते। कथभूतस्य योगिन । **झाणजुत्तस्स** ध्यानयुक्तस्य निर्विकल्पसमाधिनिष्ठस्य। कथ विकल्पाविर्भाव ? पूर्वविभ्रमसस्कारादिति। यदुक्तम्-

**जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्त भावयन्नपि।**
**पूर्वविभ्रमसस्काराद् भ्रांति भूयोपि गच्छति॥**

विकल्पावतारश्चेद्योगिनस्तर्हि कि दूषणमित्याशक्याह। **ताव ण सुण्णं झाणं** तावत्काल शून्य सकल्पातीत ध्यान नास्ति। तत्किमस्तीत्याशक्याह। **चिता वा भावणा अहवा** तस्य परमात्मनश्चिन्ता अनतज्ञानादिगुणस्मरणलक्षणा अथवा तस्मिन्नेव टकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावे भावना। न पुन शून्य ध्यान। तथाहि। आत्मस्वभावलबिनो योगिन सकल्पविकल्प विदलयन् शुद्धनय एवोदेति। यदुक्तम्-

---

जब तक सारे अभिनिवेशो से योगी का हृदय शून्य नहीं होता है, तब तक 'ध्यान' नहीं होता, ऐसा कहते हैं-

**ध्यानस्थ योगी के हृदय मे जब तक कोई भी सकल्प-विकल्प रहते है, तब तक शून्य ध्यान नही होता, केवल ध्यान की चिन्ता और भावना होती है॥८३॥**

ध्यान युक्त, पचेन्द्रिय विषयो से विरक्त क्षपक के हृदय मे जब तक "मै सुखी हूँ, मै दु खी हूँ, मै ध्याता हूँ, यह ध्येय है, यह ध्यान है", आदि कुछ भी (किंचित् मात्र भी) विकल्प रहता है तब तक ध्यान नहीं होता। **शका** - जो निर्विकल्प समाधि का इच्छुक है, ध्यान का अभ्यास करने वाला है, उसके विकल्पो का प्रादुर्भाव कैसे हो सकता है? **उत्तर** - पूर्व विभ्रम के सस्कार से विकल्पो का प्रादुर्भाव होता है सो ही **पूज्यपाद स्वामी** ने **इष्टोपदेश** मे कहा है- "आत्मतत्त्व को जानते हुए भी तथा शुद्धात्मा की भावना करते हुए भी अनादिकालीन विभ्रमो के सस्कार से बार-बार भ्रान्ति उत्पन्न होती है, सकल्प-विकल्प उत्पन्न होते हैं।"

**शका** - योगी के मन मे यदि विकल्प होते है तो उसमे क्या दोष है? **उत्तर**-जब तक योगी के हृदय में विकल्पो का प्रादुर्भाव होता है तब तक सकल्पातीत शून्य ध्यान नहीं होता है। **शका** - फिर क्या होता है? क्या उस क्षपक का ध्यान-अभ्यास निष्फल है? **उत्तर** - क्षपक का ध्यान का अभ्यास निष्फल नहीं है, उसके निर्विकल्प ध्यान नहीं है। परन्तु परमात्मा के चिन्तन से ध्यान की चिन्ता होती है और परमात्मा के अनन्त ज्ञानादि गुणों के स्मरण रूप उसी टकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव आत्मा के स्वभाव की चिन्तन रूप भावना होती है, शून्य ध्यान नहीं होता। क्योकि आत्म-स्वभाव का अवलम्बन लेने वाले योगियो के सकल्प-विकल्प का नाश होता है तब शुद्ध नय का उदय होता है। सो ही कहा है-

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यतविमुक्तमेकम्।
विलीनसकल्पविकल्पजाल प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ।।

तस्माच्छून्यध्यानमभिलपता मुमुक्षुणा शुद्धनय एवेष्टव्य इति ।।८३ ।।

विशदानदमयात्मनि स्वात्मनि यस्य मनो विलीयते तम्यात्मा कर्मनिर्मूलनक्षम प्राकट्यमुपढौकते इत्याह-

**लवणव्व सलिलजोए झाणे चित्तं विलीयए जस्स।**
**तस्स सुहासुहडहणो अप्पाअणलो पयासेइ ।।८४ ।।**

लवणमिव सलिलयोगे ध्याने चित्त विलीयते यस्य।
तस्य शुभाशुभदहन आत्मानल प्रकाशयति ।।८४ ।।

**पयासेइ** प्रकाशयति प्रकटी भवति। प्रद्योतते इति यावत्। कोसौ। **अप्पाअणलो** आत्मैव अनलो वह्नि आत्मानल आत्महुताशन·। कस्यात्मानल प्रकटीभवति इत्याह। **झाणे चित्त विलीयए जस्स** यस्य

---

सर्व कर्मों के निमित्त से होने वाले पर-भावो से जो सर्वथा भिन्न है, स्व-स्वभावसे परिपूर्ण है अर्थात् परिपूर्ण ज्ञान, दर्शन के धारी है, जो आदि अत से रहित है अर्थात् जो उत्पत्ति और विनाश से रहित है, एक है- (अद्वितीय है) अर्थात् जो गुण-गुणी के भेद मे रहित है, ''द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नो कर्म वा घर-पुत्र-पौत्रादिक पुद्गल द्रव्यो मे अपनी कल्पना करना 'ये मेरे है' ऐसा चिन्तन संकल्प है और 'मै इनका हूँ' वा ज्ञेयो के भेद से ज्ञान मे भेद मानना विकल्प है'' इन सारे सकल्प, विकल्प जालो से रहित आत्मस्वभाव है, उस आत्मस्वभाव को प्रकाशित करने वाले शुद्धनय का उदय होता है। अर्थात् भेदविवक्षा रहित आत्म-स्वभाव के आस्वादन का इच्छुक अनादि काल के सस्कार के कारण वार-बार विभ्रम को प्राप्त होता है परन्तु ध्यान की भावना और ध्यान की चिता होती है। इसलिए शुद्ध निर्विकल्प शून्य ध्यान के इच्छुक मुमुक्षु को शुद्ध नय का ही आश्रय लेना चाहिए। शुद्ध नय का आश्रय लेकर निर्विकल्प होने का प्रयत्न करना चाहिए ।।८३ ।।

विशद आनन्दमय स्वात्मा मे जिसका मन लीन होता है, उसी की आत्मा कर्मों का निर्मूलन करने मे समर्थ होती है ऐसा कहते है-

**''जिस प्रकार जल मे नमक की डली एकमेक हो जाती है उसी प्रकार जिसका चित्त ध्यान मे लीन हो जाता है उसके हृदय मे शुभ एव अशुभ कर्मों को जलाने वाली आत्मरूप अग्नि उत्पन्न होती है ।।८४ ।।**

जिस समय पचेन्द्रियजन्य विषयो से पराङ्मुख होकर शुद्धात्मस्वरूप मे निष्ठा रखने वाले योगी का चित्त (मन) निर्विकल्प समाधि लक्षण धर्मध्यान वा शुक्लध्यान मे विलीन होता है वा चिद्रूप मे स्थिर हो

योगिनो नियमितपचेद्रियस्य शुद्धात्मस्वरूपनिष्ठस्य मनश्चित्त ध्याने धर्मशुक्लरूपे निर्विकल्पसमाधिलक्षणे वा विलीयते विलय विनाश याति यतश्चिद्रूपे स्थित लग्न मनोऽवश्यमेव विलीयते। अतएव परात्मनि स्थितिं न करोति। यदुक्तम्-

**नूनमत्र परमात्मनि स्थितं स्वातमंतमुपयाति तद्बहिः।**
**तं विहाय सततं भ्रमत्यद. को बिभेति मरणान्न भूतले ।।**

किमिव ध्याने चित्त विलीयत इति पृष्टे प्राह। **लवणव्व सलिलजोए-** लवणमिव सलिलयोगे सलिलेन योग सलिलयोगस्तस्मिन् सलिलयोगे। यथा लवण पयोयोगमासाद्य सद्यो विलीयते तथा यस्य चित्त शुद्धात्मयोगे विलयमुपढौकते तस्य चिदानदोवश्य प्राकट्यमुपगच्छति। **अस्मिंश्चात्मनि** अनुभवमुपयाते द्वैत न प्रतिभाति। यदुक्तम्-

**उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं**
**क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।**
**किमपरमभिदध्ये धाम्नि सर्वंकषेस्मि-**
**न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ।।**

---

जाता है उस समय वह मन अवश्य ही सकल्प-विकल्पो से रहित हो जाता है, मन का विलय हो जाता है। इसलिए वह मन पर-पदार्थ मे स्थिति नहीं करता है, परपदार्थ के चिन्तन मे नही जाता है। सो ही कहा है-

निश्चय से यह मन जब परमात्मा मे स्थित होता है तब अत को प्राप्त हो जाता-है, मर जाता है। किन्तु यह मन, परमात्मा के चितन को छोडकर निरतर बाह्य मे भ्रमण करता रहता है, क्योकि इस भूतल पर मरने से कौन नही डरता, सभी डरते हैं।

ध्यान मे चित्त किस प्रकार विलीन होता है? ऐसा पूछने पर आचार्य कहते है- जिस प्रकार नमक की डली पानी का सयोग पाकर पानी रूप हो जाती है, पानी और नमक पृथक्-पृथक् नहीं रहते है, उसी प्रकार जिसका चित्त शुद्धात्मा के उपयोग मे लीन होता है तब वह आत्म-स्वरूप हो जाता है, तब ध्यान और ध्याता का भेद नहीं रहता है। जिसका मन विलीन होता है, निर्विकल्प समाधि मे लीन उस योगी को चिदानन्द अवश्य प्रकट होता है। इस चिदानन्द आत्मा का अनुभव आ जानेपर द्वैत भाव नहीं रहता है, ध्याता, ध्यान, ध्येय का विकल्प नहीं रहता है। सो ही **समयसार कलश मे अमृतचन्द्र आचार्य** ने कहा है-

सारे भेदो को गौण करने वाले शुद्धनय के विषयभूत चैतन्य, चमत्कार मात्र, तेजपुज, शुद्ध आत्मा का अनुभव करने पर नयश्री का उदय नहीं होता है, प्रमाण अस्त हो जाता है, निक्षेप कहाॅ चले जाते हैं हम नहीं जान सकते, इससे अधिक क्या कहे ? शुद्धात्मा का अनुभव आने पर द्वैत प्रतिभासित ही नहीं होता है अर्थात् शुद्धात्मा के अनुभव मे प्रमाण, नय, निक्षेप का अनुभव नहीं आता है, सारे विकल्प नष्ट हो जाते हैं।

एकीभूतमिद वसत्यविरति ससारभारोज्झित
शातं जीवघन द्वितीयरहित मुक्तात्मरूप महः ।।

तथा ज्ञानादिगुणकथनेन ज्ञानशून्य चैतन्यमात्रमात्मेति साख्यमत बुद्ध्यादिगुणोज्झित पुमान् इति यौगमत च प्रत्युक्तम् ।।८८।।

सिद्धात्मानतकाल यावदनतसुखमनुभवतीत्याह-

**कालमणंतं जीवो अणुहवइ सहावसंभवं सुक्खं।**
**इंदियविसयातीदं अणोवमं देहपरिमुक्को ।।८९।।**

कालमनत जीवोऽनुभवति स्वभावसभव सौख्यम्।
इद्रियविषयातीत अनुपम देहपरिमुक्त ।।८९।।

**अणुहवइ** अनुभवति। कोसौ। ज्ञानकमलाघनाश्लेषलालस **सिद्धजीव**। का कर्मतामापन्नामनुभवति। **सहायसुक्खसंभूइं** स्वभावसुखसमूर्ति स्वभावात् आत्मस्वभावात् यत् सभूत सुख अनतसुख तस्य सभूतिर्विभूतिर्लक्ष्मी स्वभावसुखसभूति ता स्वभावसुखसभूर्ति। अथवा स्वभावतो निसर्गतो या सुखसभूति स्वभावसुखसभूतिस्ता। कि विशिष्टा स्वभावसुखसभूति। **इदियविसयातीदं** इद्रियविषयातीत इद्रियाणि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षु श्रोत्राणि तेषा विषया स्पर्शरसगधवर्णशब्दास्तदतीत इद्रियविषयातीत विषयविरहितामित्यर्थ । पुन कथभूता। अनुपमा उपमारहिता। **कथं** यावदनुभवति। **कालमणत** अनतकालपर्यतमित्यर्थ । कीदृश सिद्ध ।

---

करते है अर्थात् मोक्ष के इच्छुक सम्यग्दृष्टि भव्यात्मा सिद्ध परमात्मा का निरन्तर ध्यान करते है। जो ससार से रहित है, शात है, जीवधन है (आत्मप्रदेशो से युक्त है), द्वितीय रहित है अर्थात् कर्मो की सगति से रहित एक शुद्धात्मा है, ऐसा मुक्तात्मा का स्वरूप महातेजस्वरूप है।

इस गाथा मे सिद्ध भगवान ज्ञानादि गुणो से युक्त है, इस कथन से ज्ञानशून्य चेतन मात्र हैं ऐसा कथन करने वाले **साख्य मत** का खण्डन किया है तथा बुद्धि आदि गुणो से रहित आत्मा है, सिद्धावस्था मे ऐसा कथन करने वाले **योग मत** का खण्डन किया है।।८८।।

सिद्ध भगवान अनन्त काल तक अनन्त सुखो का अनुभव करते है, सो कहते हैं-

**देहरहित सिद्ध भगवान अनन्त काल तक इन्द्रियजन्य विषयो से रहित, अनुपम, स्वभाव से उत्पन्न सुख का अनुभव करते हैं।।८९।।**

औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्माण ये पॉच प्रकार के शरीर हैं, सिद्ध भगवान पाँचो प्रकार के शरीर से रहित हैं। इसलिए देह परिमुक्त हैं, वे सिद्ध भगवान आत्मा से उत्पन्न सुख रूपी समुद्र में लीन हैं, सदातृप्त है और लोक के अग्रभाग मे स्थित हैं, ज्ञानरूपी लक्ष्मी का धन आलिंगन करने मे है लालसा जिनकी ऐसे सिद्ध भगवान स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण शब्द रूप पॉचो इन्द्रियो के विषयो से रहित, स्वस्वभाव से उत्पन्न अनुपम सुख का अनन्त काल तक अनुभव करते हैं। सो ही कहा है-

**देहपरिमुक्को** देहा औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि **तैः** परिमुक्त रहित देहपरिमुक्त आत्मोत्थसुखाबुधिगता सिद्धा सदैव तृप्ता लोकाग्रनिवासिनस्तिष्ठति। यदुक्तम्-

**येषा कर्मनिदानजन्मविविधक्षुत्तृणमुखा व्याधय-**
**स्तेषामन्नजलादिकौषधगणस्तच्छांतये युज्यते।**
**सिद्धानां तु न कर्म तत्कृतरुजो नातः किमन्नादिभि-**
**र्नित्यात्मोत्थसुखामृतांबुधिगतास्तृप्तास्त एव ध्रुवम्॥**

इति सिद्धगतिसाधिकामाराधना विज्ञाय क्षपकस्त्रिगुप्तिगुप्तो भूत्वा आराधयतु सावधानतयेति निदर्शयति-

**इय एवं णाऊणं आराहउ पवयणस्स जं सारं।**
**आराहणचउखंधं खवओ संसारमोक्खट्ठं॥९०॥**

इति एव ज्ञात्वा आराधयतु प्रवचनस्य यत्सार।
आराधनाचतु स्कन्ध क्षपक ससारमोक्षार्थम्॥९०॥

**आराहउ** आराधयतु। कोसौ **खवओ** क्षपक। किमाराधयतु। **आराहणचउखंधं** चतुर्णा स्कधाना समाहारश्चतु स्कध दर्शनचारित्रतपो-लक्षण आराधनायाश्चतु स्कध आराधनाचतु स्कध। किंकृत्वा आराध्नोतु। **इय एवं णाऊणं** इत्येव पूर्वोक्तप्रकारेण आराधनाधीनात करण प्राणी आराधनाप्रवहणेन विविधतरदु खभरवारिपूरपूर्ण दुरतदुर्गतिवडवानलवातुलज्वाला-जालकराल विविधदु साध्यव्याधिम-कराकीर्णमध्य विकटक्रोधविटपिव्याप्त-विपुलपुलिन निष्ठुतराहकारनक्रमक्रोच्छलनभीषण मायामीनालिकुलाकुल

---

जिन जीवो के कर्मो के कारण से होने वाली जन्मादि तथा विविध प्रकार की भूख-प्यास-प्रमुख व्याधियाँ है, उनकी उन व्याधियो को शात करने के लिए अन्न, जल आदि औषधियो का प्रयोग किया जाता है परन्तु सिद्धो के कर्म और कर्मकृत रोग नहीं हैं। इसलिए उनको अन्नादि से क्या प्रयोजन है, वे सिद्ध भगवान निरतर नित्य आत्मस्वभाव से उत्पन्न सुख रूपी अमृत के सागर मे लीन रहते है और वे ही ध्रुव सदा तृप्त हैं॥८९॥

इस प्रकार सिद्ध गति की साधिका आराधना का कथन करके क्षपक को तीन गुप्ति मे लीन होकर सावधानी से ज्ञानादि की आराधना करनी चाहिए, इसका निर्देशन करते हैं-

**इस प्रकार जानकर क्षपक को ससार का विनाश करने के लिए प्रवचन की सारभूत आराधना-चतुःस्कन्ध की आराधना करनी चाहिए॥९०॥**

दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपरूप चार प्रकार की आराधना के आधीन अत करण वाले क्षपक प्राणी आराधना के प्रवाह से विविधतर दु ख रूपी जल से परिपूर्ण, दुरत दुर्गति रूप बडवानल की उठती हुई ज्वाला के समूह से व्याप्त विविध प्रकार के रोग रूप महामगर मच्छ से व्याप्त हैं मध्य जिसका, भयकर क्रोध रूपी वृक्षो से व्याप्त है बडे-बडे विस्तृत पुलिन जिसके, अत्यन्त क्रूर अहकार रूपी नक्र चक्र के उछलने से भीषण,

समुल्लसल्लोमशैवालसमन्वित ससारसमुद्रमलब्धमध्यमुत्तीर्य मोक्षपुराविनश्वर-सुखमाराधनाफलभूतमवाप्नोतीति। विज्ञाय कथभूत यत् आराधनाचतु·स्कन्ध-**पवयणस्स ज सार** प्रवचनस्य आगमस्य सिद्धातस्य द्वादशागभेदभिन्नस्य श्रुतस्य यत् सार रहस्यभूत। किमर्थमाराधयतु। **संसारमोक्खट्ठं** पच-प्रकारससारमोक्षार्थं भवविनाशार्थमिति ॥९०॥

यैर्मोक्षणोर्थ स्वसात्कृतस्तत्प्रशसामाह-

**धण्णा ते भयवंता अवसाणे सव्वसंगपरिचाए।**
**काऊण उत्तमट्ठं सुसाहियं णाणवंतेहिं ॥९१॥**

धन्यास्ते भगवत अवसाने सर्वसगपरित्याग।
कृत्वा उत्तमार्थ सुसाधित ज्ञानवद्भि ॥९१॥

**णाणवंतेहि** यै ज्ञानवद्भि ज्ञान विद्यते येषा ते ज्ञानवत तै ज्ञानवद्भि विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपर-मातमज्ञानसपन्नै· परात्मज्ञानिनश्च ससारे त्रिचतुरा सति। यदुक्त-

---

माया रूपी मछली के कुल (समूह) से आकुलित, समुल्लसत् लोभ रूप शैवाल से युक्त, नहीं प्राप्त है मध्य जिसका (अपार) ऐसे ससार समुद्र को पार कर आराधना फलभूत, मोक्षपुर के अविनाशी सुख को प्राप्त करता है, ऐसा जान कर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप पॉच प्रकार के ससार का नाश करने के लिए द्वादशाग भेद भिन्न सिद्धान्त श्रुत की सारभूत चार प्रकार की आराधना की हे क्षपक ! आराधना करनी चाहिए। अर्थात् हे क्षपक ! चार प्रकार की आराधना ही श्रुत का सार है, यही ससार समुद्र से पार करने वाली है और यही ससार का नाश कर अविनाशी मोक्षसुख को देने वाली है, अत हे क्षपक ! मन वचन कायसे चार प्रकार की आराधना की आराधना करो। इसी आराधना में मग्न हो। इसी शीतल जल की वापिका मे अवगाहन कर ससार ताप को दूर करने का प्रयत्न करो ॥९०॥

जिन महापुरुषो ने मोक्ष के लिए इन आराधनाओ को आत्मसात् किया है उनकी प्रशसा करते हुए आचार्य कहते हैं-

**जिन ज्ञानियो ने अन्तसमय मे सारे परिग्रह का त्याग कर उत्तमार्थ को सिद्ध किया है वे ही जगत्-पूज्य महापुरुष धन्य है ॥९१॥**

ज्ञान, जिनमे पाया जाता है, वे ज्ञानवान कहलाते है परन्तु ज्ञान के बिना कोई भी जीव नहीं है, यहॉ पर विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभाव परमात्मज्ञान से सम्पन्न को ज्ञान कहा है और परमात्मज्ञान से सम्पन्न ज्ञानी ससार मे तीन चार ही प्राप्त हो सकते है। सो ही कहा है-

**विद्यंते कति नात्मबोधविमुखाः संदेहिनो देहिनः**
**प्राप्यंते कतिचित्कदाचन पुनर्जिज्ञासमानाः क्वचित्।**
**आत्मज्ञाः परमात्ममोदसुखिनः प्रोन्मीलदंतर्दृशो,**
**द्वित्राः स्युर्बहवो यदि त्रिचतुरास्ते पंचषा दुर्लभाः ॥**

इति यैर्ज्ञानवद्भि । कि कृत। **सुसाहिय** सुसाधित स्वात्मसात्कृत। कि तत्। **उत्तमट्ठं** उत्तमार्थं मोक्षलक्षणपदार्थ । किकृत्वा। **काऊण** कृत्वा। कि। **सव्वसंगपरिचाए** सर्वसगपरित्याग सर्व स चासौ सगश्च सर्वसग बाह्याभ्यतरपरिग्रहलक्षणस्तस्य परित्यागस्त सर्वसगपरित्याग विधाय। कदा। **अवसाणे** अवसाने आयु प्राते अथवा अवसानमित्युपलक्षण तेन बालकावस्थाया तरुणावस्थाया वृद्धावस्थायामपि सर्वसगपरित्याग विधाय उत्तमार्थ साधित । सर्वसगपरित्यागश्चानया रीत्या कृत पुरातनैराधुनिकैश्च कर्तव्य इति तद्रीतिमाह। उक्त च-

**स्नेहं वैरं संघ परिग्रहं चापहाय शुद्धमना. ।**
**स्वजनं परिजनमपि च क्षांत्वा क्षमयेत् प्रियैर्वचनै ॥**
**आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम्।**
**आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निःशेषम् ॥**

---

"आत्मज्ञान से विमुख सशयालु ससारी प्राणी कितने नहीं है अर्थात् सभी ससारी प्राणी आत्मज्ञान से पराङ्मुख है। आत्मज्ञान के जिज्ञासु पुन क्वचित् (कही पर) कदाचित् (किसी काल मे) कतिचित् (कुछ) प्राप्त होते हैं। उघड गए है अन्तरग नेत्र जिनके ऐसे परमात्म आनन्द से सुखी आत्मज्ञ ससार मे दो, तीन होते है, बहुत हो तो तीन, चार होते हैं। वे आत्मज्ञानी पॉच, छह तो अत्यन्त दुर्लभ हैं।"

परात्मज्ञानसम्पन्न जिन ज्ञानियो ने आयु के अन्त (मरण समय) मे सर्व परिग्रह का त्याग कर उत्तमार्थ को सिद्ध किया है, वे ही जगत् मे धन्य है। यहॉ पर आयु का अवसान यह उपलक्षण मात्र है अत बालक अवस्था, तरुण अवस्था और वृद्धावस्था मे भी सर्वपरिग्रह का त्याग कर उत्तमार्थ को सिद्ध करते हैं। पुरातन पुरुषो ने सर्व परिग्रह का त्याग इस रीति (विधि) से किया है, आधुनिको को भी परिग्रह का त्याग करना चाहिए। उसकी विधि का कथन करते हैं। **समन्तभद्राचार्य ने रत्नकरण्डश्रावकाचार** मे कहा है-

सल्लेखना धारण करने के इच्छुक मानव को सर्व प्रथम हर्ष-विषाद का त्याग करना चाहिए। अर्थात् अनुकूल शीत, उष्ण आदि मे हर्ष और प्रतिकूल पदार्थों मे विषाद नहीं करना चाहिए क्योकि हर्ष-विषाद ही समाधि के घातक हैं।

सल्लेखना धारण करने के लिए स्नेह, वैर, सघ, परिग्रह को छोडकर शुद्ध मन से प्रिय वचनो से कुटुम्बी जनो से और परिजनो आदि से क्षमा कराकर उनको क्षमा करे। छल-कपट रहित सरल शुद्ध भावों से कृत-कारित-अनुमोदना सहित किये हुए समस्त पापो की गुरु समक्ष आलोचना करके मरणपर्यन्त पॉचों पापो का त्याग कर महाव्रत धारण करे।

आलोचनाविधिश्चाय-

कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषय मनोवचनकायैः।
परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैःकर्ममवलबे॥

मोहाद्यदहमकार्पं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निःकर्मणि नित्यमात्मना वर्ते॥

मोहविलासविजृंभितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निःकर्मणि नित्यमात्मना वर्ते॥

प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्तसंमोहः।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निःकर्मणि नित्यमात्मना वर्ते॥

समस्तमित्येवमपास्य कर्म त्रैकालिक शुद्धनयावलवी।
विलीनमोहो रहित विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमाथवलंवे॥

---

अमृतचन्द्राचार्य ने भी समयसार कलश मे आलोचना विधि इस प्रकार लिखी है-

"अतीत, अनागत और वर्तमान काल सम्बन्धी सभी कर्मो का कृत, कारित, अनुमोदना और मन वचन काय से त्यागकर (छोडकर) उत्कृष्ट निष्कर्म अवस्था का अवलम्बन करता हू। (ऐसी प्रतिज्ञा करता है)। (यह प्रत्याख्यान है।)

मैने मोह से वा अज्ञान से जो कर्म किये हे, उन सारे कर्मो का प्रतिक्रमण करके मै निष्कर्म (कर्मो से रहित) चैतन्य स्वरूप अपने आत्मा मे नित्य अपनी आत्मा के द्वारा प्रवृत्ति करता हूँ। अर्थात् परप्रवृत्ति को छोडकर स्वकीय शुद्धात्मा का अनुभव करता हूँ। (यह प्रतिक्रमण है)।

क्षपक अपने मन मे विचार करता है कि मोह की विलासवृद्धि को प्राप्त हुआ मै उदयमान कर्म की आलोचना करके अपनी आत्मा (निजशक्ति) के द्वारा निष्कर्म चैतन्य स्वरूप निजात्मा मे ही निरन्तर प्रवृत्ति करता हूँ। (यह आलोचना विधि है।)

प्रत्याख्यान करने वाला विचार करता है कि भविष्य काल मे होने वाले सारे कर्मो का (कर्मागमन में कारणभूत सारे भावो का) प्रत्याख्यान (त्याग) करने से जिसका मोह नष्ट हो गया है ऐसा मैं निष्कर्म चैतन्य स्वरूप आत्मा मे अपनी आत्मा के द्वारा निरन्तर प्रवृत्ति करता हूँ। अर्थात् हे क्षपक ! सारे आगामी काल मे होने वाले विभाव भावो का त्याग कर निरन्तर आत्मस्वभाव मे प्रवृत्ति करना ही श्रेयस्कर है।

पूर्वोक्त प्रकार से तीन काल सम्बन्धी सारे कर्मो को दूर करके शुद्धनयावलम्बी वीतमोह मै सर्व विकारो से रहित होकर शुद्ध चैतन्य मात्र आत्मा का अवलम्बन लेता हूँ।

विगलंतु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमंतरेणैव।
संचेतयेहमचलं चैतन्यात्मानमात्मानम्।।

इति। तदनु-

शोकं भयमवसाद क्लेशं कालुष्यमरतिमपि हित्वा।
सत्त्वोत्साहमुदीर्य च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः।।

आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्धयेत्पानम्।
स्निग्ध च हापयित्वा खरपानं पूरयेत्क्रमशः।।

खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या।
पंचनमस्कारमनास्तनु त्यजेत्सर्वयत्नेन।।

एवमुत्तमा गति साधिता ते कीदृशा इत्याह। **धण्णा ते भयवंता** धन्यास्ते भगवत ते पुरुषा क्षपका धन्या कृतपुण्या. तथा भगवत जगत्पूज्या इत्यर्थ ।।९१।।

---

क्षपक निरन्तर विचार करता है कि हे भगवन्! कर्मरूपी विपवृक्ष के फल मेरे द्वारा भोगे बिना ही खिर जावे, मैं चैतन्य स्वरूप अपनी आत्मा का निश्चल रूप से सचेतन-अनुभव करता रहूँ, स्व-स्वभाव में लीन रहूँ।

क्षपक आजन्म महाव्रतो को धारण कर उपर्युक्त भावना के द्वारा अपने भावो को अपने स्वरूप मे स्थिर करने का प्रयत्न करे।

स्व-परिणामो की विशुद्धि के लिए क्षपक को और क्या करना चाहिए? **रत्नकरण्ड श्रावकाचार** मे **समन्तभद्र आचार्य** ने कहा है-

शोक, भय, विपाद, राग, कलुषता ओर अरति का त्याग करके तथा अपने वल और उत्साह को प्रगट करके ससार के दु ख रूपी सताप को दूर करने वाले श्रुतरूपी अमृत के पान से (शास्त्रश्रवण से) स्वकीय मन को प्रसन्न करे।

क्रम-क्रम से आहार (अन्न) का त्याग कर दूध ओर छाछ का प्रमाण वढावे। फिर दुग्धादि स्निग्ध पदार्थो का त्याग करके रुक्ष काजी आदि का मेवन करे। तत्पश्चात् उष्ण जलपान का भी त्याग करके शक्ति के अनुसार उपवास करे। पश्चात् णमोकार मत्र का जप करते हुए प्रयत्नपूर्वक प्राणो का विसर्जन करे।

इस प्रकार जो भव्यात्मा उत्तम गति (समाधि) की साधना करते हे, वे ही महापुरुष धन्य हैं, कृत-पुण्य हैं, जगत्पूज्य हे और भगवान हे।।९१ ।।

तीव्रवेदनाभिभूत क्षपक खल्वनयोक्त्या प्रोत्साह्यत इति शिक्षा प्रयच्छन्नाह-

**धण्णोसि तुमं सुज्जस लहिऊणं माणुसं भवं सारं।**
**कयसंजमेण लद्धं सण्णासे उत्तमं मरणं ॥९२॥**

धन्योसि त्व सद्यश लब्धा मानुष भव सारम्।
कृतसयमेन लब्ध सन्यासे उत्तम मरण ॥९२॥

भो **सुज्जस** शोभन राकाशशाकधवल यशो यस्य स सद्यशा तस्य सबोधन क्रियते भो सद्यश भो क्षपक भो पुरुषोत्तम त्व धन्योसि कृतपुण्योसि कृतकृत्योसि येन त्वया सन्यासे सन्यसन सन्यासस्तस्मिन् सन्यासे सन्यासमाश्रित्य उत्तम मरण उत्तमाना पचविधमरणानामन्यतम यत्त्वया लब्ध प्राप्त। कि कृत्वा पूर्वं। **लहिऊणं माणुसं भवं सारं** मानुष्य भव नृभवातर सार समस्तभवातरेषु सारभूत लब्ध्वा सप्राप्य यो नृत्व दु प्राप्य प्राप्य गृहिधर्ममाचरति स धन्य । य पुन स्वात्माराधनपूर्वक तपस्तपति तस्य पुन किं वाच्यम्। यदुक्त-

**लब्ध्वा जन्म कुले शुचौ वरवपुर्बुद्ध्वा श्रुतं पुण्यतो,**
**वैराग्य च करोति यः शुचितपो लोके स एकः कृती।**
**तेनैवोज्झितगौरवेण यदि वा ध्यान समापीयते,**
**प्रासादे कलशस्तदा मणिमयैर्हैमैस्तदारोपितः॥**

---

तीव्र वेदना से अभिभूत हुए क्षपक को निश्चय से इस युक्ति से प्रोत्साहित करते हुए, इस प्रकार शिक्षा देते हुए कहते है-

**''हे क्षपक ! हे सुयश ! मानवभव के सार को प्राप्त कर तुमने कृतसयम के द्वारा सन्यास में उत्तम मरण प्राप्त किया है, इसलिए तुम धन्य हो ॥९२॥**

हे क्षपक ! चन्द्रमा के समान निर्मल हे यशस्वी ! तुम धन्य हो, तुम कृतकृत्य हो, तुम पुरुषोत्तम हो, तुम कृतपुण्य हो, क्योकि तुमने सन्यास का आश्रय लेकर उत्तम मरण (पडित मरण) करने का प्रयत्न किया है।

हे क्षपक ! तुमने सारे भवान्तरो में (चौरासी लाख योनियो मे) सारभूत, दुष्प्राप्य मानव भव को प्राप्त कर गृहस्थावस्था मे निरतिचार व्रतो को पालन किया और तत्पश्चात् स्वात्मा की आराधनापूर्वक तप तप रहे हो, सन्यास धारण किया है, समाधिमरण करने मे तत्पर हो अत तुम धन्यवाद के पात्र हो। तुम्हारी महिमा का कथन क्या करे ! कहा भी है-

''जो भव्य प्राणी पवित्र कुल में जन्म और उत्कृष्ट शरीर प्राप्त कर तथा पूर्वोपार्जित पुण्य से श्रुत को जानकर तथा वैराग्य को प्राप्त कर पवित्र निर्दोष तप तपता है, लोक मे वही एक पुण्यात्मा है। यदि वह गर्व को छोडकर ध्यान मे लीन होता है, अन्त मे समाधिमरण करता है तो वह महल पर सुवर्णरचित और मणिजड़ित कलशो का आरोपण करता है अर्थात् सुवर्णमय महल पर मणिमय कलश चढाता है।''

कथंभूतेन त्वया। कयसंजमेण संयमन संयम कृत. संयम इन्द्रियमन संयमन येन स कृतसंयमनस्तेन कृतसंयमनेन संयम प्रतिपाल्य यत्त्वमेतादृश सन्यासोत्तममरणमाप्तवानसि तत्त्व धन्यतमोसि ॥९२॥

मन:कायोद्भव दु ख क्षपकस्यावश्य जायत इति विवृणोति-

**किसिए तणुसंघाए चिट्ठारहियस्स विगयधामस्स।**
**खवयस्स हवइ दुक्खं तक्काले कायमणुहूयं ॥९३॥**

कृषिते तनुसघाते चेष्टारहितस्य विगतधाम्न·।
क्षपकस्य भवति दु ख तत्काले कायमनउद्भूतम ॥९३॥

**हवइ** भवति। किं तत्। **दुक्खं** दु·ख। कस्य भवति। **खवयस्स** क्षपकस्य स्वीकृतसन्यासस्य। कीदृश दु·ख **कायमणुहूय** काय शरीर मनश्चित्त कायश्च मनश्च कायमनसी ताभ्या सकाशादुद्भूत तत् कायमनउद्भूत। तत्र कायज दु·ख शिर कर्णनेत्रतीव्रतरवेदनाज्वरावेशदाहाद्यनेक-प्रकार, मन सभव दु·ख च एतद्गृहमिमे दारा एते बांधवा इय कमला मम पुन·क्वेत्यादि सकल्पविकल्परूप। कदा भवति दु ख। **किसिए तणुसंघाए** कृषिते तनुसघाते तनो· शरीरस्य सघात परमाणुसचयरूपो हस्तपादाद्यगुल्यवयवरूपो वा तनुसघातस्तस्मिन् तनुसघाते लघनवशादथवा तीव्रवेदनावशात् कृशता क्षीणता गते सति। कीदृशस्य क्षपकस्य। **विगयधामस्स** विगतबलस्य अत एव **चिट्ठारहियस्स** चेष्टारहितस्य चलनवलनादिका चेष्टा तया रहितस्य चेष्टाविवर्जितस्य। तत क्षपकेण सविशुद्धपरमात्मभावनाबलेन वाग्मन कायादिक कर्म च स्वात्मस्वरूपात् पृथक दृष्टव्य तेन च दु खोपशातिर्भवति। यदुक्तम्-

---

हे क्षपक! तुमने इन्द्रियसंयम और प्राणीसंयम धारण कर सल्लेखना मरण करने का उद्यम किया है। सन्यास से उत्तम मरण प्राप्त किया है तुम सन्यास में आरूढ़ हुए हो अतः तुम धन्यवाद के पात्र हो। तुम्हारे समान दूसरा कोई उत्कृष्ट नहीं है॥९२॥

क्षपक को मन, वचन काय से उत्पन्न दु·ख अवश्य होता है। उसका विवरण करते हैं-

अवलम्ब रहित, निश्चेष्ट क्षपक के शरीर को कृश करने पर उस समय शरीर और मन में कष्ट उत्पन्न होता है॥९३॥

कर्मभिन्नमनिश स्वतोखिलं पश्यतो विशदबोधचक्षुषा।
तत्कृतेपि परमार्थवेदिनो योगिनो न सुखदुःखकल्पना ॥९३॥

कठिनतरसस्तरशयनदोषेण यदि दुःखमुपजायते तदा समभावेन सहस्वेति शिक्षा ददन्नाह-

**जइ उप्पज्जइ दुक्खं कक्कससंथारगहणदोसेण।**
**खीणसरीरस्स तुमं सहतं समभावसंजुत्तो ॥९४॥**

यद्युत्पद्यते दु ख कर्कशसस्तरग्रहणदोषेण।
क्षीणशरीरस्य त्व सहस्व समभावसयुक्त ॥९४॥

**जइ उपज्जइ** यदि उत्पद्यते सजायते। किं तत्। **दुक्ख कस्य**। तव। केन। कर्कशसस्तरग्रहणदोषेण कर्कशसस्तरस्य ग्रहण स्वीकरण कर्कशसस्तरग्रहण तदेव दोषस्तेन वा दोष कर्कशसस्तरग्रहणदोष तेन कर्कशसस्तरग्रहणदोषेण। कथभूतस्य तव। क्षुत्तृड्जनिततीव्रतरपीडावशात् क्षीण सामर्थ्यविरहितशरीर यस्य स क्षीणशरीरस्तस्य क्षीणशरीरस्य दुर्बलीभूतकायस्य। **तुम सहत** त्व तद्दु ख सहस्व। कीदृशस्त्व। **समभाव-संजुत्तो** समभावसयुक्त सम अहौ हारे मित्रे शत्रौ तृणे स्त्रैणे समानो यो भाव परिणाम समभावस्तेन युक्त समभावसयुक्त यतो मणौ लोष्टे समभावपरिणतो सूरिरात्मानमेव पश्यति। यदुक्त-

---

निरन्तर निर्मल ज्ञान रूपी चक्षु के द्वारा स्वत कर्मो से भिन्न अखिल आत्मा का अवलोकन करने वाले परमार्थवेदी योगी के कर्मजन्य सुख-दु ख की कल्पना ही नहीं होती है॥९३॥

हे क्षपक ! कठिनतर सस्तर पर शयन करने से यदि तुझे दु ख उत्पन्न होता है तो तू समभावो से उसको सहन कर, इस प्रकार शिक्षा देते हुए आचार्य क्षपक को सम्बोधित करते है-

**''हे क्षपक ! कर्कश कठोर सस्तर के ग्रहण के दोष से यदि क्षीणशरीरी तुझे कुछ कष्ट होता है तो तू उसे समता भावो से सहन कर, आकुलता मत कर॥९४॥**

भूख-प्यासजनित तीव्रतर पीडा से जिसका शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया है, शक्तिहीन दुर्बल हो गया है, कठोर-कर्कश सस्तर के ग्रहण करने से जिसके शरीर मे पीडा होती है, जिससे क्षपक आकुल-व्याकुल होता है तब निर्यापकाचार्य उसको सम्बोधित करते हैं- हे क्षपकराज ! यदि इस कठोर सस्तर के कारण तेरे मन मे कुछ पीडा का अनुभव हो रहा है तो तू सर्प और हार मे, शत्रु और मित्र मे, सुख और दु ख मे, तृण और सुवर्ण मे सम भाव से युक्त होकर इन पीडाओ को सहन कर। क्योकि जो सूरि (क्षपक) मणि और, लोष्ठ (पत्थर) मे, सुख और दु ख मे समभाव से परिणत होता है, वही अपनी आत्मा का अवलोकन कर सकता है, दूसरा नहीं। सो ही कहा है-

एकस्यापि ममत्वमात्मवपुषः स्यात्संसृतेः कारणं
का बाह्यार्थकथा प्रथीयसि तपस्याराध्यमानेपि च।
तद्वास्यां हरिचंदनेऽपि च समः सश्लिष्टतोऽप्यंगतो
भिन्न स्वं स्वयमेकमात्मनि धृतं पश्यत्यजस्रं मुनिः॥

तृणं वा रत्न वा रिपुरथ परं मित्रमथवा,
सुख वा दुःखं वा पितृवनमहो सौधमथवा।
स्तुतिर्वा निदा वा मरणमथवा जीवितमथ
स्फुटं निर्ग्रंथानां द्वयमपि समं शातमनसाम्॥

यावत्परीषहान् सहमान सस्तरे वससि तावदात्मज्ञानपरिणतस्त्व कर्माणि क्षपयसीति क्षपकमुत्साहयन्नाह-

**तं सुगहियसण्णासे जावक्कालं तु वससि संथारे।**
**तण्हाइदुक्खतत्तो णियकम्मं ताव णिज्जरसि॥९५॥**

त्व सुगृहीतसन्यासो यावत्काल तु वससि सस्तरे।
तृष्णादिदु खतप्तो निजकर्म तावन्निर्जरयसि॥९५॥

---

"घोर तपश्चरण की आराधना करने पर भी एक स्वकीय शरीर का ममत्व ससार का कारण होता है तो अन्य बाह्य पदार्थो के ममत्व का तो कहना ही क्या ! वह तो ससार का कारण ही है। तलवार और हरिचन्दन मे समभाव रखने वाले मुनिराज निरन्तर एकक्षेत्रावगाही भी शरीर से भिन्न एक शुद्धात्मा का अपनी आत्मामे अवलोकन करते है, ज्ञान रूपी नेत्रो से शरीर से भिन्न अपनी आत्मा का अवलोकन करते है, अनुभव करते हैं। शातरस मे मग्न निर्ग्रन्थ मुनिराजो के हृदय मे तृण और रत्न, शत्रु और मित्र, सुख वा दुख, श्मशान और महल, स्तुति और निन्दा, मरण और जीवन दोनो ही समान हैं अर्थात् प्रतिकूलता और अनुकूलता मे मुनिराज के समभाव होता है और यह समभाव ही आत्मावलोकन मे कारण बनता है। इसलिए हे क्षपक ! तू इस शारीरिक पीडा को समभावो से सहन कर॥९४॥

निर्यापकाचार्य क्षपक को उत्साहित करते हुए कहते हैं कि - जब तक तू इन परीषहो को सहन करते हुए समभावो से सस्तर पर रहेगा, तब तक कर्मों की निर्जरा करेगा। ऐसी शिक्षा देते है-

**हे गृहीतसंन्यास क्षपक ! जब तक भूख-प्यास आदि दुःखो से संतप्त तू संस्तर पर (सन्यास मे) रहता है तब तक निज कर्मों की निर्जरा करता है॥९५॥**

भो क्षपक **जावक्कालं तु वससि तं** त्व यावत्काल यावत काल वससि निवास करोषि। क्व। **संथारे** सस्तरे। तावत् कि करोषीत्याह। **तावणिज्जरसि** तावन्निर्जरयसि। किं तत्। **णियकम्म** निजकर्म बहुभवात-रोपार्जितकर्मसतान अवश्यमयमात्मा परात्मध्यानज्वलनज्वालाजालनिर्दग्ध-मना क्षणादेव विविधाना कर्मणा निर्जरामारचयति न पुनरात्मज्ञानविहीन । यदुक्तम्-

**अज्ञो यद्भवकोटिभि: क्षपयति स्वं कर्म तस्माद्बहु,**
**स्वीकुर्वन् कृतसंवर: स्थिरमना ज्ञानी तु तत्तत्क्षणात्।**
**तीक्ष्णक्लेशहयाश्रितोपि हि पदं नेष्टं तप.स्यंदने,**
**नीयंतं नयति प्रभु· स्फुटतरज्ञानैकसूतोज्झित:।।**

कीदृश सन् कर्मनिर्जरा करोषि त्वमित्याह। **तणहाइदुक्खतत्तो** तृष्णाक्षुद्दशमशकादिभिर्यद्दु ख दुस्सहतरयातना तृष्णादिदु ख तेन तप्त कदर्थित तृष्णादिदु खतप्त । किमिति सर्वपरीषहान् सहमान क्षपक सस्तरमास्थित । यस्मात् सुगृहीतसन्यास सु अतिशयेन गृहीत सन्यासोऽन्नपानादिनिवृत्तिलक्षणो येन स सुगृहीतसन्यास गृहीतसन्यास स्वात्मभावनापर तृष्णादिदु खमनुभवन्नपि कर्मनिर्जरालक्षण फलमवाप्नोतीत्य-सदेहमिति।।९५।।

---

परमात्मा के ध्यान रूपी अग्निसमूह से निजमन को नष्ट कर दिया है जिसने ऐसा वह क्षपक जब तक सस्तर पर निवास करता है, भूख-प्यास आदि दु खो को सहन करता हुआ सन्यास मे स्थित रहता है, तब तक भवान्तरो (अनेक भवो) के उपार्जित कर्मों की एक क्षण मे आत्मज्ञान से अवश्य ही निर्जरा करता है। परन्तु आत्मज्ञान से विहीन क्षपक कर्मों की निर्जरा नही कर सकता। कहा भी है-

"अज्ञानी करोडो भवो मे तपश्चरण करके अपने कर्मो का नाश करता है, स्थिर मन वाला, जिसने सवर स्वीकार किया है, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का धारी ज्ञानी मुनि एक क्षण मे अनेक भवो मे उपार्जित कर्मो का नाश कर देता है।"

स्फुटतर ज्ञान रूपी अद्वितीय सारथी से रहित, तप रूपी रथ मे तीक्ष्ण क्लेश रूपी घोडे से आश्रित मानव अपने इष्ट स्थान पर तपरूपी रथ को ले जाने मे समर्थ नहीं है।

क्षुधा, तृषा, दशमशक आदि परीषहो के द्वारा दु सह दुस्तर यातनाओ, दु खो से सतप्त होता हुआ भी सन्यास मे स्थित, अन्नपानादि से निर्वृत्त क्षपक स्वात्म-भावना मे तत्पर होकर जब तक सन्यासकाल मे समय व्यतीत करता है तब तक उसके असख्यात-गुणी कर्मों की निर्जरा होती है, अथवा वह कर्मों की निर्जरा के फल को प्राप्त करता है, इसमे सशय नहीं है।।९५।।

यथा यथा तृष्णादिबाधा जायते क्षपकस्य तथा ता समभावनया सहमानस्य कर्मनिर्जरैव फल भवतीत्याचष्टे-

**जहं जहं पीडा जायइ भुक्खाइपरीसहेहिं देहस्स।**
**तहं तहं गलंति णूणं चिरभवबद्धाइं कम्माइं ।।९६ ।।**

यथा यथा पीडा जायते क्षुदादिपरीषहैर्देहस्य।
तथा तथा गलति नून चिरभवबद्धानि कर्माणि ।।९६ ।।

**जहं जहं पीडा जायइ** यथा यथा येन येन प्रकारेण पीडा तीव्रतरवेदना जायते। कस्य। देहस्य जीवाविष्टस्य शरीरस्य। कै कृत्वा व्यथा जायते। **भुक्खाइपरीसहेहि** क्षुत् आदिर्येषा शीतोष्णदशमशकादीना ते क्षुदादय क्षुदादयश्च ते परीषहास्तै क्षुदादिपरीषहै तथा तथा कर्माणि विलीयते इत्याह। **तहं तहं गलंति णूण** तथा तथा गलति तेन तेन प्रकारेण विलय प्रपद्यते नून। कानि। **कम्माइं** कर्माणि। कथभूतानि कर्माणि। **चिरभवबद्धानि** अनेकभवातरोपार्जितानि। यद्यपि सिद्धाते तपसा **निर्जरेत्युक्तं** तथापि भेदविज्ञानमतरेण न कर्मनिर्जरा। तत क्षपकेन तदेवाश्रयणीय। यदुक्त-

**कर्मशुष्कतृणराशिरुन्नतोप्युद्गते शुचिसमाधिमारुतात्।**
**भेदबोधदहने हृदि स्थिते योगिनो झटिति भस्मसाद्भवेत् ।।**

अग्निससर्गाज्जलमिवाह दु खैस्तप्तोस्मीति क्षपकश्चिन्तयेदित्याह-

---

जैसे-जैसे क्षपक को भूख, प्यास आदि की पीडा होती है, वैसे-वैसे उन पीडाओ को समभावना सहन करने वाले क्षपक के कर्मों की निर्जरा होती है, उसी का कथन करते है-

**''हे क्षपकराज ! जैसे-जैसे भूख-प्यास आदि परीषहो के द्वारा शरीर को पीड़ा उत्पन्न होती है, वैसे-वैसे चिरकाल (अनेक भवो) में बँधे हुए कर्म निश्चय से गलते हैं, निर्जरित होते हैं, नष्ट होते हैं ।।९६ ।।**

भूख, प्यास, शीत, उष्ण, दशमशक आदि परीषहो के द्वारा जीवयुक्त शरीर मे जैसे-जैसे पीडा रोग, व्याधि उत्पन्न होते हैं, वैसे-वैसे अनेक भवो मे चिरकाल से बँधे हुए कर्म निस्सन्देह गल जाते हैं, निर्जरित हो जाते हैं।

यद्यपि सिद्धान्तशास्त्रो मे तप के द्वारा निर्जरा होती है, तप से कर्म नष्ट होते हैं, ऐसा कहा गया है फिर भी कर्मनिर्जरा का मूल कारण भेदविज्ञान है। भेद-विज्ञान के बिना निर्जरा नहीं होती है। इसलिए क्षपक को भेदविज्ञान की भावना करनी चाहिए। कहा भी है-

पवित्र समाधि रूपी वायु से प्रज्वलित भेदविज्ञान रूपी अग्नि के हृदय मे स्थित हो जाने पर योगियो के उन्नत (अति तीव्र) भी कर्म रूपी शुष्क तृणराशि शीघ्र ही भस्म हो जाती है ।।९६ ।।

अग्नि के ससर्ग से सतप्त जल के समान ''मैं दु खो से सतप्त हूँ'', इस प्रकार चिन्ता करने वाले क्षपक को आचार्य कहते हैं।

**तत्तोहं तणुजोए दुक्खेहिं अणोवमेहिं तिव्वेहिं।**
**णरसुरणारयतिरिए जहा जलं अग्गिजोएण॥९७॥**

तप्तोह तनुयोगे दु खैरनुपमैस्तीव्रै ।
नरसुरनारकतिरश्चि यथा जलमग्नियोगेन॥९७॥

**तत्तोहं** तप्तोऽह यद्यप्यह शुद्धनिश्चयनयापेक्षया अनतज्ञानामृतवापीमध्यमध्यासीन सदैवानतसुखस्वभाव तथापि व्यवहारेण अह तप्तोस्मि कदर्थितोस्मि। कै । **दुक्खेहि** दु खै । कीदृशै । अनुपमै उपमारहितै तथा तीव्रै दुस्सहतरै । कदा। तनुयोग वपु सयोग शरीरसयोगमासाद्य दु खपरपरा परिगतोस्मीत्यर्थ । कस्मिन्। **णरसुरणारयतिरिए** नरश्च सुरश्च नारकश्च तिर्यङ् च नरसुरनारकतिर्यङ् 'द्वद्वैकत्वमत्र' तस्मिन् नरसुरनारकतिर्यश्चि। तत्र मनुष्यगतौ इष्टवियोगानिष्टसयोगविपदागमाधिव्याधिसभवैर्दु खैरुपद्रुत । देवगतौ इद्रादिविभूतिदर्शनसभूतैर्मानसैर्दु खै । नरकगतौ-

**असुरोदीरियदुक्ख सारीर माणस तहा विविह।**
**खित्तुब्भवं च तिव्वं अण्णोण्णकयं च पंचविह॥**

इत्युक्तलक्षणै पचप्रकारदुखै तिर्यग्गतौ अतिभारारोपणनासाछेदनभेदनविदारणक्षुत्तृष्णाजनि-

---

**जिस प्रकार अग्नि के संयोग से जल सतप्त होता है, उसी प्रकार मैं शरीर के सयोग से मानव, देव, नारक और तिर्यंच योनि मे तीव्र अनुपम दु खो से सतप्त हुआ हूँ। अर्थात् चारों गतियो मे मैने अनेक दु:खो को सहन किया है, समाधिमरण काल मे यह भूख प्यास का दु·ख तो कुछ भी नही है ॥९७॥**

यद्यपि यह आत्मा शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा अनन्त ज्ञान रूपी अमृत की वापिका के मध्य स्थित है, निरन्तर अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख स्वभाव वाला है, तथापि व्यवहार नय की अपेक्षा शरीर के सयोग को प्राप्त कर मानव, देव, नारक और तिर्यच योनिरूप चारो गतियो मे उपमा रहित तीव्र दुस्सहतर दु खो से सतप्त हुआ है। **मनुष्यगति** मे इष्ट का वियोग, अनिष्ट का सयोग, विपदाओ का आगम, आधि-व्याधि से उत्पन्न अनेक दु खो से सतप्त हुआ है, उपद्रवित हुआ है।

**देव गति** मे इन्द्रादि की विभूति के दर्शन से उत्पन्न मानसिक दु खो से सतप्त हुआ है।

**नरक गति** मे असुरोदीरित दु ख, शारीरिक, मानसिक दु ख, अनेक प्रकार के पृथ्वी के स्पर्शन से उत्पन्न दु ख और परस्पर नारकी कृत दु ख इन पॉच प्रकार के नारकीय दु खो को भोगा है।

**तिर्यञ्च गति** मे अतिभार का आरोपण, नासिका आदि अगो का छेदन, भेदन, विदारण, भूख-प्यास आदि अनेक दु खों से मेरी आत्मा सतप्त हुई है, अनेक दु खो को सहन किया है। इसी अर्थ को दृष्टान्त के द्वारा प्रकट करते हैं जैसे अग्नि के सयोग से जल सतप्त होता है उसी प्रकार शुद्ध चैतन्य स्वरूपी मैं भी

तैरनेकविधैर्दु.खैस्तप्तो अयमात्मा। अमुमेवार्थं दृष्टातेन व्यक्तीकरोति। **जहा जलं अग्गिजोएण** यथा जल पानीय शीतस्वभावमपि ज्वलनसयोगेन तप्ती भवति तथाहमपीति विमृश्य। तथा-

**जानासि त्वं मम भवभवे यच्च यादृक् च दु.ख,**
**जात यस्य स्मरणमपि मे शस्त्रवन्निष्पिनष्टि।**
**त्व सर्वेश: सकृप इति च त्वामुपेतोऽस्मि भक्त्या**
**यत्कर्तव्य तदिह विषये देव एव प्रमाणम्।।**

इति स्तुत्वा च देव शरण याया इति यावत्।।९७।।

इति चिदानदभावनापरिणत स्वस्वभावास्तित्व ध्रुवाणो ज्ञानामृते तत्सौख्यवान् भवतीत्याह-

**ण गणेइ दुक्खसल्लं इयभावणभाविओ फुडं खवओ।**
**पडिवज्जइ ससहावं हवइ सुही णाणसुक्खेण।।९८।।**

न गणयति दु खशल्य इतिभावनाभावित स्फुट क्षपक ।
प्रतिपद्यते स्वस्वभाव भवति सुखी ज्ञानसौख्येन।।९८।।

**ण गणेइ** न गणयति। कोऽसौ। **खवओ** क्षपक । कि न गणयति। **दुक्खसल्ल** दु खशल्य। कथ। **फुडं** स्फुट प्रकट। कीदृश क्षपक । **इयभावणभाविओ** इतिभावनाभावित यदहमनादिकाले चतुर्गतिक्लेशगर्तवर्तस्थपुटे पचप्रकारे ससारे भ्राम भ्राम यानि दुस्सहानि दु खान्यनुभूतवा-नस्मि तेभ्योऽमूनि

---

कर्मों के सयोग से सतप्त हूँ। ऐसा विचार कर कर्मानुभव से मन को हटाकर स्वानुभव मे लगाना चाहिए। स्वानुभव के अभाव मे इस जीव ने क्या-क्या दु ख भोगे हैं, उनको केवली भगवान ही जानते है। **एकीभावस्तोत्र** मे **वादिराज** मुनिराज ने कहा है-

''हे भगवन् ! इस अपार ससार मे भ्रमण करते हुए, भव-भव मे मैंने जो और जैसे दु ख भोगे हैं उनको आप साक्षात् जानते हैं, वे आपके ज्ञान मे प्रतिबिम्बित हैं। यदि उनका मुझे स्मरण हो जाए तो शस्त्र के प्रहार के समान मेरे टुकडे-टुकडे हो जायेगे। हे भगवन् ! तुम सर्वेश (सबके स्वामी) हो, तुम दयालु हो, मैं भक्ति से तुम्हारी शरण मे आया हूँ। हे देव ! इस विषय मे आप जो करोगे वही मुझे प्रमाण है- स्वीकार है'' हे क्षपक! इस प्रकार स्तुति करके वीतराग प्रभु की शरण मे जाओ-जाओ। उनके गुणो के स्मरण में लीन हो जाओ।

इस प्रकार चिदानन्द स्वभाव मे परिणत स्व-स्वभाव के अस्तित्व को ध्रुव स्वीकार करने वाला क्षपक अनन्त सुख का भागी बनता है। सो कहते हैं-

**''इस प्रकार की भावना से भावित जो क्षपक दु ख की शल्य को नही गिनता है, वह निश्चय से स्वस्वभाव को प्राप्त होता है और ज्ञानसुख से सुखी होता है।।९८।।**

अनादि काल से चतुर्गति के क्लेश रूपी गड्ढो से ऊबड-खाबड पाँच प्रकार के परिवर्तन रूप इस ससार में भ्रमण कर-कर के मैने जो दु ख सहन किये है- दुस्सह दु खो का अनुभव किया है, उसके समक्ष यह भूख-

क्षुत्तृट्प्रभवानि न किंचिदिव प्रतिभात्येवरूपा भावना इतिभावना तया भावित पुन पुन सस्कृत इतिभावनाभावित., अथवा मम जरामरणादिरहितम्य विशुद्धस्य निश्चयेन दु ख नाम्तीत्येवरूपा भावना तया भावित इतिभावनाभावित क्षपक.। कि करोतीत्याह। पडिवज्जइ प्रतिपद्यते स्वीकरोति। क। ससहावं स्वस्वभाव आत्मस्वभावम्। यदुक्तम्-

> इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्यं समग्र वलात्
> तन्मूलां वहुभावसततिमिमामुद्धर्तुकाम: समम्।
> आत्मानं समुपैति निर्भरवहन् पूर्णाकसं विद्युत
> येनोन्मूलितबंध एव भगवानात्मात्मनि स्फूर्जति।।

आत्मस्वभावमास्थित क्षपक कीदृशो भवतीत्याह। हवइ सुही णाणसुक्खेण भवति। कीदृशो भवति। सुखी अनिर्वचनीयसुखसपन्न । केन कृत्वा। ज्ञानसौख्येन भेदज्ञानजनितविविधतराह्लादेन।।९८।।

दुर्धरदु खानि तृणाय मन्यमान स्वात्मानमेवाराधयेति शिक्षा ददन्नाह-

---

प्यास, शीत, उष्ण सम्बन्धी दु ख कुछ भी नहीं है। इस प्रकार की भावना, पुन पुन चिन्तन के सस्कार से भावित क्षपक अथवा 'जन्म-मरण से रहित विशुद्धात्मा मेरे निश्चय नय से कुछ भी दु ख नहीं है', ऐसी भावना से परिणत क्षपक शारीरिक दु खो को कुछ भी नहीं गिनता है। शरीर की ओर लक्ष्य नहीं देता है, निज शुद्धात्मामृत मे लीन रहता है, वह क्षपक अपने शुद्ध स्वभाव को प्राप्त होता है। कहा भी है **समयसार कलश मे अमृतचन्द्राचार्य ने-**

''इस प्रकार जो पुरुष परद्रव्य का और अपने भावो के निमित्त-नैमित्तिकपने का विचार करके तथा समस्त पर-द्रव्य का स्वकीय पराक्रम से त्यागकर और पर-द्रव्य जिसका मूल है ऐसे विविध प्रकार के भावो की परिपाटी को दूरसे एक साथ उखाडने का इच्छुक अतिशय से बहने वाले प्रवाह रूप धारावाही पूर्ण एक सवेदन युक्त अपनी आत्मा को प्राप्त होता है, जिसने कर्मबध को मूल से उखाड दिया है ऐसा यह भगवान आत्मा अपनी आत्मा मे स्फुरायमान होता है।'' अर्थात् जो भव्यात्मा परद्रव्य और स्वकीय विभाव भाव का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध जानकर परद्रव्य का त्याग करता है तब रागादि विभाव भावो की सतति कट जाती है और स्वात्मोपलब्धि की प्राप्ति होती है।

आत्म-स्वभाव में स्थित क्षपक भेद-विज्ञान-जनित विविधतर आह्लाद से अनिर्वचनीय सुख से सम्पन्न होकर ज्ञानसुख से सुखी होता है। अर्थात् बाह्य शारीरिक दु खो का अनुभव न करके स्वकीय स्वभाव मे लीन रहता है वह क्षपक केवलज्ञानमय सुखका भोक्ता बनता है ।।९८।।

हे क्षपक ! दुर्धर दु खो को तृण के समान समझकर अपनी शुद्धात्मा की आराधना करो, इस प्रकार आचार्यदेव शिक्षा देते है-

**भित्तूण रायदोसे छित्तूण य विसयसंभवे सुक्खे।**
**अगणंतो तणुदुक्खं झायस्स णिजप्पयं खवया ॥९९॥**

भित्वा रागद्वेषौ छित्वा च विषयसभवानि सुखानि।
अगणयस्तनुदु ख ध्यायस्व निजात्मान क्षपक ॥९९॥

**खवया** भो क्षपक **झायस्स** ध्यायस्व आराधय। क। **णिजप्पयं** निजात्मान चैतन्यस्वभाव यन्नाम्नैवायमात्मा सुखी भवति। यदुक्तम्-

**नाममात्रकथया परात्मनो भूरिजन्मकृतपापसंक्षयः।**
**बोधवृत्तरुचयस्तु तद्गता. कुर्वते हि जगतां पति नरम् ॥**

कि कृत्वा। **भित्तूण रायदोसे** भित्वा रागद्वेषौ रागद्वेषविरहित एव स्वात्मानमनुभवति। यत उक्तम्-

**रायद्दोसादिहया डहुलिज्जइ णेव जस्स मणसलिल।**
**सो णियतच्चं पिच्छइ णउं पिच्छइ तस्स विवरीओ ॥**

पुन किं विधाय। **छित्तूण य विसयसभवे सुक्खे** विषयेभ्य सभव उत्पत्तिर्येषा तानि विषयसभवसुखानि छित्वा मूलत समुन्मूल्य। यदुक्तम्-

---

**हे क्षपक ! राग- द्वेष का नाश कर, पचेन्द्रिय विषयजनित सुखो का त्याग कर और शारीरिक दुःखों की तरफ लक्ष्य न देकर तू निजात्मा का ध्यान कर ॥९९॥**

हे क्षपक ! जिसके नाम का उच्चारण करने से आत्मा सुखी होता है, उस चैतन्य स्वभाव निज आत्मा की निरन्तर आराधना कर। कहा भी है-

परमात्मा के नाम मात्र की कथा से भव्य प्राणियो के अनेक जन्मो मे उपार्जित किये हुए पाप क्षय हो जाते हैं और परमात्मा के ध्यानगत सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र मानव को जगत् का पति (स्वामी) बना देते हैं।

राग-द्वेष को भेदकर, रागद्वेष से रहित ही आत्मा स्वकीय आत्मा का अनुभव करता है। कहा भी है-

जिनका हृदय रूपी जल राग-द्वेष रूपी वायु से चचल नहीं है, कम्पित नहीं है, वे ही मानव निजतत्त्व (शुद्धात्मतत्त्व) का अवलोकन कर सकते है। जिनका हृदय रागद्वेष से चचल है वे निजतत्त्व का अवलोकन नहीं कर सकते।

विषयो के कारण जिसकी उत्पत्ति होती है वह विषयसभव है। उन विषयो से उत्पन्न सुखो को मूल से उखाडने वाले, उनका त्याग करने वाले ही आत्मा का अनुभव कर सकते है इसलिए इनका परित्याग करना चाहिए। कहा भी है-

**थक्के मणसंकप्पे रुध्दे अक्खाण विसयवावारे।**
**पयडइ बभसरूव अप्पाझाणेण जोईण ॥**

पुन कि कुर्वन् क्षपक । **अगणतो तणुदुक्ख** तनौ शरीरे यानि दु.खानि ज्वरावेशादीनि तानि अगणयन्। अनया भावनया निराकुर्वन्। ता भावनामाह-

**न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।**
**नाहं बालो न वृद्धोऽह युवा चैतानि पुद्गले ॥**

ततो रागादीन् विभावान् मुक्त्वा अनतज्ञानस्वभावे स्वात्मनि निरत क्षपक सुखी भवतीति भावार्थ ॥९९॥

यावत्तपोऽग्निना न तप्त चेतन कार्तस्वर तावत्कर्मकालिमा न मुच्यत इत्याह-

**जाव ण तवग्गितत्तं सदेहमूसाइं णाणपवणेण।**
**ताव ण चत्तकलंकं जीवसुवण्णं खु णिव्वडइ ॥१००॥**

यावन्न तपोग्नितप्त स्वदेहमूषाया ज्ञानपवनेन।
तावन्न त्यक्तकलक जीवसुवर्ण हि निर्व्यक्तीभवति ॥१००॥

---

''इन्द्रियजन्य विषय-व्यापार के रुक जाने पर और मन के सकल्प थक जाने पर, मिट जाने पर, योगी आत्मध्यान से ब्रह्म स्वरूप को प्रगट करता है।''

जो योगी शारीरिक दु खो का अनुभव नहीं करता है वही आत्मा का अनुभव करता है। इसलिए हे क्षपक! शारीरिक दु खो का अनुभव मत करो। **पूज्यपाद** स्वामी के द्वारा **इष्टोपदेश** मे व्यक्त इस भावना से शारीरिक दु खो को जीतने का प्रयत्न करो। वह भावना कहते है-

''जब मेरी मृत्यु ही नहीं है, तो भय कैसे हो सकता है अर्थात् मैं नित्य निरजन हूँ, निश्चय से अजर-अमर हूँ। जब मेरे व्याधि नही है, मै वास्तव मे व्याधिरहित हूँ तो मेरे व्यथा (पीडा) कैसे हो सकती है। न मैं बालक हूँ, न मै वृद्ध हूँ और न मै युवा हूँ, ये सब पुद्गल की पर्याये है।

हे आत्मन् ! इसलिए रागादि विभाव भावो को छोडकर अनन्त ज्ञान स्वरूप अपनी आत्मा मे लीन हो जावो क्योकि आत्मा मे स्थिर होने वाला ही क्षपक सुखी होता है ॥९९॥

जब तक यह आत्मा रूपी सुवर्ण पाषाण तपरूपी अग्नि के द्वारा नहीं तपाया जाता है तब तक कर्मकालिमा से रहित नहीं होता। यह सूचित करते है-

**जब तक ज्ञान रूपी वायु से प्रज्वलित तपरूपी अग्नि के द्वारा देह रूपी मूषामे स्थित जीव रूपी सुवर्ण तपाया नही जाता है तब तक वह कर्म-कालिमा से रहित शुद्ध रूप से प्रकट नही होता ॥१००॥**

**ताव ण णिव्वडइ** तावत्काल तावत काल न निर्व्यक्तीभवति न कर्मकलकात् पृथग्भूत भवति इत्यर्थ । कि तत्। **जीवसुवण्णं** दैदीप्यमानगुणत्वात् जीवसुवर्ण चिदानदकार्तस्वर। कथ। **खु** स्फुट **जाव ण तवग्गितत्तं** यावत्काल न तपोग्नितप्त बाह्याभ्यतररूप तप एव दुस्सहत्वादग्निस्तपोग्निस्तेन तप्त मुहुर्मुहुरावर्तित। कस्यामधिकरणभूताया क्षिप्त जीवसुवर्ण। **सदेहमूसाए** स्वदेहमूषाया स्वस्यात्मनो देह स्वदेह स्वदेह एव मूषा स्वदेहमूषा तस्या स्वदेहमूषाया। केन करणभूतेन। **णाणपवणेण** ज्ञानपवनेन ज्ञान भेदज्ञान तदेव पवनो वायु तेन ज्ञानपवनेन करणभूतेन। कथभूत जीवसुवर्ण **चत्तकलंक** त्यक्त कलक कर्मरूप येन तत् त्यक्त-कलक ज्ञानपवनेन भेदज्ञानपवनेन वर्धमानतेजसा तपोजातवेदसा तप्त देहमूषाया स्थित जीवसुवर्ण कर्मकालिमानमपहाय विशुद्धो भवतीत्यर्थ । यदुक्तम्-

**तपोभिस्ताडिता एव जीवा: शिवसुखस्पृश:,**
**मुशलै: खलु सिद्ध्यंति तंडुलास्ताडिता भृशम्।**
**तप. सर्वाक्षसारंगवशीकरणवागुरा,**
**कषायतापमृद्वीका कर्मजीर्णहरीतकी ।।१००।।**

दु ख देहस्य अह च देहात्मको न भवामीति भावनया दु ख सहस्वेति निर्दिशति-

**णाहं देहो ण मणो ण तेण मे अत्थि इत्थ दुक्खाइं।**
**समभावणाइ जुत्तो विसहसु दुक्खं अहो खवय।।१०१।।**

नाह देहो न मनो न तेन मे अस्ति अत्र दु खानि।
समभावनया युक्त विसहस्व दु खमहो क्षपक।।१०१।।

---

इस गाथा मे आचार्य ने रूपक अलकार मे कथन किया है, सुवर्ण का दृष्टान्त दिया है। जिस प्रकार मूषा (साँचे) मे सुवर्ण पाषाण को डालकर वायु से अग्नि को प्रज्वलित कर यदि नहीं तपाया जाता तो शुद्ध सुवर्ण प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार जब तक स्वदेह रूपी मूषा मे स्थित आत्मा रूपी सुवर्ण पाषाण को ज्ञान रूपी वायु से प्रज्वलित तपरूपी अग्नि से तपाया नहीं जाता है तो यह जीव रूपी सुवर्ण कर्मकलक से रहित शुद्धावस्था को प्राप्त नहीं होता, क्योकि भेदज्ञान रूपी वायु से प्रज्वलित सम्यक् तपरूपी अग्नि मे तप करके ही आत्मा शुद्ध होता है। कहा भी है-

''जैसे मुशल के द्वारा ताडित होकर तन्दुल शुद्ध होता है, अक्षत बनता है, उसी प्रकार तपसे ताडित ही जीव शिवसुख का स्पर्श करने वाला और शुद्ध हो जाता है। यह सम्यक् तप सर्व इन्द्रिय रूपी हरिणी को वश मे करने के लिए जाल है। कषाय रूपी ताप को दूर करने के लिए मृद्वीका (द्राक्षा-दाख) है और कर्म को जीर्ण करने के लिए हरीतकी (हरड) है ।।१००।।

दु ख शरीराश्रित है और मैं शरीरात्मक नहीं हूँ, शरीर मेरा नहीं है, इस प्रकार की भावना के बल से हे क्षपक ! तू दु खो को सहन कर, ऐसा आचार्य निर्देश करते हैं-

''शरीर मेरा नही है, मन भी मेरा नही है इसलिए शारीरिक और मानसिक दु ख भी मेरे नही है।'' हे क्षपक ! इस प्रकार समता भाव से युक्त होकर दु खो को सहन कर ।।१०१।।

विसहस्व विशेषेण सहस्व। किं? दुःखं दुःखम् आधिव्याधिसमुद्भवम्। किं विशिष्टः सन् सहस्व। समभावणाइ जुत्तो युक्तः सहितः समभावनया। तामेव समभावनामाह। णाहं देहो अहं शुद्धद्रव्यार्थिकनयापेक्षया विशुद्धचैतन्यात्मकः अहं कायः औदारिकादिरूपो न भवामि। तथा शुद्धनिश्चयनयेन निर्विकल्पस्वभावरूपो मम मनःस्वरूपं गिरा न भवामि मनो मनसः कायस्याप्यगोचरः। यदुक्तम्-

न विकल्परहितं चिदात्मकं वस्तु जातु मनसोऽपि गोचरः।
कर्मजाश्रितविकल्परूपिणः का कथा तु वचसो जडात्मनः॥

तथाऽहमात्मा ईदृग्विधः-

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः।
अत्यंतसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः॥

तेनैव प्रकारेण इत्थं एतस्मिन् काये व्यवहारनयापेक्षया वसतोऽपि मम निर्मलनिष्कलंकस्वभावस्य दुःखानि जन्मजरामरणरोगरूपाणि न सन्ति इति समभावनापरिणतः क्षपको व्याधिप्रतीकारचिंतनरूपेण आर्तध्यानेन न बाध्यते इति भावार्थः ॥१०१॥

---

मानसिक पीडा को आधि कहते हैं और शारीरिक पीडा को व्याधि कहते हैं। रागद्वेष को अपना मानने से आधि होती है और शरीर को अपना मानने से व्याधि होती है। शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से शुद्ध चैतन्य स्वरूप ज्ञाता द्रष्टा हूँ और शरीर पौद्गलिक जड है अतः मैं शरीर-आत्मक नहीं हूँ। निश्चय नय से मैं निर्विकल्प स्वभावरूप हूँ, राग-द्वेष के कारण होने वाले मानसिक संकल्प-विकल्प मेरा स्वरूप नहीं हैं, ये विभाव भाव हैं, आतमस्वरूप के घातक हैं। मैं तो मन, वचन, काय के अगोचर हूँ। कहा भी है-

"विकल्परहित चिदानन्द स्वरूप जो आत्मवस्तु है, वह आत्मवस्तु कर्म-जन्य विकल्प रूप मन के गोचर नहीं है तो जडात्मक वचन की तो कथा ही क्या करना। वचनगोचर तो आत्मा हो ही नहीं सकती।"

"मैं आत्मा ऐसी हूँ"- आचार्य पूज्यपाद ने कहा है-

स्वसंवेदन से व्यक्त होने वाली है, स्वसंवेदन गोचर है, तनु मात्र (शरीर प्रमाण), अविनाशी, अत्यन्त सौख्यवान और लोक-अलोक को देखने वाली ऐसी आत्मा है। यह मन, वचन के अगोचर है।

ऐसा विचार करके समभाव मे परिणत होकर आधि-व्याधि-जन्य दुःखो को तू सहन कर।

'यद्यपि इस समय व्यवहार नय की अपेक्षा मे इस शरीर मे रह रहा हूँ, तथापि निर्मल निष्कलंक स्वभाव वाले मेरे जन्म-मरणादि रूप रोग, दुःख मेरे नहीं है।' इस प्रकार समभावना से परिणत साधु क्षपक व्याधि के प्रतिकार की चिन्तारूप आर्त्तध्यान के द्वारा बाधित नहीं होता, पीडा-चिन्तन नामक आर्त्तध्यान से युक्त नहीं होता ॥१०१॥

शरीरे रागाद्युद्भवो न पुनर्मम अनतसुखसपत्स्वभावस्य इति भावनापर· क्षपकोस्तीत्यादिशति-

**ण य अत्थि कोवि वाहीण य मरणं अत्थि मे विसुद्धस्स।**
**वाही मरणं काए तम्हा दुक्खं ण मे अत्थि॥१०२॥**

न चास्ति कापि व्याधिर्न च मरण अस्ति मे विशुद्धस्य।
व्याधिर्मरण काये तस्मात् दु ख न मे अस्ति॥१०२॥

**ण य अत्थि कोवि वाही** निरजनशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकस्य मम कापि व्याधिर्नास्ति तथा मम नित्यानदैकस्वभावस्य **ण य मरणं** प्राणत्यागरूप मरण मृत्युरपि नास्ति। कथभूतस्य मम। विशुद्धस्य रागद्वेषमोहाद्युपाधिरहितस्य अथवा वातपित्तश्लेष्मादिदोषरहितस्य। यदि व्याधिमरणमपि परमात्मनि नास्ति तर्हि क्वास्ति। **वाही मरण** व्याधिर्मरण च काये **तम्हा दु:खं ण मे अत्थि** तस्मात्कारणात् दु खादेरभावात् मम अविनश्वरपरमानदमेदुरात्मन दु ख नास्ति। तदुक्त-

**रुग्जरादिविकृतिर्न मेजसा सा तनोरहमित: सदा पृथक्।**
**मेलनेपि सति खे विकारिता जायते न जलदैर्विकारिभि:॥१०२॥**

---

यद्यपि शरीर मे रागादि भावो का उत्पाद है परन्तु अनन्त सुख सम्पन्न मुझ मे किंचित् भी रागादि भाव नहीं है, इस प्रकार की भावना मे तत्पर होने वाला ही क्षपक होता है, ऐसा कहते है-

**विशुद्ध आत्मा वाले मेरे कोई भी व्याधि नही है और मरण भी नहीं है। व्याधि और मरण तो शरीर सम्बन्धी है और मैं शरीर वाला हूँ नहीं, इसलिए मुझे किसी प्रकार का दु:ख भी नही है॥१०२॥**

नित्य निरजन शुद्धात्मा के सम्यक् श्रद्धान, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप निश्चय रत्नत्रय के आराधक मेरे किसी प्रकार की आधि-व्याधि नहीं है।

विशुद्ध राग-द्वेष मोह रूप विभाव भाव की उपाधि से रहित, वात, पित्त, श्लेष्म आदि दोषो मे रहित, नित्य आनन्द एक स्वभाव वाले मेरे प्राणत्याग रूप मरण भी नहीं है। अर्थात् जिन शुद्ध ज्ञान, दर्शन चेतना रूप भावप्राणो से मै जीता हूँ उन प्राणो का नाश होता नहीं है इसलिए मेरा मरण भी नहीं है।

**शका** - यदि व्याधि आदि आत्मा मे नहीं है तो फिर किसमे है? **उत्तर** - यद्यपि शरीर के साथ सयोग रखने वाले आत्मा के शरीर का वियोग होने पर व्यवहार मे मरण कहा जाता है परन्तु निश्चय मे आत्मा का नाश नहीं होने से आत्मा का मरण नहीं है, न आत्मा मे व्याधि है। शरीर सम्बन्धी ममत्व रूप दु ख के कारणों का अभाव होने से अविनाशी परमानन्द से व्याप्त (परिपूर्ण) मेरी आत्मा में कोई दु ख नहीं है। मै तो स्वकीय परमानन्द मे निमग्न हूँ। सो ही कहा है-

"मै शरीर से सदा काल पृथक् (भिन्न) हूँ। इसलिए वास्तव मे रोग, बुढापा आदि विकृति मेरे नहीं है। शरीर का मेरे साथ मिलाप होने पर भी मुझमे कोई विकार उत्पन्न नहीं होता है। क्योंकि विकारी बादलो के द्वारा आकाश मे विकार नहीं होता॥१०२॥

यदि व्याध्यादिक कायस्य तर्हि आत्मा कीदृश इत्याह-

**सुक्खमओ अहमेको सुद्धप्पा णाणदंसणसमग्गो।**
**अण्णे जे परभावा ते सव्वे कम्मणा जणिया।।१०३।।**

सुखमयोऽहमेक शुद्धात्मा ज्ञानदर्शनसमग्र ।
अन्ये ये परभावास्ते सर्वे कर्मणा जनिता ।।१०३।।

**सुक्खमओ** इत्यादि। अनवरतस्यदिसुदरानदमुद्रितामदसुखेन निर्वृत्त सुखमय । अह शरीराधिष्ठितोऽपि आत्मा शुद्धनयापेक्षया परमात्मा। यदुक्तम्-

**य परात्मा स एवाहं योह स परमस्तत ।**
**अहमेव मयोपास्यो नान्य· कश्चिदिति स्थिति ।।**

तथा **एक्को** असहाय रागद्वेषादिद्वितीयरहित **सुद्धप्पा** शुद्धात्मा शुद्धश्चासौ आत्मा च शुद्धात्मा **णाणदसणसमग्गो** ज्ञान च दर्शन च ज्ञानदर्शने ताभ्या समग्र दर्शनज्ञानसमग्र दृशिज्ञप्तिस्वभाव नियतिवृत्ति-रूप । एवभूतात् स्वभावात् येऽन्ये ते परभावा इत्याह **अण्णे जे परभावा** टकोत्कीर्णचित्स्वभावादात्मन सकाशात् येऽन्ये रागद्वेषमोहादय आधिव्याधिमरणादय **ते सव्वे** ते सर्वे परभावा पुद्गलभावा । कि विशिष्टा । **कम्मणो जणिया** कर्मण सकाशादुत्पन्ना । अथवा। कर्मणा करणभूतेन जनिता उत्पादिता । ततोऽहमात्मा केवल सुखस्वभावसपन्नो विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावोस्मीति ध्यानयोगमारूढस्य क्षपकस्य कर्मनिर्जरैव। यदुक्त-

---

यदि व्याधि आदिक शरीर के है तो आत्मा कैसा है, ऐसा पूछने पर कहते है-

**मैं एक सुखमय ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण शुद्धात्मा हूं। शेष सर्व भाव कर्मजनित हैं अत मुझ से भिन्न हैं, परभाव हैं।।१०३।।**

निरन्तर झरते हुए सुन्दर आनन्द से मुद्रित अमद सुखसे निर्वृत्त सुखमय हूं और शरीर में अधिष्ठित होते हुए भी मै शुद्ध नय की अपेक्षा परमात्मा स्वरूप आत्मा हूँ। कहा भी है-

''जो परात्मा है वही मैं हूं और जो मैं हूं वही परमात्मा है। इसलिए निश्चय नय से मैं ही मेरे द्वारा उपासना करने योग्य हूं अर्थात् मैं ही आराध्य हूं और मैं ही आराधक हूं, अन्य कोई मेरा आराध्य नहीं है, ऐसी स्थिति है।''

मैं एक, असहाय, रागद्वेष से रहित, दर्शन और ज्ञान से परिपूर्ण दर्शन-ज्ञान स्वभाव वाला हूं। मेरे इन ज्ञान, दर्शन स्वभाव से अन्य (भिन्न) जो भाव हैं वे सब पर है। क्योकि टकोत्कीर्ण चित्स्वभाव वाली आत्मा से अन्य जो राग-द्वेष-मोहादि भाव हैं और आधि व्याधि मरण आदि भाव हैं, वे पौद्गलिक कर्मजन्य है, कर्मो के सयोग से उत्पन्न हुए हैं इसलिए मेरे नहीं हैं। मैं शुद्धात्मा सुखस्वभाव सम्पन्न, केवल शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव वाला हूँ। ऐसा विचार कर धर्म ध्यान वा शुक्ल ध्यान मे आरूढ क्षपक के निर्जरा ही होती है। **पूज्यपाद स्वामी** ने **इष्टोपदेश** मे कहा है-

परीषहाद्यविज्ञानादास्रवस्य निरोधिनी।
जायते ध्यानयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा॥

पुनरहमात्मा ईदृग्विध इति भावनापर क्षपको भवतादित्यादिशति-

**णिच्चो सुक्खसहावो जरमरणविवज्जिओ सयारूवी।**
**णाणी जम्मणरहिओ इक्कोहं केवलो सुद्धो॥१०४॥**

नित्य सुखस्वभाव जरामरणविवर्जित सदारूपी।
ज्ञानी जन्मरहित एकोह केवल शुद्ध ॥१०४॥

अयमात्मा यद्यपि व्यवहारेण अनित्यस्तथापि शुद्धनिश्चयनयापेक्षया नित्य अविनश्वर । यद्यपि व्यवहारेण अनाद्यशुभकर्मवशात् कदाचिद्दु खी शुभकर्मवशात्कदाचित्सुखी तथापि शुद्धद्रव्यार्थिकनयापेक्षया सुखसद्भाव· परमानदमेदुरानतसुखस्वरूप , यद्यपि व्यवहारेण पचप्रकारशरीराश्रितत्वात् जरामरणाक्रात तथापि निश्चयनयेन जरामरणविवर्जित । यद्यपि अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण स्पर्शरसगधवर्णवत्पुद्गलाश्रितत्वात् मूर्तस्वरूप गौरकृष्णादिरूपोपेत तथापि शुद्धनयापेक्षया अरूपी रूपवर्जित । यद्यपि व्यवहारेण

---

''परीषहादि से होने वाले दु खो का अनुभव नहीं करने वाले योगी के ध्यान के योग से शीघ्र ही आस्रव का निरोध करने वाली (सवरपूर्वक) कर्मो की निर्जरा होती है। अर्थात् जो क्षपक शारीरिक और मानसिक दु खो का अनुभव न करके ध्यान के योग से स्वकीय शुद्धात्मा का अनुभव करता है उसके सवर पूर्वक कर्मों की निर्जरा होती है'' ॥१०३॥

'मेरी आत्मा ऐसी है, इस प्रकार की भावना करने वाला ही क्षपक होता है', ऐसा कथन करते है-

**''मैं नित्य हूँ, अनन्त सुख स्वरूप हूँ, सुख स्वभाव वाला हूँ, जरा (बुढापा) और मरण से रहित हूँ। सदा अरूपी हूँ, ज्ञानी हूँ, जन्म से रहित हूँ। एक हूँ, केवल (केवलज्ञान स्वरूप) हूँ और शुद्ध हूँ।'' ऐसी भावना करने वाला क्षपक होता है॥१०४॥**

यह आत्मा यद्यपि व्यवहार नय से अनित्य है, तथापि शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा नित्य है, अविनश्वर है।

यद्यपि यह आत्मा व्यवहार नय से अनादिकालीन अशुभ कर्म के उदय से कदाचित् दु खी होता है और शुभ कर्म के उदय से कदाचित् सुखी होता है, तथापि शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा सुख स्वरूप है, परमानन्द से भरित अवस्था रूप अनन्त सुख स्वरूप है।

यद्यपि यह आत्मा व्यवहार नय से पॉच प्रकार के शरीर (औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्माण) के आश्रित वा युक्त होने से जरा और मरण से आक्रान्त है तथापि निश्चय नय की अपेक्षा जरा एव मरण से रहित है।

मतिश्रुतज्ञानाद्युपेतत्वात् ज्ञानी तथापि निश्चयनयापेक्षया केवलज्ञानस्वभावत्वात् ज्ञानी। यद्यपि व्यवहारेण चतुरशीतिलक्षयोनिषु गृहीत-जन्मत्वाज्जन्मी तथापि शुद्धनिश्चयनयादजन्मा। यद्यपि व्यवहारेण सुर-नरादिभेदादनेकस्तथापि निश्चयेन टकोत्कीर्णचित्स्वभावत्वादेक । यद्यपि व्यवहारेण ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मसयोगादकेवल तथापि द्रव्यार्थिकनयापेक्षया केवल । यद्यपि व्यवहारेण रागाद्युपाधिसयोगादशुद्ध तथापि शुद्धद्रव्यार्थिकनयापेक्षया शुद्ध ॥ यदुक्तम्-

नो शून्यो न जडो न भूतजनितो नो कर्तृभावं गतो,
नैको न क्षणिको न विश्वविततो नित्यो न चैकांतत·।
आत्मा कायमितिश्चिदेकनिलय· कर्ता च भोक्ता स्वयं,
संयुक्त. स्थिरताविनाशजननै· प्रत्येकमेक: क्षणे ॥

इति भावनापरिणतस्त्वमात्मानमेव तनो सकाशान्निस्सारयेति शिक्षयति-

**इयभावणाइं जुत्तो अवगण्णिय देहदुक्खसंघायं।**
**जीवो देहाउ तुमं कड्ढसु खग्गुव्व कोसाओ ॥१०५॥**

यद्यपि यह आत्मा अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा स्पर्श, रस, गध और वर्ण वाले पुद्गल कर्म के द्वारा बँधा हुआ होने से मूर्त्तिक है, गौरा, काला आदि रूप से युक्त है, तथापि शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा अरूपी रूप-रसादि से रहित होने से अमूर्त्तिक है।

यद्यपि यह आत्मा व्यवहार नय से मति, श्रुत, ज्ञान स्वभाव वाला होने से ज्ञानी है परन्तु निश्चय नय से केवलज्ञानस्वभाव वाला होने से ज्ञानी है। यद्यपि व्यवहार नय से चौरासी लाख योनियो में जन्म लेने वाला होने से जन्मी है, जन्म लेने वाला है परन्तु शुद्ध निश्चय नय से यह आत्मा जन्मरहित होने से अजन्मा है।

यद्यपि यह आत्मा व्यवहार नय से सुर-नरादि पर्यायो की अपेक्षा अनेक रूप है, तथापि शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा टकोत्कीर्ण एक चित्स्वभाव वाला होने से एक स्वरूप है। यद्यपि यह आत्मा व्यवहार नय से ज्ञानावरणादिं द्रव्य कर्म के सयोग से अकेवल है (दूसरो के आश्रित है) तथापि द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा केवल (असहाय) है। यद्यपि यह आत्मा व्यवहार नय से रागादि उपाधि के सयोग से अशुद्ध है तथापि शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा शुद्ध है। कहा भी है-

एकान्त से यह आत्मा न शून्य है, न जड है, न पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार भूत जनित है, न कर्त्ता भाव को प्राप्त है, न एक है, न क्षणिक है, न सारे लोकाकाश में व्याप्त है, न नित्य है, परन्तु कथचित् यह आत्मा शरीरप्रमाण है, चैतन्यस्वरूप एक निलय है। कर्त्ता भी है, स्वय भोक्ता भी है। एक है, अद्वितीय है, प्रत्येक क्षण मे एक साथ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है। अर्थात् प्रत्येक समय आत्मा उत्पाद, व्यय ओर ध्रौव्य रूप है ॥१०४॥

इस प्रकार की भावना वाला ही हे क्षपक ! तू स्वकीय शरीर से आत्मा को पृथक् कर सकता है। उसकी शिक्षा देते हैं-

''इस प्रकार की भावना मे युक्त हे क्षपक ! शरीर सम्बन्धी दु.खो के समूह का अनुभव नहीं करके, जीव को शरीर से पृथक् कर, जैसे म्यान से तलवार को पृथक् करते हैं ॥१०५॥

इति भावनया युक्त अवगणय्य देहदु खसघातम्।
जीव देहात्त्व निष्कासय खड्गमिव कोशात्॥१०५॥

हे क्षपक **तुमं** त्व **कड्ढसु** निस्सारय। क। जीवो जीव। अत्र कर्मणि प्रथमा न युक्तेत्यार्षत्वाददोष । कीदृशस्त्व इतिभावनायुक्त॰, अह देहात्मको व्याध्याधिनिष्पीतसारो न भवामि किंतु परमानदसाद्र शुद्धश्चिदेवास्मि इत्येवरूपभावनया सयुक्त स्वात्मान शरीरान्निष्काशय। कि कृत्वा पूर्व। **अवगण्णिय देहदुक्खसंघायं** अवगण्य। क। देहदु खसघात देहे शरीरे यानि ज्वरावेशातिसारोद्भवानि दु खानि तेषा सघात समूह देहदु खसघात त देहदु खसघात। कमिव विग्रहाच्चेतन पृथक् कुरु। **खग्गुव्व कोसाओ** खड्गमिव कोशात् असिमिव कोशात् खड्गपिधानकात् प्रत्याकारात्। यदुक्तम्-

**शरीरत: कर्तुमनतशक्ति विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम्।**
**जिनेद्रकोशादिव खड्गयष्टि तव प्रसादेन ममास्तु शक्ति:॥१०५॥**

पुन शिक्षा प्रयच्छन्नाह-

**हणिऊण अट्टरुद्दे अप्पा परमप्पयम्मि ठविऊण।**
**भावियसहाउ जीवो कड्ढसु देहाउ मलमुत्तो॥१०६॥**

हत्त्वार्तरौद्रौ आत्मान परमात्मनि स्थापयित्वा।
भावितस्वभाव जीव निष्काशय देहात् मलमुक्तम्॥१०६॥

---

हे क्षपक ! "आधि-व्याधियो के आस्पद् शरीर रूप मै नहीं हूँ, परन्तु परमानन्द से भरित शुद्ध चैतन्य स्वरूप हूँ।" इस प्रकार की भावना से स्वकीय आनन्द मे मग्न होकर शरीर के सम्बन्ध से उत्पन्न ज्वर, अतिसार, भूख-प्यास, शीत, उष्ण आदि दु खो का अनुभव मत करो। स्वकीय ज्ञानोपयोग को शरीर मे मत लगाओ। आत्मानुभव के बल से स्वकीय आत्मा को शरीर से निकालो। शरीर से पृथक् अनुभव कर शरीर से पृथक् करने की चेष्टा करो। जिस प्रकार म्यान और तलवार पृथक्-पृथक् है उसी प्रकार आत्मा और शरीर पृथक्-पृथक् है, ऐसा विचार कर शरीर से भिन्न आत्मा का अनुभव करो।

अमितगति आचार्य ने कहा है-

"हे जिनेन्द्रदेव ! आपके प्रसाद से म्यान से तलवार के समान, रागादि दोष से रहित, अनन्त शक्ति शाली स्वकीय आत्मा को शरीर से पृथक् करने की शक्ति मुझे प्राप्त हो। अर्थात् हे भगवन् ! आपके प्रसाद से मैं शरीर से आत्मा को पृथक् कर सकूँ, मुझे ऐसी शक्ति प्राप्त हो" ॥१०५॥

पुन शिक्षा देते हुए आचार्य कहते है-

**हे भावित स्वभाव वाले क्षपक ! आर्त्त-रौद्र ध्यान को छोडकर और अपनी आत्मा को परमात्मा मे स्थापित करके अपनी निर्मल आत्मा को शरीर से पृथक् करो यानी शरीर से पृथक् अनुभव करो ॥१०६॥**

भावित स्वभावित पुन पुनर्भावनया स्वायत्तीकृत सहजशुद्ध-स्वभाव आत्मभावो येन स भावितस्वभाव तस्य सबोधन भो भावितस्वभाव क्षपक **कङ्क्सु** निस्सारय परलोक प्रापय। क। जीव स्वात्मान। कस्मात् देहाउ देहात् शरीरात् विग्रहात्। किंकृत्वा पूर्वं। **हणिऊण** हत्वा मूलत समुन्मूल्य। कौ। **अट्टरुद्दे** आर्तश्च रौद्रश्च आर्तरौद्रौ। पुन किं कृत्वा। **अप्पा परमप्पयम्मि ठविऊण** स्वात्मान परमात्मनि स्थापयित्वा स्वात्मन परमात्मनि स्थितीकरण सोऽहमिति सस्कार एव। यदुक्तम्-

**सोहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुन.।**
**तत्रैव दृढसस्काराल्लभते ह्यात्मन: स्थितिम्॥**

यस्मान्निर्धूतार्तरौद्रदुर्ध्यान परमात्मज्ञानसपन्न अत एव क्षपक कलकमुक्त बाह्याभ्यतरपरिग्रहादिमलोज्झित· एतादृग्गुणोपेत क्षपको निश्चित सुगतिमात्मान तच्चतुर्विधाराधनासामर्थ्यान्नयतीति भावार्थ ॥१०६॥

काललब्धिवशादाराधनाधीना भव्यास्तस्मिन्नेव भवातरे सिद्ध्यतीत्याह-

**कालाई लहिऊणं छित्तूण य अट्ठकम्मसंखलयं।**
**केवलणाणपहाणा भविया सिज्झंति तम्मि भवे॥१०७॥**

कालादि लब्ध्वा छित्वा च अष्टकर्मशृखलाम्।
केवलज्ञानप्रधाना भव्या सिध्यति तस्मिन् भवे॥१०७॥

---

जिसने बार-बार स्वकीय शुद्धात्मा की भावना से अपने आपको स्थिर किया है, स्वभाव में स्थिर होने का प्रयत्न किया है उसे भावित-स्वभावित कहते हैं। सम्बोधन मे हे भावितस्वभाव क्षपक! आर्त्त, रौद्र ध्यान को मूल से उखाडकर फेक दो और अपनी आत्मा को अपनी आत्मा में स्थिर करो। अपनी आत्मा को आत्मा मे स्थिर करने का उपाय 'सोह' जो परमात्मा है, वही मैं हूँ, यह सस्कार ही है। पूज्यपाद स्वामी ने समाधिशतक मे कहा है- 'मै परमात्मा-स्वरूप हूँ' उसी मे पुन पुन भावना है, ऐसी भावनासे सस्कार दृढ होता है और उसी दृढ सस्कार से आत्मा आत्मस्थिति को प्राप्त करता है। अर्थात् मै परमात्मा-स्वरूप हूँ' इस प्रकार की भावना से जो दृढ सस्कार होता है, वही अपने स्वरूप मे स्थिति का कारण है। इसलिए मै अर्हन्त स्वरूप हूँ ऐसी निरन्तर भावना करनी चाहिए।

जिसने आर्त्त रौद्र ध्यान का नाश कर दिया है, जो परमात्मज्ञान सम्पन्न है, ऐसा क्षपक कलक से रहित बाह्य अभ्यन्तर परिग्रह लक्षण मल से रहित, आदि गुणो से युक्त होकर चार प्रकार की आराधना के सामर्थ्य से अपनी आत्मा को सुगति में ले जाता है। ऐसा भावार्थ समझना चाहिए॥१०६॥

चार प्रकार की आराधना के आराधक भव्य क्षपक काललब्धि के बल से उसी भव मे वा एक-दो भव में सिद्ध हो जाते है, सो कहते है-

**चार प्रकार की आराधना के आराधक क्षपक काललब्धि को प्राप्त कर, आठ कर्मों की शृखला को छेदकर केवलज्ञान प्राप्तकर उसी भव मे मोक्ष मे चले जाते हैं॥१०७॥**

**सिज्झति** सिध्यति। के। **भविया** भव्या आसन्नभव्या। कदा। तस्मिन् भवे तस्मिन्नेव भवातरे वर्तमानशरीराधिष्ठाना भव्यात्मन सिद्धि साधयतीत्यर्थ । कि कृत्वा। **कालाई लहिऊणं** कालादिक लब्ध्वा द्रव्यक्षेत्रकालभवभावलक्षणा सामग्री प्राप्य॥ यदुक्तम्-

**योग्योपादानयोगेन दृषद स्वर्णता मता।**
**द्रव्यादिस्वादिसंपत्तावात्मनोप्यात्मता मता॥**

पुन कि कृत्वा। **छित्तूण य अट्ठकम्मसंखलयं** छित्वा। का। अष्ट-कर्मशृखला अष्टकर्माण्येवातिदृढत्वात् शृखला अष्टकर्मशृखला ता अष्टकर्मशृखला सत सिद्ध्यति **केवलणाणपहाणा** केवल च तज्ज्ञान च केवलज्ञान तेन प्रधाना सयुक्ता एवभूता सत केचित्तस्मिन्नेव भवातरे निश्चयाराध-नामहिमकमलालिगिता मुक्तिकातासुख निर्विशति॥१०७॥

आराधनाराधका उद्वृत्यपुण्यप्रकृतय सर्वार्थसिद्धिगामिनो भवतीत्याह-

**आराहिऊण केई चउव्विहाराहणाइं जं सारं।**
**उव्वरियसेसपुण्णा सव्वट्ठणिवासिणो हुंति॥१०८॥**

आराध्य केचित् चतुर्विधाराधनाया य सार।
उद्वृत्तशेषपुण्या सर्वार्थनिवासिनो भवन्ति॥१०८॥

---

मोक्षप्राप्ति मे द्रव्य, क्षेत्र, काल भव और भाव ये पॉच कालादिक कहलाते है।

वज्रवृषभनाराच सहनन को द्रव्य कहते है। कर्मभूमि क्षेत्र कहलाते है। चतुर्थकाल काल है। मानुष भव भव है और निर्विकल्प समाधि भाव है। इन द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप पॉच प्रकार की सामग्री की प्राप्ति को कालादि सामग्री कहते है।

आसन्नभव्यात्मा कालादि सामग्री को प्राप्त कर चार प्रकार की आराधना के बल से इसी भव मे वर्त्तमान शरीर से ही मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव रूप सामग्री की प्राप्ति मोक्ष मे कारण है। **पूज्यपाद स्वामी** ने इष्टोपदेश मे कहा है-

"जिस प्रकार योग्य (निमित्त) और उपादान के कारण पत्थर (सुवर्ण पाषाण) सुवर्ण बन जाता है, उसी प्रकार द्रव्यादि (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव), स्वादि (स्वकीय भाव) सपत्ति को प्राप्त करके आत्मा आत्मता को प्राप्त हो जाता है।

इन पॉच प्रकार की सामग्री को प्राप्त कर यह जीव आठ प्रकार की कर्मशृखला को तोड देता है और केवल-ज्ञान प्रधान है जिसमे ऐसे गुणो को प्राप्त कर उसी भव मे अथवा दो-तीन भव मे मोक्ष मे चला जाता है, सिद्ध हो जाता है। निश्चय आराधना रूप गौरवपूर्ण कमला (लक्ष्मी) से आलिंगित मुक्तिकाता के सुख को प्राप्त होते हैं॥१०७॥

आराधना के आराधक महान् पुण्य प्रकृति बॉधकर सर्वार्थसिद्धिगामी होते हैं। सो कहते हैं-

**कोई भव्य चार प्रकार की आराधना के सार का आराधन करके शेष पुण्य के फल स्वरूप सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त होते है॥१०८॥**

हुंति भवति। **केई** केचित् अनुद्भूतपुण्यप्रकृतय । कीदृशा भवति। **सव्वट्ठणिवासिणो** सर्वार्थसिद्धौ निवसतीत्येवशीला सर्वार्थसिद्धिनिवासिन कालादिसामग्रीमपेक्ष्यमाणा सर्वार्थसिद्धिमाश्रित्य तिष्ठतीत्यर्थ । सर्वार्थसिद्धिगमनकारणमाह। कि विशिष्टा केचित्। **उव्वरियसेसपुण्णा** उद्वृत्ता अनच्छन्ना शेषा अविशिष्टा पुण्यापुण्यप्रकृतयो येषा येषु वा उद्वृत्तशेषपुण्या । कि कृत्वा सर्वार्थसिद्धिनिवासिनो भवति। **आराहिऊण** सम्यगाराध्य। किमाराध्य। **चउव्विहाराहणाइं ज सार** चतुर्विधाराधनाया य सार चतुर्विधाराधनासु मध्ये य सार शुद्धबुद्धैकस्वभाव परमात्मा त चतुर्विधाराधनाया सार स्वस्वरूपलक्षणमाराध्य पचलब्धिसामग्री-अभावात् सर्वार्थसिद्धिनिवासिनो भवति केचिदित्यर्थ ॥१०८॥

ये जघन्या आराधकास्तेप्याराधनासामर्थ्यात् कियत्स्वपि भवेष्वतीतेषु मोक्षमासादयतीति व्यनक्ति-

**जेसिं हुंति जहण्णा चउव्विहाराहणा हु खवयाणं।**
**सत्तट्ठभवे गंतुं तेवि य पावंति णिव्वाणं॥१०९॥**

येषा भवति जघन्या चतुर्विधाराधना हि क्षपकानाम्।
सप्ताष्टभवान् गत्वा तेपि च प्राप्नुवति निर्वाणम्॥१०९॥

**पावति** प्राप्नुवति लभते। के। **तेवि य** तेपि च। किं प्राप्नुवति। **णिव्वाणं** निर्वाण शाश्वतानदस्थान। कि कृत्वा प्राप्नुवति। **सत्तट्ठभवे गंतुं** सप्तभवान् अष्टसख्याकान् वा भवान् भवातराणि गत्वा अतिक्रम्य गत्वेति क्त्वाप्रत्ययात । सप्ताष्टभवातरेष्वतीतेषु मोक्षमक्षयसुखमासादयतीत्यर्थ । ते के इत्याह। **जेसि हुंति जहण्णा**

---

कोई भव्यात्मा क्षपक चार प्रकार की आराधना के सार-शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव परमात्मा की आराधना करके-द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप पॉच प्रकार की विकलता होने से पूर्ण रूप से पुण्य-पाप रूप कर्म प्रकृतियो का नाश करने मे असमर्थ होने से तथा पुण्य प्रकृति का अनुभाग विशेष होनेसे सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त होते हैं। अर्थात् कालादि सामग्री के अभाव मे सर्वार्थसिद्धि मे काल व्यतीत करते है, दूसरे भव मे मोक्ष जाते हैं॥१०८॥

जो भव्य जीव उत्कृष्ट रूप से आराधना की आराधना करते है, वे उसी भव से मोक्ष चले जाते हैं, कर्मबन्ध के जाल को काटकर उसी भव से मुक्ति-रमापति बन जाते है और जो मध्यम रूप से आराधना करते है वे सर्वार्थसिद्धि मे जाकर दूसरे भवमे मोक्ष जाते है परन्तु जो साधक जघन्य रूप से आराधना करते हैं वे आराधना के सामर्थ्य से कितने भव व्यतीत करके मोक्ष मे जाते हैं, ऐसा पूछने पर आचार्य कहते है-

**जिन भव्यात्मा क्षपको की चार प्रकार की आराधना जघन्य होती है वे सात-आठ भव में निर्वाण को प्राप्त कर लेते है॥१०९॥**

जिन क्षपको की आराधना जघन्य होती है वे सात वा आठ भव के व्यतीत होने पर शाश्वत आनन्द के स्थान अक्षय मोक्ष सुखको प्राप्त कर लेते हैं।

**चउव्विहाराहणाहु** हु स्फुट येषा क्षपकाना चतुर्विधा आराधना जघन्या भवति। तथाहि-ये खलु मनश्चाचल्यात्सहजशुद्धचिदानदात्मनि स्वात्मनि स्थितिमल्पतरामासादयति व्यवहारपरमार्थरूपेषु दर्शनज्ञानचारित्रतप स्वपि मनोवचनकायसामर्थ्यरहितत्वात्सम्यगाराधना नाचरति तेपि जघन्या आराधकास्त्रिचतुरेषु भवातरेषु अतीतेषु मोक्षमक्षयसुखमुपलभते अतएवाराधनैव मोक्ष करोतीति भावार्थ ॥१०९॥

व्यवहारनिश्चयाराधनोपयोगभाज शुभकर्मोत्पादितस्वैरैश्वर्यादिफलमनुभूय कमनीयमुक्तिकामुका भवतीत्याह-

**उत्तमदेवमणुस्से सुक्खाइं अणोवमाइं भुत्तूण।**
**आराहणउवजुत्ता भविया सिज्झंति झाणट्ठा ॥११०॥**

उत्तमदेवमानुषेषु सुखान्यनुपमानि भुक्त्वा।
आराधनोपयुक्ता भव्या सिध्यति ध्यानस्था ॥११०॥

**सिज्झति** सिध्यति। के। **भविया** भव्या । कि कृत्वा। **भुत्तूण** भुक्त्वा अनुभूय। कानि। सुखानि। कथभूतानि सुखानि। **अणोवमाइं** अनुपमानि उपमारहितानि। यदुक्तम्-

**हृषीकजमनातंक दीर्घकालोपलालितम्।**
**नाके नाकौकसा सौख्यं नाके नाकौकसामिव॥**

---

जो क्षपक मानसिक चचलता के कारण सहज शुद्ध चिदानन्द स्वरूप अपनी आत्मा मे स्थिर रहने मे समर्थ नहीं हैं, बहुत कम काल तक स्थिर रह पाते हैं, व्यवहार रत्नत्रय और परमार्थ रत्नत्रय वा दर्शन ज्ञान, चारित्र और तपरूप आराधना मे मन, वचन और काय का सामर्थ्य नहीं होने से सम्यक् प्रकार से आराधना की आराधना नहीं कर सकते, उनके जघन्य आराधना होती है। उस जघन्य आराधना के आराधक पुरुष तीन-चार भव मे अक्षय सुख के आस्पद मोक्ष को प्राप्त करते हैं। इसलिए आराधना ही मोक्ष का कारण हे, ऐसा समझना चाहिए॥१०९॥

अब व्यवहार और निश्चय आराधना मे उपयोग लगाने वाले क्षपक शुभ कर्मो के कारण उत्पन्न (प्राप्त) स्वर्ग के ऐश्वर्य आदि फल का अनुभव करके कमनीय (सुन्दर) मुक्ति रूपी स्त्री के बल्लभ (पति) होते हैं, सो कहते हैं-

**आराधना मे उपयुक्त भव्य पुरुष उत्तम देव और मनुष्य सम्बन्धी अनुपम सुखो को भोगकर ध्यानस्थ होकर मुक्ति को प्राप्त करते है॥११०॥**

आराधक स्वर्ग में अनुपम सुखों का अनुभव करता है। स्वर्ग के सुख उपमा रहित हैं इसलिए अनुपम हैं। **पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश मे कहा है-**

"देवो को स्वर्ग में जो इन्द्रियजन्य सुख है वह दीर्घकाल तक रहने वाला है और रोगो की बाधा रहित है। स्वर्ग के देवों का सुख स्वर्ग के देवो के सुख समान है, उसकी उपमा का ससार मे दूसरा सुख नहीं है इसलिए वह अनुपम है।"

**क्व। उत्तमदेवमणुस्से** उत्तमदेवमानुषे उत्तमदेवत्व इद्रादिपदप्राप्तिलक्षण उत्तममानुषत्व चक्रवर्तिपदवी उत्तमदेवश्च उत्तममानुषश्च उत्तमदेवमानुषस्तस्मिन् उत्तमदेवमानुषे चक्रित्वत्रिदशेद्रतादिपदवीमनुभूय तदनु सिद्धिसुखभाजो भवतीत्यर्थ । के सिद्ध्यति। **आराहणउवजुत्ता** आराधनोपयुक्ता तथा **झाणत्था** ध्यानस्था ध्याने तिष्ठतीति ध्यानस्था धर्मशुक्लादिध्यानभाज । तथाहि। बाह्याभ्यतरपरिग्रहपरित्यागमाधाय गृहीतसन्यास निर्मलतरसमयसारसरणिपरिणतात करण निश्चयव्यवहाराराधनोपयोगयोगी वर्धमानपुण्यप्रकृत्युदयजनित-स्वरैश्वर्यादिकमनुभूय भव्यात्मा सिध्यतीत्यसदेहमिति ॥११०॥

अतितपश्चरणादिक कुर्वाणोपि स्वात्मध्यानबहिर्भूतो मोक्षभाग् न भवतीत्युपदिशति-

**अइ कुणउ तवं पालेउ संजमं पढउ सयलसत्थाइं।**
**जाम ण झावइ अप्पा ताम ण मोक्खो जिणो भणइ।१११॥**

अति करोतु तप पालयतु सयम पठतु सकलशास्त्राणि।
यावन्न ध्यायत्यात्मान तावन्न मोक्षो जिनो भणति ॥१११॥

**अइ कुणउ** करोतु अनुचरतु। कोसौ। प्राणी। कि तत्। **तव** तप पक्षे उपवासादिक। कथ। अतीव उग्रोग्र तथा **पालेउ** प्रतिपालयतु। क। **सजमं** इद्रियादिसयम। तथा **पढउ** पठतु अधीता। कानि। **सयलसत्थाइं** सकलानि च तानि शास्त्राणि सकलशास्त्राणि व्याकरण-छदोलकारतर्कसिद्धातादीनि पर **जाम**

---

जो भव्यात्मा क्षपक, चार प्रकार की आराधना मे लीन होते है, धर्मध्यान वा शुक्लध्यान मे स्थित होते हैं वे क्षपक चक्रिपदत्व आदि मानव भव के और इन्द्रत्व आदि देवो के उत्तम-अनुपम सुखो को भोगकर मोक्षपद को प्राप्त करते है। तथाहि, बाह्य एव अभ्यन्तर परिग्रह का त्याग कर जिसने सन्यास ग्रहण किया है, जिसका हृदय निर्मलतर समयसार रूपी नदी मे (नदी के जल मे) परिणत है, लीन है, निश्चय और व्यवहार आराधना मे उपयुक्त है योग (मन-वचन-काय) जिसका ऐसा योगी, वर्धमान पुण्य प्रकृति के अनुभाग के फलस्वरूप स्वर्ग के वा मानव के ऐश्वर्य का अनुभव करके, उनको भोग करके मुक्तिपद को प्राप्त करता है, इसमे सशय नहीं है॥११०॥

अतितीव्र तपश्चरण करता हुआ भी जो क्षपक स्वात्मध्यान से बहिर्भूत है वह मोक्ष का भागी (मोक्षगामी) नहीं होता है, ऐसा उपदेश देते है-

**जो प्राणी घोर तपश्चरण करते हैं, उत्कृष्ट सयम का पालन करते हैं और सकल शास्त्रो को भी पढते है परन्तु जब तक स्वकीय आत्मा का ध्यान नही करते है तब तक मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते, ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है॥१११॥**

जो क्षपक मास, दो मास आदि उपवास करके घोर तपश्चरण करता हो आतापन आदि योग धारण कर उग्र तप तपता हो, प्राणी सयम, इन्द्रिय सयम का पालन करता हो और तर्क, छन्द, व्याकरण, अलकार, सिद्धान्त आदि सारे ग्रन्थो का पठन-पाठन करता हो परन्तु जब तक अपनी आत्मा का ध्यान नहीं

**ण झायइ अप्पा** यावत्काल चैतन्यात्मान न ध्यायति भेदज्ञानेन कायादिभ्य पृथगवबुध्य स्वसवेदनेन यावन्न सवेदयति तावत्तस्य प्राणिन क्षपकस्य मोक्षो नास्ति। को नाम एवमाचष्टे। **जिणो भणइ** निखिलार्थसार्थसाक्षात्कारी केवली जिन भणति कथयति। उक्त च-

**पदमिदं ननु कर्म दुरासद सहजबोधकला सुलभं किल।**
**तत इद निजबोधकलाबलात्कलयितुं यतता सततं जगत्।।**
**यो न वेत्ति परं देहे देवमात्मानमव्ययम्।**
**लभते न स निर्वाणं तप्त्वापि परमं तप: ।।**

एवविध विदधाना भव्यात्मानोऽवश्य मुक्तिभाजो भवतीति निगदति-

**चइऊण सव्वसंगं लिंगं धरिऊण जिणवरिंदाणं।**
**अप्पाणं झाऊणं भविया सिज्झंति णियमेण।।११२।।**

त्यक्त्वा सर्वसग लिग धृत्वा जिनवरेद्राणाम्।
आत्मान ध्यात्वा भव्या सिध्यति नियमेन।।११२।।

**सिज्झंति** सिध्यति सिद्धि साधयति। के। **भविया** भव्यात्मान । कथ सिध्यति। **णियमेण** निश्चयेन। किकृत्वा। **चइऊण सव्वसंग** सग परिग्रहो **बाह्याभ्यंतररूप.**। तत्र बाह्यो दशविध । यदुक्तम्-

---

करता है, भेदविज्ञान के द्वारा अपनी आत्मा को शरीर से पृथक् (भिन्न) जानकर सवेदन ज्ञान के द्वारा अपनी आत्मा का सवेदन नही करता है, तब तक उस क्षपक को मुक्ति की प्राप्ति नही होती है। ऐसा सारे जगत् को साक्षात् जानने-देखने वाले भगवान ने कहा है। कहा भी है-

निश्चय से कर्मो से दुरासद यह निजपद (आत्मपद) सहज बोधकला से सुलभ है, अर्थात् ज्ञान के द्वारा यह आत्मस्वभाव सहज प्राप्त हो सकता है अत यह सारा जगत् स्वकीय बोधकला (स्वसवेदन ज्ञान रूपी कला) के बल से इस स्वकीय पद (स्वरूप) को जानने का प्रयत्न करे , अन्यथा मुक्ति की प्राप्ति नहीं होगी। **पूज्यपाद स्वामी** ने भी कहा है-

जो प्राणी स्वकीय शरीर मे अव्यय (अविनाशी) आत्मा रूपी परम देव को नहीं जानता है, अपने शरीर मे अपनी आत्मा का अवलोकन नहीं करता है वह घोर तपश्चरण करके भी निर्वाण पद को प्राप्त नही कर सकता है ।।१११।।

ऐसी अवस्था को धारण करने वाला क्षपक ही मोक्षभागी होता है, सो कहते हैं-

**सर्व परिग्रह का त्याग कर, जिनेन्द्र के लिग को धारण कर और स्वकीय आत्मा का ध्यान करके ही नियम से (निश्चय से) भव्यात्मा मोक्ष को प्राप्त करता है।।११२।।**

**क्षेत्रं वास्तु धन धान्यं द्विपदं च चतुष्पदम्।**
**आसन शयनं कुप्यं भांडं चेति बहिर्दश।।**

अभ्यतरश्च परिग्रहश्चतुर्दशभेदभिन्न । यदुक्तम्-

**मिथ्यात्ववेदरागाहासप्रमुखास्तथा च षड् दोषा:।**
**चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यंतरा ग्रथा ।।**

इत्येव लक्षण सर्वपरिग्रह **चइऊणं** त्यक्त्वा विमुच्य। न केवल सगत्यक्त्वा। तथा **लिग धरिऊण जिणवरिंदाण** जिनेद्राणा लिंग नग्नतादिलक्षण धृत्वा सम्यक् प्रकारेण स्वात्मनि जिनदीक्षामारोप्येत्यर्थ । **यद्यपि** लिंग जात्यादिविकलो निश्चयनयापेक्षया मोक्षहेतुर्न भवति। यदुक्तम्-

**लिगं देहाश्रित दृष्टं देह एवात्मनो भव.।**
**न मुच्यंते भवात्तस्माद्ये ते लिगकृताग्रहा.।।**

तथापि व्यवहारेण जिनलिग मोक्षाय भवति। तथा **अप्पाणं झाऊण** आत्मान च ध्यात्वा। यदुक्तम्-

---

अतरग और बहिरग के भेद से परिग्रह दो प्रकार का है। बहिरग परिग्रह क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, आसन, शयन, कुप्य और भाण्ड के भेद से दस प्रकार का है। जिसमे खेती की जाती है उसको **क्षेत्र** कहते है। घर को **वास्तु** कहते है। सोना-चॉदी, हीरा-पन्ना आदि को **धन** कहते हैं। गेहूँ, चावल, मूग आदि को **धान्य** कहते है। दासी-दास **द्विपद** कहलाते हैं। गाय, भैस आदि **चतुष्पद** कहलाते हैं। बैठने के चौकी पाटा आदि **आसन**, जिस पर सोया जाता है वह **शयन** कहलाता है, वस्त्रादि **कुप्य** कहलाते है और बर्त्तन आदि **भाण्ड** कहलाते है। ये दश प्रकार के बाह्य परिग्रह है।

अभ्यन्तर परिग्रह भी चौदह प्रकार का है- हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, तीन वेद, मिथ्यात्व और चार कषाय ये १४ अतरग परिग्रह है।

इन चौदह प्रकार के परिग्रह का त्याग करके और जिनेन्द्र भगवान के स्वरूप निर्ग्रन्थ लिंग को धारण करके, स्वकीय आत्मा मे जिनदीक्षा का आरोपण करके स्वात्मा का ध्यान करता है। लिंग धारण करने मात्र से मुक्ति नहीं होती, **पूज्यपाद स्वामी** ने भी **समाधिशतक** मे कहा है-

"लिग देह के आश्रित है और देह आत्मा का भव (ससार) कहा गया है। इसलिए जो लिग का आग्रह करने वाले हैं, वे भी ससार से नहीं छूटते है।" अत यद्यपि लिगादि विकल्प निश्चय नय से मुक्ति के कारण नहीं है, तथापि व्यवहार नय से जिनलिंग धारण किये बिना मुक्ति नहीं होती, ऐसा अकाट्य नियम है। ऐसा जानकर व्यवहार मे जिनेन्द्र मुद्रा रूप निर्ग्रन्थ लिंग को धारण कर स्वात्मा का ध्यान करना चाहिए। **पूज्यपाद स्वामी** ने कहा है-

**संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसा।**
**आत्मानमात्मवान् ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितम्।।**

एव कुर्वाणा आराधनाराधका सिध्यतीत्यर्थ ।।११२।।

अथ ये व्यवहारनिश्चयाराधनाया उपदेशका आराधकाश्च तान्नमस्करोमीत्याह-

**आराहणाइ सारं उवइट्ठं जेहिं मुणिवरिंदेहिं।**
**आराहियं च जेहिं ते सव्वेहं पवंदामि।।११३।।**

आराधनाया सारमुपदिष्ट यैर्मुनिवरेन्द्रै ।
आराधित च यैस्तान् सर्वानह प्रवदे।।११३।।

**जेहि उवइट्ठं** यैर्ज्ञातसम्यगाराधनारहस्यै उपदिष्ट आदिष्ट कथित। कीदृशैर्यै । **मुणिवरिंदेहि** प्रत्यक्षज्ञानिनो मुनयस्तेषा वरा गणधरास्तेषामिद्रा स्वामिनस्तीर्थकरास्ते मुनिवरेद्रास्तै मुनिवरेन्द्रै तीर्थकृद्भि । किं उपदिष्ट यै । आराधनाया सार सर्वस्या आराधनाया सार टकोत्कीर्णचित्स्वरूपपरमात्माराधनालक्षण: स उपदिष्टो यैर्मुनिवरेद्रैस्तान् प्रवदे **नमस्करोमि**। न केवल तान् आराधनोपदेशकान् वदे। **आराहियं च जेहि** यैर्मुनिवरेद्रैराराधित द्रव्यभावाराधनासार तान् सर्वानपि त्रिधा नमस्करोमीत्यर्थ ।।११३।।

---

"अपनी इन्द्रियो के समूह का निरोध कर के आत्मा एकाग्र चित्त से अपनी आत्मा के द्वारा अपनी आत्मा मे स्थित अपनी आत्मा का ध्यान करे।"

इस प्रकार बाह्य-अभ्यन्तर २४ प्रकार के परिग्रह का त्याग करके और निर्ग्रन्थ लिंग को धारण कर अपनी आत्मा के द्वारा अपनी आत्मा मे स्थित अपनी आत्मा का जो ध्यान करता है, निर्विकल्प समाधि मे लीन होकर स्वसवेदन ज्ञान के द्वारा अपनी आत्मा का वेदन करता है वही भव्यात्मा वास्तव मे आराधना का आराधक होकर मुक्तिपद को प्राप्त करता है। ऐसा जानकर हे क्षपक ! तुम्हे स्वात्मा का ध्यान करने का प्रयत्न करना चाहिए।।११२।।

अब, जो निश्चय और व्यवहार आराधना के उपदेशक और आराधक हैं उनको नमस्कार करता हूँ, ऐसा आचार्य कहते है-

**जिन मुनिवरो ने आराधना के सार का उपदेश दिया है और जिन्होने आराधना के सार की आराधना उन सर्व मुनिवरो की मैं वन्दना करता हूँ।।११३।।**

जिन प्रत्यक्ष ज्ञानी गणधरो मे श्रेष्ठ तीर्थकर केवली भगवान ने आराधना के टकोत्कीर्ण चित् (चैतन्य) स्वरूप परमात्मा की आराधनारूप आराधना के सार का कथन किया है और जिन्होने जिनेन्द्र द्वारा कथित आराधना के सार की आराधना की है, उन आराधना के सार के उपदेशक और आराधक मुनिवरो को मैं मन-वचन-काय से नमस्कार करता हूँ।।११३।।

स्वाहकारपरिहार विदधान आचार्य प्राह-

**ण य मे अत्थि कवित्तं ण मुणामो छंदलक्खणं किंपि।**
**णियभावणाणिमित्तं रइयं आराहणासारं॥११४॥**

न च मे अस्ति कवित्व न जाने छदोलक्षण किचित्।
निजभावनानिमित्त रचितमाराधनासारम्॥११४॥

**ण य मे अत्थि कवित्तं** मे मम कवित्व व्याकरणविशुद्ध शब्दार्थालकारसमन्वित नास्ति। तथा **ण मुणामो छंदलक्खण किंपि** छद पिंगलाद्याचार्यप्रणीत छद शास्त्र छदश्चूडामण्यादिक न जाने इत्यर्थ। तथा लक्षण व्याकरण जैनेद्रादिक अथवा कवित्वस्य गुणलक्षण न जानामि किचित् स्तोकमपि। यदि न किंचिज्जानासि तर्हि किमर्थमारचितवानसि इत्युक्ते प्राह। **णियभावणाणिमित्तं** निजभावनानिमित्त केवलमात्मभावनानिमित्त आराधनासारो मया व्यरचि कृत निजभावना निमित्तीकृत्य मयायमाराधनासाराख्यो ग्रथो व्यरचि न पुनर्यशोनिमित्त। यदुक्तम्-

**न कवित्वाभिमानेन न कीर्तिप्रसरेच्छया।**
**कृति. कितु मदीयेय स्वबोधायैव केवलम्॥**

यद्यत्र प्रवचनविरुद्ध तदा द्रव्यभावश्रुतकेवलिनो दूषणमपाकृत्य विशुद्धममु ग्रथ कुर्वन्त्विति ब्रवीति-

---

'आराधनासार' के रचयिता देवसेनआचार्य स्वकीय अहकार का परित्याग करते हुए कहते हैं-

**न मुझ में कवित्व है, न मै किंचित् छन्द-लक्षण जानता हूँ, केवल निजभावना निमित्त मैंने आराधनासार की रचना की है॥११४॥**

**देवसेन आचार्य** कहते है कि न मै कवि हूँ, न व्याकरण से विशुद्ध शब्दार्थ-अलकार जानता हूँ तथा पिंगल आदि आचार्यप्रणीत छन्दशास्त्र को और चूडामणि आदि छन्द को भी नहीं जानता हूँ। तथा किंचित् मात्र भी जैनेन्द्रादि व्याकरण वा कवित्व के गुण-लक्षणों को नहीं जानता हूँ।

**शंका** - जब आप कुछ भी नहीं जानते हो तो फिर **आराधनासार** की रचना कैसे की?

**उत्तर** - इसकी रचना का निमित्त निजी भावना ही है। केवल आत्मविशुद्धि के निमित्त ही मैंने इस **आराधनासार** की रचना की है। इस निमित्त से मेरी आत्मविशुद्धि हो, मुझे निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति हो, यही मेरी भावना है। यही कामना है, इसलिए इस **आराधनासार** ग्रन्थ की मैंने रचना की है; ख्याति, पूजा-लाभ के वशीभूत होकर नहीं की है। कहा भी है-

"न कवित्व के अभिमान से मैने इस ग्रन्थ की रचना की है और न कीर्ति के प्रसार की इच्छा से। किन्तु केवल स्वबोध के लिए मैंने इस कृति (ग्रन्थ) की रचना की है"॥११४॥

अब यहाँ पर **देवसेन आचार्य** कहते है कि मैने इस ग्रन्थ में कोई शास्त्रविरुद्ध बात कही हो तो द्रव्यभाव श्रुतकेवली मेरे इस ग्रन्थ की विशुद्धि करे, वे ऐसी प्रार्थना करते है-

**अमुणियतच्चेण इमं भणियं जं किंपि देवसेणेण।**
**सोहंतु तं मुणिंदा अत्थि हु जइ पवयणविरुद्धम्॥११५॥**

अज्ञाततत्त्वेनेद भणित यत्किचिद्देवसेनेन।
शोधयतु त मुनीन्द्रा अस्ति हि यदि प्रवचनविरुद्धम्॥११५॥

शोधयतु त मुनीद्रा भावद्रव्यश्रुतकेवलिन अत स्वसवेदनज्ञानसयुक्ता बहिर्द्वादशागश्रुतरहस्यकोविदा। किं तत्। त। तत् किं। **भणियं जं किंपि** यत्किचित् भणित निगदित **इम इदं** प्रत्यक्षीभूतमाराधनासाराख्य शास्त्र। केन भणित। देवसेनेन देवसेनाख्येनाचार्येण। कथभूतेन। **अमुणियतच्चेण** अज्ञात तत्त्व येन स अज्ञाततत्त्वस्तेन अज्ञाततत्त्वेन। गर्वपरिहारार्थमिद विशेषण न पुनरज्ञाततत्त्व आचार्य, तत प्राचीनसूरयो नितरा गुणिनोपि विगताहकारा श्रूयते। यदुक्तम्-

**सत्यं वाचि मतौ श्रुत हृदि दया शौर्यं भुजे विक्रमे**
**लक्ष्मीर्दानमनूनमर्थिनिचये मार्गे गतौ निर्वृतेः।**
**येषा प्रागजनीह तेपि निरहकारा श्रुतेर्गोचरा-**
**श्चित्रं सप्रति लेशतोपि न गुणस्तेषां तथाप्युद्धताः॥**

---

**यदि अज्ञात-तत्त्व वाले देवसेन ने, इसमे कुछ भी आगमविरुद्ध कथन किया हो तो मुनीन्द्र (ज्ञानीजन) मेरे इस ग्रन्थ की शोधना करे॥११५॥**

अज्ञानी **देवसेन आचार्य** ने प्रत्यक्षीभूत इस **आराधनासार** ग्रन्थ की रचना की है, इसमे किचित् भी आगमविरुद्ध कथन हो तो अतरग मे स्वसवेदन ज्ञान से युक्त और बाह्य मे द्वादशाग श्रुत के रहस्य को जानने मे पण्डित, भाव-द्रव्य श्रुतकेवली मुनिराज इस ग्रन्थ की शोधना करे क्योकि श्रुतकेवली ही इस कार्य को कर सकते है।

इस ग्रन्थ मे आचार्यदेव ने जो अपने आप को अज्ञाततत्त्व कहा है यह विशेषण केवल स्वकीय गर्व का परिहार करने के लिए है क्योकि **देवसेन** अज्ञाततत्त्व नहीं थे, वे छन्द-अलकार सब जानते थे। प्राचीन आचार्य अत्यन्त गुणी होते हुए भी विगत-अहकार होते थे, ऐसा ग्रन्थो मे सुना जाता है। **आत्मानुशासन** मे **गुणभद्र आचार्य** ने लिखा है कि-

पूर्व काल मे वचनो मे सत्यता, बुद्धि मे श्रुत, हृदय मे दया, पराक्रमी भुजा मे शूरता, अर्थिनिचय (अर्थ के इच्छुक) को अनून (अति अधिक) लक्ष्मी का दान और मोक्षमार्ग में गमन जैसे गुण होने पर भी वे इस लोक मे निरहकार थे, अहकार ने उनका स्पर्श नहीं किया था। ऐसा श्रुतिगोचर है, ग्रन्थो मे ऐसा कथन है। परन्तु वर्तमान मे जिनके लेशमात्र भी गुण नही है फिर भी वे अति अहकारी है, गर्व से उन्मत्त हो रहे है।"

पर तदा शोधयतु अत्थि हु जइ पवयणविरुद्ध हु स्फुट यदि चेत् प्रवचनविरुद्ध जिनागमविरुद्ध किंचिन्मया प्रत्यपादि तदा शोधयतु। ये भावश्रुतविरहिता केवल द्रव्यश्रुतावलबिनस्तेपा पुनरिहाराधनासारशोधने नाधिकार । ये परमब्रह्माराधनातत्परास्त एवात्राधिकारिण इत्यर्थ·॥११५॥

इति श्रीदेवसेनाचार्यविरचित आराधनासारः समाप्त ॥

॥ टीकाकारस्य प्रशस्ति ॥

अश्वसेनमुनीशोऽभूत् पारदृश्वा श्रुतावुधे.।
पूर्णचद्रायितं येन स्याद्वादविपुलाबरे॥१॥

श्रीमाथुरान्वयमहीदधिपूर्णचद्रो, निर्धूतमोहतिमिरप्रसरो मुनीद्रः।
तत्पट्टमंडनमभूत् सदनतकीर्ति, ध्र्यानाग्निदग्धकुसुमेपुरनंतकीर्ति ॥२॥

काष्ठासंघे भुवनविदिते क्षेमकीर्तिस्तपस्वी, लीलाध्यानप्रसृमरमहामोहदावानलांभ.।
आसीद्दासीकृतरतिपतिर्भूपतिश्रेणिवेणी, प्रत्यग्रस्रवत्सहचरपदद्वदपद्मस्ततोपि॥३॥

---

**देवसेन आचार्य** कहते हैं - इस आराधना ग्रन्थ मे यदि कोई प्रवचनविरुद्ध कथन किया हो तो भाव श्रुतकेवली इसका सशोधन करे, द्रव्य श्रुतावलम्बी नहीं। क्योकि जो भावश्रुतरहित केवल द्रव्यश्रुत का अवलम्बन लेने वाले है उनको इस **आराधनासार** की शोधना करने का अधिकार नहीं है। जो परम ब्रह्म की आराधना मे तत्पर है वही इस **आराधनासार** की शोधना का अधिकारी है। अर्थात् जो स्वय आराधना के सार का अनुभव कर रहा है, जिसने मानसिक परिणति मे उसे उतारा है, उसका रसास्वादन किया है वही '**आराधनासार**' की शुद्धि कर सकते हैं॥११५॥

**॥ इतिश्री देवसेनाचार्यविरचित - आराधनासार.॥**

**※ टीकाकार की प्रशस्ति ※**

श्रुतसागर के पारगामी अश्वसेन नामक मुनिराज हुए थे। वे स्याद्वादरूपी विपुल आकाश में पूर्णचन्द्रमा के समान आचरण करते थे अर्थात् स्याद्वाद का प्रकाश करने के लिए चन्द्रमा के समान थे॥१॥

श्री माथुर सघ रूपी समुद्र के पूर्ण चन्द्रमा, मोहरूपी अन्धकार के प्रसार के नाशक, समीचीन अनन्त कीर्त्ति के धारक, ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा जलाया है काम को जिन्होने ऐसे तथा अश्वसेन आचार्य के पट्ट पर स्थित अनन्तकीर्त्ति नाम के आचार्य हुए थे॥२॥

लोकविश्रुत काष्ठा सघ मे क्षेमकीर्त्ति नाम के तपस्वी हुए थे। ध्यान मात्र से उत्पन्न होने वाले महामोहरूपी दावानल के लिए जो जलसमूह थे, जिन्होने काम को अपना दास बना लिया था, जिनके चरण-कमलो मे बडे-बडे राजा लोग आकर नमस्कार करते थे, उनके विशाल, प्राप्त उदय (विख्यात) पट्ट

तत्पट्टोदयभूधरेऽतिमहति प्राप्तोदये दुर्जय,
रागद्वेषमहांधकारपटलं संवित्करैर्दारयन्।
श्रीमान् राजति हेमकीर्तितरणिः स्फीतां विकाशश्रियं,
भव्याभोजचये दिगंबरपथालंकारभूतो दधत्॥४॥

विदितसमयसारजोतिषः क्षेमकीर्ति- र्हिमकरसमकीर्तिः पुण्यमूर्तिर्विनेयः।
जिनपतिशुचिवाणीस्फारपीयूषवापी- स्नपनशमिततापो रत्नकीर्तिश्चकास्ति॥५॥
आदेशमासाद्य गुरोः परात्मप्रबोधनाय श्रुतपाठचंचु।
आराधनाया मुनिरत्नकीर्तिष्टीकामिमा स्पष्टतमां व्यधत्त॥६॥

इति प्रशस्तिः।

इति पंडिताचार्यश्रीरत्नकीर्तिदेवविरचिताराधनासारटीका समाप्ता।

---

रूपी पर्वतपर हेमकीर्त्ति नामक सूर्य का उदय हुआ था, जिनकी वृद्धिप्राप्त विकासश्री शोभित थी, जिन्होने भव्य रूपी कमलो को विकसित करने के लिए दिगम्बर मार्ग को स्वीकार कर दिगम्बर मुद्रा धारण की थी, जिन्होने स्वकीय ज्ञानरूपी किरणो के द्वारा रागद्वेष रूपी महा अन्धकार पटल को विदारण किया था॥४॥

जानलिया है समयसार की ज्योति (ज्ञान) को जिन्होने, चन्द्रमा की किरणो के समान उज्ज्वल है कीर्त्ति जिनकी, पवित्र है शरीर जिनका, जिनेन्द्र भगवान के मुख से निर्गत वाणी रूपी विशाल अमृत की वापिका मे स्नान करके शमन किया है मानसिक और शारीरिक ताप को (सन्तापको) जिन्होने, ऐसे रत्नकीर्त्ति नाम के दिगम्बर मुनि हुए थे॥५॥

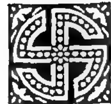
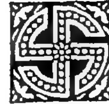
श्रुतपाठ मे चतुर मुनि रत्नकीर्त्ति ने गुरु का आदेश प्राप्त कर परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए और **आराधनासार** की स्पष्टता के लिए इस टीका की रचना की है॥६॥

इति पडिताचार्य श्री **रत्नकीर्त्ति मुनिराज** के द्वारा विरचित **आराधनासार टीका** पूर्ण हुई।

परमपूज्य प्रात स्मरणीय १०८ श्री **आचार्य शांतिसागर महाराज** के प्रथम शिष्य **आचार्य श्री वीरसागर महाराज** की शिष्या **इन्दुमती आर्यिका** की प्रेरणा से वीरसागर महाराज के कर-कमलो से दीक्षित **सुपार्श्वमती आर्यिका** ने इसकी हिन्दी टीका कलकत्ता नगर के चातुर्मास मे लिखी और वीर सवत् २५२१, वि २०५२ मे सावन मास के शुक्ल पक्ष की सप्तमी के दिन पूर्ण की।

❖ ❖ ❖

# गाथानुक्रमणिका

## 卐 आराधनासार की संस्कृत टीका में उद्धृत तथा प्रशस्ति सम्बन्धी गाथाओं और श्लोकों की अनुक्रमणिका 卐

